ya Samaj Foundation Chennai

रचनाकार रामदरश मिश्र

डॉ. नित्यानन्द तिवा
डॉ. ज्ञानचन्द गुप्त

R 29 / 0 3

ain. G... Colle

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

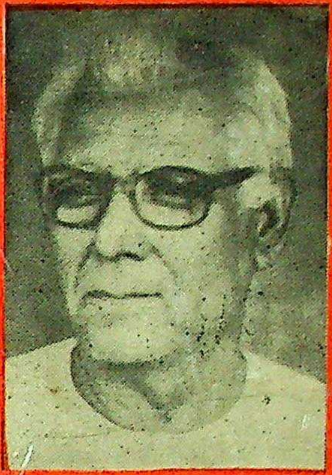

रचनाकार रामदरश मिश्र

सम्पादक

डॉ॰ ... तिवारी • डॉ॰ ज्ञानचन्द गुप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

R
०२९/६

96818

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

96818

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या... 021/ह आगत संख्या .. 96818

पुस्तक— वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित २० वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा १० पैसे के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक

राधा पब्लिकेशन्स्
४३७८/४ बी, गली मुरारीलाल
अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली-११०००२
दूरभाष : ३२६१८३९

प्रथम संस्करण : १९९०

मूल्य : २००.००

मुद्रक :

अमर कम्पोजिंग एजेंसी
शाहदरा, दिल्ली-३२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो शब्द

रामदरश मिश्र हिन्दी के वरिष्ठ कवि, कथाकार और आलोचक हैं। गुणवत्ता और वैविध्य दोनों दृष्टियों से स्वातंत्र्योत्तर रचनाकारों में उनकी विशिष्ट पहचान है। कथा-साहित्य (विशेषकर उपन्यास) और कविता में तो उनका योगदान निश्चय ही महत्वपूर्ण है लेकिन आलोचना, निबन्ध और जीवनी लेखन में भी उनके कार्य को कम करके आंकना 'निहितार्थ' के बिना संभव नहीं।

मिश्रजी के व्यक्तित्व में कहीं कोई दीवार नहीं है। उन तक पहुंचना हर किसी के लिए सहज संभव है। उनका जीवन सहज जीवन है—धरती भेद कर फूटने वाला सहज जीवन, जिसमें भरपूर शक्ति और गति है। वे अब भी युवा हैं। जीने के रस से ही काल को भेदा जा सकता है, इसे वे जानते हैं। इसीलिए खूब जीते हैं। उनके मित्रों की संख्या बहुत बड़ी है, उनकी परवाह करते हैं। उपेक्षा करने वालों की संख्या भी कम नहीं है, उनके बारे में नहीं बोलते।

मिश्रजी की रचनाओं में अपने परिवेश के प्रति गहरा लगाव लक्षित होता है। परिवेशगत अनुभवों को उनकी मानवीय प्रगतिशील दृष्टि इस कलात्मकता से विन्यस्त करती है कि उनकी रचनाएं बिना किसी बड़बोलेपन के सामान्य और अभिशप्त मानव समाज का पक्षधर बन जाती हैं। यही इनकी रचनाओं की पहचान है और यही शक्ति भी।

प्रस्तुत कृति में मिश्रजी के समस्त रचना कर्म के मूल्यांकन का प्रयत्न है। इससे मिश्रजी के रचनाकार व्यक्तित्व को एक साथ पूरा देखना, जानना संभव हो सकता है। सम्पादकों का उद्देश्य फिलहाल इतना ही है।

लेखकों ने जिस उत्साह और तत्परता से हमें सहयोग दिया उसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। अन्त में हम इस पुस्तक के प्रकाशक श्री मुरारी लाल गर्ग (राधा पब्लिकेशन्स) के प्रति आभार व्यक्त करते हैं जिन्होंने बहुत कम समय में इस योजना को साकार करने में हमारी सहायता की।

सम्पादकद्वय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुक्रम

कविता : संवेदना एवं सरोकार

३ समय लिख रही हैं कविताएं
डॉ० चन्द्रकला त्रिपाठी
१६ 'संबंध' और 'सही' का पक्षधर काव्य-विवेक
डॉ० नित्यानंद तिवारी
२७ संवेदना का सहज एवं गहरा सरोकार
विमल कुमार
३७ प्रगतिशील अंतर्दृष्टि एवं रागात्मक निष्ठा
महेश आलोक
४७ अनुभवों के छन्द : गीत
डॉ० हरिमोहन
५४ बातें कुछ अपनी कुछ आपकी : गजल
डॉ० गोविन्द उपाध्याय
६१ सामयिक संदर्भों की दृश्य-योजना
डॉ० प्रेम शंकर
६६ काल साक्षात से जुड़ी हुई आँख : समय देवता
जगदीश नारायण श्रीवास्तव
७६ चुप्पियों की दहशत : बसन्त
डॉ० पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु
८१ अपने समय की समीक्षा है : साक्षात्कार
डॉ० ललित शुक्ल
८६ शेष रास्ते की चुभन : खो गयीं सब यात्रायें साथ की
डॉ० कृपा शंकर सिंह
९४ परजीवी अपसंस्कृति : राजधानी एक्सप्रेस
डॉ० हरदयाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९८ औरत का चेहरा : औरत के बहाने
डॉ० प्रताप सहगल

उपन्यास : परिवर्तन और प्रतिबद्धता

१०७ प्रतिबद्धता का सर्जनात्मक रूप
डॉ० महावीर सिंह चौहान
१२३ अनुभव और मूल्य के बदलते धरातल
डॉ० विवेकी राय
१४२ उमड़ते कथा-प्रवाह के बीच
डॉ० रामदेव शुक्ल
१५१ आंचलिकता और पानी के प्राचीर
डॉ० प्रभाकर माचवे
१५७ यथार्थ का सौन्दर्य जल टूटता हुआ
डॉ० वीर भारत तलवार
१७२ नर-नारी का सहज आकर्षण : बीच का समय
डॉ० प्रेम कुमार
१७६ मूल्य विघटन की त्रासदी : सूखता हुआ तालाब
डॉ० ज्ञानचन्द गुप्त
१८३ सामाजिक अन्तर्विरोधों का सन्दर्भ : अपने लोग
डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी
१९० यातना का विद्रोह : रात का सफर
डॉ० अंजलि तिवारी
१९६ संघर्ष की आवाज : आकाश की छत
डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ
२०२ बदलाव का सही दस्तावेज : बिना दरवाजे का मकान
डॉ० हरजेन्द्र चौधरी
२०८ सहजता से बनी जटिलता की दुनिया : दूसरा घर
डॉ० गंगा प्रसाद विमल

कहानी : परिवेश और आक्रोश

२१५ संवेदना और निर्णय के द्वन्द्व की कहानियाँ
डॉ० नरेन्द्र मोहन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२२५ रामदरश मिश्र की कथा-यात्रा
डॉ० गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव
२३८ सामाजिक परिवर्तन में पात्रों की भूमिका
धर्मेन्द्र गुप्त
२४५ रामदरश मिश्र की लंबी कहानियाँ
डॉ० अश्विनी पाराशर
२५६ भेंट की लाचारी : एक भटकी हुई मुलाकात
डॉ० रघुवीर चौधरी
२६४ मनोविज्ञान का प्रतीकात्मक रचना-विधान : सीमा
डॉ० किरनचन्द्र शर्मा
२६९ अकाल के स्वर : मां, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो
डॉ० ओमप्रकाश गुप्त
२७४ समय एवं समाज का सत्य : सड़क
डॉ० द्वारिका प्रसाद 'चारुमित्र'
२७९ परिस्थितियों के नागपाश में : मिसफिट
डॉ० गोविन्द रजनीश
२८३ अभावग्रस्त लोगों की पीड़ा : मुर्दा मैदान
सुरेन्द्र तिवारी
२९० अभाव की आग : सर्पदंश
डॉ० गुरचरण सिंह

निबन्ध एवं आत्मकथा : संघर्षशीलता और रचनात्मकता

२९७ डार से बिछुड़ने का दर्द : कितने बजे हैं ?
विष्णु प्रभाकर
३०० रचनात्मकता के अन्तःस्रोतों का उद्घाटन
डॉ० मधुरेश
३०९ कवि की यात्रा : तना हुआ इन्द्रधनुष
स्मिता मिश्र
३१२ साक्षात्कार
डॉ० नित्यानन्द तिवारी एवं डॉ० ज्ञानचन्द गुप्त
३२३ जीवन और रचना कर्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता
संवेदना और सरोकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय लिख रही हैं कविताएं

डॉ० चन्द्रकला त्रिपाठी

रामदरश मिश्र की कविताओं के मूल स्वर का जुड़ाव कविता की सतत् विकासशील प्रगतिशील काव्यधारा से है। उनके कवि का उभार 'नयी कविता' के दिनों में ही दिखाई देता है किन्तु नयी कविता को जिस प्रगति विरोधी शिविर के रुप में देखा जाता है, उस शिविर में रामदरश मिश्र की कविताएँ शामिल नहीं है। साहित्य के विकास को एक विशेष सरलीकरण के अन्तर्गत देखने वाले प्रायः प्रगतिशील कविता को १९३६ से १९४३ तक के प्रगतिवाद के भीतर समेट देते हैं और एक स्तर पर इसके बाद प्रचलित प्रयोगवाद और नयी कविता में प्रगतिवादी उद्देश्यों की हानि होते देखते हैं जबकि वस्तुतः ऐसा नहीं है। विशेष ऐतिहासिक कारणों से नयी कविता में कुछ विजातीय तत्वों का प्रवेश अवश्य हो गया था जिन्होंने बड़े हलचलपूर्ण ढंग से सतह पर तात्कालिक उत्तेजना पैदा करने वाली ऐसी चीजें जमाकर दी जिनके कारण इस काव्यान्दोलन की अन्तर्धारा में जीवित और सतत संघर्षशील अग्रगामी काव्य मूल्यों को और उन्हें लेकर चलने वाली कविताओं को अनुपस्थित माना गया। आज जब वह पूरी प्रक्रिया अधिक स्पष्ट होकर हमारे सामने है है तो हम जीवन के सकारात्मक तत्वों से पूर्ण सहमति के साथ खड़ी प्रगतिशील कविता की सतत उपस्थिति पहचान सकते हैं।

सार्वकालिक मूल्यवत्ता में प्रतिष्ठित होने वाला साहित्य भी समकालिक प्रभावों और प्रवृत्तियों के प्रति संवेदनशील होता है। इस संवेदनशीलता के नाते से ही परिवर्तनशील जीवन के सापेक्ष साहित्य, कला या संस्कृति में जारी परिवर्तन का औचित्य समझ में आता है। प्रगतिशील कविता की जीवन से निकटता का तर्क बहुत मानवीय रहा है। इसके अविकल प्रवाह की ऊर्जा का स्रोत "अनन्त जीवन" की द्वन्द्वात्मक गतिमानता है। इस अनन्त जीवन को मुक्तिबोध ने रेखांकित किया है। वे कलाकार या रचनाकार में इस अनन्त जीवन के विकास और पुनर्रचना के लिए गहरी तड़प अनिवार्य मानते हैं। इसी प्रक्रिया में रचनाकार को अपना आत्म-विस्तार प्राप्त होता है और वह जीवन और साहित्य की स्वाभाविक धारावाहिकता में शामिल विध्वंसक और विजातीय तत्वों से सही लड़ाई लड़ पाता है। साहित्य की इस अनवरत जारी प्रगतिशील परम्परा ने अनेक नाम कमाये हैं, इनमें त्रिलोचन,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह एवं रामदरश मिश्र के साथ-साथ मुक्तिबोध और राजकमल चौधरी का उल्लेख किया जा सकता है। मुक्तिबोध और राजकमल चौधरी को यहां इरादतन कुछ फर्क तरीके से लिया गया है। मुक्तिबोध का कवि प्रगतिशील काव्यमूल्यों एवं जीवन के बहुस्तरीय, बहुकोणीय एवं अन्तर्विरोध-पूर्ण जीवन को समझने के प्रति सर्वाधिक आगाह, गम्भीर और ईमानदार रहा है किन्तु बहुत दिनों तक एक नीच ट्रेंजेडी का शिकार भी रहा है। नयी कविता द्वारा जारी अवरूद्धता और नकलीपन से सच्ची लड़ाई मुक्तिबोध ने ही मोल ली और मुक्तिबोध ही हैं जिसके कारण हम प्रगतिशील काव्य-परम्परा में किसी प्रकार के गत्य विरोध से इन्कार कर सकते हैं यही नहीं अपितु मुक्तिबोध ही हैं जो रुक्ष और अकलात्मक प्रगतिवादी कविताओं के निष्प्राण सीमित संसार का विरोध करते हैं और मनुष्य के जीवन की भीतरी सच्चाइयों को कविता में जगह देने का सशक्त तर्क रखते हैं। इस कर्म में अनेक ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनके द्वारा उनके हरदम तैनात योद्धा व्यक्तित्व की ताकत समझ में आती है किन्तु यह भी सच है कि प्रगतिशील समीक्षकों को बहुत बाद तक मुक्तिबोध की ताकत का अन्दाजा नहीं था।

प्रगतिशील कवियों के इस क्रम में राजकमल चौधरी का नाम लोगों को चौंका सकता है क्योंकि उन्हें बहुत पहले अकविता के खाते में डाल दिया गया है। राजकमल चौधरी नयी कविता की पतनशील काव्य रुढ़ियों पर पूरी तेजस्विता के साथ हल्ला बोलते हैं तथा मानव विरोधी साम्राज्यवाद सामन्तवाद और कुटिल पूंजीवाद के घृणित गठजोड़ से बीमार हो चले देश की नब्ज पकड़ते हैं। अकविता के अन्य कवियों में जो निरर्थक रुग्णता, व्यक्तिवादी अन्तर्मुखता और विलक्षण प्रकार का कवि साबित होने के प्रति जो सायासता दिखाई देती है वह राजकमल चौधरी में नहीं है।

श्रीकान्त वर्मा ने स्वीकार किया कि १९६० से १९७० के बीच वे युग के मोह भंग, भाषा स्खलन ओर अवसाद से आक्रान्त थे। यही निराला की उस 'मारण रजनी' का फैलाव है और फैसला भी कि—"मगर खंजड़ी न गई।" यही दौर अकविता के मारक अस्वीकार का है और लगभग यही दौर रामदरश मिश्र के नये कवि के उन्मेष की शुरुआत का भी है। १९५१ में उनके आरंभिक गीतों का संग्रह आ चुका था 'पथ के गीत' नाम से। सन् १९६२ में उनका नयी कविता का प्रथम काव्य संग्रह 'बैरंग बेनाम चिट्ठियां' प्रकाशित हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस संग्रह की कविताएं इससे पहले ही लिखी गयी होंगी। ठीक उस दौर में जब संवेदनशील कवियों के सामने निर्मम कविता विहीन दिवस, लय विहीन दुनिया, आत्मा की विज्ञप्ति खामोशियां आदि पूरी भयानकता से सिर उठा रही थीं और वक्त के ये अजनबी चेहरे रामदरश मिश्र के कवि की भी परीक्षा थे। यूं उनके लिए आसानी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी थी कि वह तब तक नयी कविता की पर्याप्त भव्य हो चली कवित्वमयता की ओर चला जाता या राजकमल चौधरी की कमाई पर पल रहे अकविता के तमाम कवियों के साथ हो लेता। किन्तु उससे ऐसा नहीं हो सका, क्योंकि वह जीवन बोध की अधिक सर्जनात्मक पूंजी साथ लेकर चला था, सुदामा के चावल की तरह गांव की वह मिट्टी जिसमें उस योद्धा खेतिहर का हठ बसा हुआ था जो हर साल में बंजरों-ऊसरों से लड़ता है, कभी हार नहीं मानता। रामदरश मिश्र का कवि समय के इस विद्रूप चरित्र से आक्रान्त नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, मगर समय की गांठे सुलझाने की उसकी अपनी विधि है। जीवन को उसके वैविध्य, विस्तार और गहराई में पहचानने का अपना विवेक भी। जीवनानुभवों की जीवित गहराइयों में उतर कर उसे उसके अभिप्रेत अर्थ में उभारने के लिए भाषा के स्तर पर एक जोखिम भरी लड़ाई लड़नी पड़ती है। रामदरश मिश्र ने भी यह लड़ाई लड़ी है। इस लड़ाई के प्रति उनकी गम्भीरता और सजगता को 'बैंरंग वेनाम चिट्ठियां' में आसानी से पहचाना जा सकता है क्योंकि इस संग्रह की कई कविताओं में यह अतिरिक्त रुप से उभर आयी दिखाई देती हैः—

"सर्द निस्तब्धता में
भय से कांपते हुए ये फूल
बाबी में बन्द सर्प-सी राहें
बोरे में कसे हुए कागज-सी
घर में बन्दी यात्राएं
कफ के रोगी जैसी
घर्घर सांस खींचती रुद्ध हवाएं
टाइफाइड-सी घूरती घटाओं में कराहता चांद"।[1]

कवि यहां विरूप परिवेश को उभारने वाले मुहावरों को पूरी बेचैनो से खोज रहा है, बात बनती है और नहीं भी बनती है, क्योंकि आशय पर उपमानों के अनवरत सिलसिले छा जाते हैं। यहां तड़प सिर्फ समय का सच लिखने के प्रति नहीं है, अपितु अकविता के उभारदार और नयी कविता के रूढ़ मुहावरों से अलग एक नया मुहावरा तलाशने की भी है। कुछ दूर तक उसके मुहावरों में रचाव की सायासता अलग से नजर आती है, मगर जल्दी ही वह अपनी सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति शैली तलाश लेता है। 'शरद के बादल' शीर्षक इसी कविता का उत्तरार्ध अधिक संयमित और सर्जनात्मक है। वह लिखता है :—

१. रामदरश मिश्र : बैरंग बेनाम चिठ्ठियाँ, पृ० ६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मैं ये सब देख रहा हूं
ओ शरद की स्वच्छ धरती पर
मैली छांह उगलने वाले
असमय खूसट दम्भी बादल
तुम्हें क्या पता कि
स्कूल जाते हुए छोटे-छोटे बच्चों की तरह
किरणों का एक झुण्ड
तुम्हें वहां से तोड़ रहा है।"[1]

अपने इस हिस्से में यह कविता अधिक गहरी और अभिप्रायपूर्ण हो उठती है। कवि यहां वास्तविकता की सहज मुद्राओं से उपमान खोज रहा है। विचित्र लगता है कि एक ओर जहां उसके ग्राम्य जीवनानुभवों की समृद्धि उसे अधिक मार्मिक सहजता देती है वहीं वह नगरीय-महानगरीय जीवन स्थितियों का भी सर्जनात्मक इस्तेमाल कर लेता है—'स्कूल जाते हुए छोटे-छोटे बच्चों की तरह किरणों का एक झुण्ड' जैसे प्रयोगों की गहरी अर्थवत्ता बनती है। कविता के इस अंश में वह क्रान्तिकारी चमक भी दिखाई देती है जो उसके बाद के संग्रहों में अधिक प्रौढ़ होती जाती है। 'बैरंग बेनाम चिट्ठियां' पत्ते की तरह अनकहे दर्द के साथ कांपती हुई उसकी तलाश में है 'जो' उनका मजमून पढ़ कर तड़प उठेगा। यहां कवि का बाहरी वास्तविकताओं से वह ईमानदार सरोकार भी दिखाई देता है, जिसके द्वारा कवि की कविताएं संवेदनात्मक फैलाव को प्राप्त होती हैं। प्रगतिशील कविता के स्वभाव के अनुरूप कवि का सामाजिक अंश बहुत सक्रिय है, किन्तु कट्टर प्रगतिशीलों की तरह वह अपने निजी अन्तरंग अनुभवों को कविता में तानने से संकोच नहीं करता। यह खुलापन ही उसे अनेक आत्मीय मुहबोली कविताओं की सृष्टि तक ले जाता है और संवेदनशीलता की इसी ताकत से वह गीत भी लिखता है। समकालीन वास्तविकताओं के बेरंग स्वरूप के साथ गीत की पटरी बैठाना एक बहुत मुश्किल काम है। बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, शमशेर आदि के प्रयोग गीतों और गज़लों की उस शर्त को प्रायः मानते दिखाई देते हैं जिसके अन्तर्गत गीत विशिष्ट मानवीय भावबोध का गरिमामय स्वरूप लिखते थे। सावन के झूले, बसन्त के फूल, नदियों का प्रवाह, चांदनी का चमकीलापन, यानी स्वप्न और कल्पना की अद्भुत चाशनी में पके विशिष्ट अनुभव-वृत। इन गीतों और गज़लों को जीवन के यथार्थ से सीधे उभरे मुहावरों में व्यवस्थित करना जोखिम भरा काम था। किन्तु गीत रामदरश मिश्र की प्रिय विधा है। उनके गीत छायावादी शैली से अलग जीवन के यथार्थ के हर रंग के साथ होते हैं और यथार्थ का उनके भीतर होना कहीं भी अकाव्यात्मक या

---

१. रामदरश मिश्र : बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ, पृ० ९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असंगत नहीं लगता। सम्भवतः समकालीन कविता की सबसे बड़ी कठिनाई जीवन के गद्यात्मक यथार्थ की काव्यात्मक पुनर्रचना है। कवि जिस भाषा में जीता है, जिस भाषा में अनुभवों को भोगता है, काव्यानुभव प्राथमिक स्तर पर उसी भाषा में रूप ग्रहण करते हैं। यदि इस प्रकार के अनुभवों से घनिष्ठता में कवि से जरा सी चूक हो जाती है तो कविता के स्तर पर ये अनुभव उस रूप में कदापि स्फूर्त नहीं हो पाते, जिस रूप में उनकी आन्तरिक आंच व्यक्त होती है। जीवनानुभवों से गहरी निकटता, रचना प्रक्रिया के दौरे में इन अनुभवों का सचेत ढंग से रचनानुभवों में बदलना और कविता के रूप में अभिव्यक्त होने के स्तर पर वह पूरा फैलाव पा लेना जो फैलाव स्वयं कवि के भीतर होता है, एक गम्भीर काव्य सर्जक से ही सम्भव हो पाता है। जीवनानुभवों से गहरी निकटता कवि के अधिकाधिक मुक्त व्यक्तित्व पर निर्भर करती है, अर्थात् चीजों के प्रति उसकी निर्कुण्ठ आत्मीयता पर। यह निर्कुण्ठ आत्मीयता जहां एक ओर मानवीय संवेदनशीलता की मांग रखती है वहीं दूसरी ओर प्रौढ़ रचना विवेक की भी। रामदरश मिश्र का कवि कविकर्म की इस चुनौती से लगातार टकरा रहा है।

'बैरंग बेनाम चिट्ठियां' में कवि का 'मैं' एक खासपन में उपस्थित हैं और ज्यादातर कविताओं में भावनात्मकता की ओर झुकी हुई आत्मीय ऊष्मा है। कवि इस संग्रह की ज्यादातर कविताओं में समकालीन परिवेश में मनुष्य होने और मनुष्यता के प्रति प्रतिबद्ध होने से उपजी बेचैनी और पीड़ा के कई रंग लिख रहा है। नयी मशीनी संस्कृति आदमी के भीतर की जिस चीज को तेजी से खत्म करती जा रही है, कवियों को उस चीज की चिन्ता है। जीवन की सहज नैसर्गिकता पर कहर बन कर टूटती थकान का अवसाद 'आत्म शोध' में कवि से यह लिखवाता है—

"चांदनी यह
जो बिखरती थी जवानी की फसल पर डहडही हो
ढारती थी अमृत झर-झर पुष्प शैशव पर
आज——
बन्द आफिस में
मेज पर माथा झुकाये
थकी सी मुस्कान रह-रह बेचती है
मैं नहीं हूं।"[1]

---

१. रामदरश मिश्र : बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ, पृ० ६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रामज शब्दों का यह सर्जनात्मक सौन्दर्य कवि की अपनी कमाई है, अज्ञेय के "टटकीकली चम्पे की वगैरह" से बिल्कुल भिन्न। यह कविता न केवल वक्त के अमानवीय बदलाव को सूचित करती है, अपितु आदमी और आदमी के रिश्ते पर छाती जा रही थकान का सबब भी बताती है। 'आत्म शोध' नामक इस महत्वपूर्ण कविता की और भी कई महत्वपूर्ण मुद्रायें हैं और यहां कवि का 'मैं' लगातार उपस्थित है, मगर यह एक संवेदनशील 'मैं' है जो आदमी के विरुद्ध जाते समय का त्रास भोग रहा है और कह रहा है। वक्त के जहरीले दबावों में पिस रही ज़िन्दगी की कान्तिहीनता का दस्तावेज है 'आत्मशोध'। यहां कवि की बेचैनी कुछ तलाशने के प्रति भी है, किन्तु यह तलाश सिर्फ उसके अपने 'मैं' की नहीं है, बल्कि एक सर्वथा अपरिचित और अनात्मीय माहौल में खो गयी अनुष्य मात्र की स्वस्थ, उजली और कुछ भी कर गुजर जाने वाली मुस्कान की तलाश है।

कवि में प्रारम्भ से ही ज़िन्दगी की सहज नैसर्गिकताओं के लिए तड़प है। कविताओं में यह तड़प भरा-पूरा मानवीय आशय जीने और कहने की बेचैनी के रूप में व्यक्त हुई है। अक्सर इन कविताओं से कुछ अनकहा भी रह जाता है, तब वे कुछ संकेत छोड़ती हैं जैसे :—

"औ" अंधेरे में धंसा वह व्यक्ति
जो
आंखों में कसे
टूटा हुआ, बिखरा हुआ परिवेश
दूर से आते हुए
एक नन्हें ज्योति पग शिशु को कभी से देखता है
मैं नहीं हूं ?"[1]

यही अन्तर है श्रीकान्त वर्मा और रामदरश मिश्र में। लय विहीन दुनिया, बिखरे-बिखरे मकानों से वहां कवि अवसन्न है, किन्तु रामदरश मिश्र के यहां खूसट दम्भी बादलों को तोड़ने वाली किरणें भी हैं और 'दूर से आता हुआ नन्हा ज्योति पग शिशु' भी। दोनों जगह यह शिमु भविष्य है। यही 'शिशु' निराला के यहां रोता है—'रोता है बालक निष्कारण', यही शिशु मुक्तिबोध के यहां भी है। इसे हम रामदरश मिश्र की भविष्य के प्रति अतिरंजित मुग्धता कह कर काम नहीं चला सकते। यही उनके कविताओं की ताक़त हैं जो लगातार खौफ़नाक होते समय के समानान्तर और धारदार होती गयी है।

---

१. रामदरश मिश्र : बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ, पृ० ८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि वैषम्यमूलक त्रासद परिवेश की सर्द निस्तब्धता से इसलिए टकरा रहा है कि उसे भय से कांपते फूलों की चिन्ता है। वह इनके फलने-फूलने के लिए सुरक्षित सदाबहार मौसम चाहता है। उसकी इन्हीं चाहतों को उसकी कवितायें हाथ-पैर देती हैं। प्रारम्भिक कविताओं में भविष्य के प्रति व्यक्त मानवीय शुभा-कांक्षा बाद के संग्रहों में संघर्षशीलता का संकल्प बनती जाती है। 'रात और सुबह' में वह देखता है कि रात के अराजक बीमार ठहरे हुए बिखराव को सुबह तोड़ रही है। जीवनानुभवों की गहराइयां कवि को इस आस्था को बोलने के अनेक मौके देती हैं। इसी संग्रह की 'शाम' शीर्षक लम्बी कविता में कवि फिर लिखता है :—

"ओ शाम !
नहीं मेरी यह विवश असहायता जीवित सदा को
अभी बीमार हूं तो क्या
उठूंगा एक दिन
तब सुबह की ताजा हवाएं
खुशबुओं से मुझे धो देंगी
खुली हरियालियां मुझको पुकारेंगी
शेष तुम रह जाओगी बस एक काली याद" ।[1]

यह सच है कि इस संग्रह की तमाम कविताओं में चुप्पियां, उदासियां, सन्नाटा, अकेलापन, टूटन, तड़पन, रोना-धोना, असंवादी दूरियां आदि लगातार उपस्थित हैं, किन्तु कवि इनका भारीपन महसूस करता हुआ भी इनसे हारा हुआ नहीं है। 'आत्म और आत्मेतर' का रिश्ता लगातार एक रोमानी आदर्शवाद में निभाया गया हो, ऐसा भी नहीं है। एक निम्न मध्यवर्गीय 'मैं' को उसकी सीमाओं में अनेक बार देखा गया है—

"मेरे कमरे के सामने
परछाईं की तरह ठिठक गया है
एक खामोश अजनबी
पुस्तक में धंसी ये आंखें
टकरा जाती हैं एक पल को
उसकी व्यथा से भीगी आंखों से
कहीं कुछ मांग न बैठें
फिर पुस्तक में धंस जाती हैं

१. रामदरश मिश्र : बैरंग बेनाम चिट्ठियां, पृ० २९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शायद वह खड़ा है अभी भी
मैं कमरे का लौह-द्वार बन्द कर लेता हूं।"[1]

मानवीय अन्तर्द्वन्द्वों की ये ईमानदार मुद्राएं यहां कई रूपों में व्यक्त हुई हैं। वैसे कवि का सर्वाधिक तीव्र सगापन देहाती बिम्बों, हरियालियों, ऋतुओं और प्रकृति की रंगीनियों से है। कवि की कविताओं में इनके प्रवेश से विसंगत यथार्थ की विरूपता अपने पूरे गाढ़ेपन में व्यक्त हो जाती है। प्रकृति से इस गहरी निकटता के कारण कई बार कवि छायावाद द्वारा कमाये गये शब्दों को दुहराता है जैसे तिमिर, ज्योतिधारा तम, तम छायायें, सुरभि, दूर्वा, ज्योतिपट, ज्वार, अम्बर आदि। मगर इन भव्य शब्दों के निकट जीवित यथार्थ के खुरदुरे बेलाग शब्दों को स्थान देकर वह अपनी अभिव्यक्ति को छायावादी अवरुद्धताओं से अलग अच्छा सर्जनात्मक रंग देता है। इस प्रकार का शिल्प अधिक निर्भय और बेलाग शिल्प है, क्योंकि स्वाभाविक रूप से शब्दों में अपने निकट के शब्दों के प्रति एक साहचर्यात्मक मांग हुआ करती है, किन्तु कवि ऐसी मांग के प्रति सदय नहीं है, वह लिख लेता है :—

"यह वही जंगला—
जहां से बार-बार बसन्त झर कर
उधर कोने में पड़े
खाली कनस्तर में गया है डूब।"[2]

वस्तुतः कवि की दृष्टि में समकालीन वस्तु सत्य है न कि शब्दों के चमकीलेपन के प्रति किसी प्रकार की मुग्धता।

'पक गयी है धूप' (१९६९) में कवि के जीवनानुभव अधिक पक कर निखरते हैं और युग बोध के प्रति उसकी संवेदनशीलता का अधिक वयस्क रूप सामने आता है। इस संग्रह की ज्यादातर कविताओं में दूर तक 'मुरदों के बीच जीवित होते' की यातना से उपजे अवसाद का स्वर सुनाई पड़ता है। यह अवसाद उस भाव भरे इन्सान का अवसाद है, जो ज़िन्दगी के सही मानवीय चेहरे को तलाश में निकलता है और यहां-वहां मुखौटों की भीड़ में घिर जाता है। रास्तों में उसे खौफनाक अंधेरे, बबूल के जंगल, अजनबी शक्लों वाले बहशी लोग और मनहूस रेतीले मैदान मिलते हैं। यहीं कहीं अमलतास और रेती में थरथराती अनामा नदी भी है, किन्तु अजनबी चीजें अपना ज्यादा गहरा और आतंकपूर्ण असर रखती है। यहीं कवि आत्मा और आत्मेतर के बीच की असंवादी दूरियों से भी टकरा रहा है। लिखता है—'मेरे और झील के बीच दहाड़ने लगती हैं अनन्त दूरियां——[3] युग

१. रामदरश मिश्र : बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ, पृ० ५१
२. रामदरश मिश्र : बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ, पृ० १७
३. रामदरश मिश्र : पक गई है धूप, पृ० ११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चरित्र की भयावह विकरालता उसके कमजोर सेतुओं को बार-बार तोड़ जाती है। वह अपनी जड़ों को पोसने वाले रस से शक्ति मांगता है, किन्तु कृत्रिम सभ्यताओं के ठहराव में थका हुआ बसन्त उसे और थका देता है। बन्द गलियों में धंस कर छटपटाती हवाओं की पीड़ा उसे दुःखा जाती है। अलग-अलग बंटी हुई गलियों, रेती सी मुस्कराहटों, उपरीपन में बसायी गयी खुशबुओं में बेजान पड़े शब्दों, उदास बीमार दोपहरियों, आत्मीय परस्परता को तोड़ने वाली निर्दयी हवाओं, ठस्स पड़े मकानों, अंधे जल की तलहटी में डूबे हुए रास्तों का जहर जीने वाले समय की नसों में जमी हुई यंत्रणा 'पक गयी है धूप' की कविताओं में पक रही है। अमानवीय हो चले समय की ये अपरिचित मुद्राएं कवि को हिला जाती हैं और वह निरन्तर इन सिलसिलों द्वारा सताया जाकर भी विपरीतताओं के खिलाफ खड़ी होने वाली ताकतों को तलाशता रहता है। यहीं उसे आंधियों से लड़-लड़ कर तिनके बटोरते बच्चे मिल जाते हैं। कवि की भविष्य निष्ठा को आधार मिलता है और अभिशप्त अंधेरों की निर्विकल्पताओं से वह नये साहस के साथ टकराता है। यहां रात के आंगन से अंधकार की तमाम तहों को तोड़ता प्रकाश बाहर जाने की प्रक्रिया में है।

'कंधे पर सूरज' (१९७०) में भी विपरीत समय के अराजक क्रूर दबाव कायम हैं। जंगल, बर्फीला सन्नाटा, और सब कुछ निगल जाने वाला भयावह खालीपन यहां भी बना हुआ है, किन्तु यहां कवि में इनके विरोध की अधिक तेजस्वी मुद्रा निखरती है। अपने संवेदनशील 'निजी' के प्रति कवि की सजगता धीरे-धीरे संक्रान्त जटिल स्थितियों को जानने की समझदारी बनती जाती है—'बन्द कमरों में बैठकर/कब तक प्रतीक्षा करोगे बसन्त की ?/ सुनो / बसन्त लोहे के बन्द दरवाजों पर हांक नहीं देता /, बाहर निकलो / देखो / बन्द दिशाओं को तोड़ती धूल भरी हवाएं बह रही हैं / उदास लय में झरते चले जा रहे हैं पत्ते / आकाश में लदा हुआ लम्बा-सा सन्नाटा / चट्टान की तरह यहां-वहां दरक रहा है / एक बेचैनी लगातार चक्कर काट रही है / सारे ठहरावों के बीच जमी हुई आंखें अपने से ही लड़ती हुई / अपने से बाहर आना चाहती है।[1]

इसी क्रम में 'दिन एक नदी बन गया' में समय की सच्चाइयों की तहों में काम करने वाली चीजों को कवि पहचान रहा है। वह साफ-साफ सुनहरी कुर्सियों की जादूगरी समझ लेता है। इस समझदारी के साथ ही उसके भीतर गहराता रातों, कुहरों, जंगलों और सांपों का डर खत्म होने लगता है और वह लिखता है—'रात रोशनी की चाह है / आओ, इसे कोसे नहीं / केवल अपनी आंखें खुली रखें[2] इन

---

१. रामदरश मिश्र : कंधे पर सूरज, पृ० ९५

२. रामदरश मिश्र : दिन एक नदी बन गया, पृ० २९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताओं में भ्रष्ट व्यवस्था से विरोध और विद्रोह की सर्जनात्मक मुद्राएं निखरती हैं—"हर एक की टोपी के नीचे एक गिद्ध छिपा है / हर एक दूसरे के गिद्ध को ललकारता है / और सबके गिद्ध मिलकर बस्ती पर मंडरा रहे हैं——"

आओ अब हम एक दूसरे को आवाज दें / और सारी आवाजों को बुनकर / एक बड़ी सी आवाज बना लें ।[1]

मैत्रीपूर्ण संगठित परस्परता का यही विश्वास 'जुलूस कहां जा रहा है ?' में और प्रगाढ़ होता है—पुकारो / एक बार फिर पुकारो⋯हालांकि वक्त की खूंखार आदतें बदली नहीं हैं । सभ्य काफिलों के बूटों की हृदयहीन कीलें रास्तों और खेतों को घायल कर गयी हैं और अंधेरा पहले से भी ज्यादा बढ़ गया है, मगर कवि को दोस्तों के भीतर जीवित 'आंचों' का विश्वास है । इन्हें जोड़ कर एक बड़ी सी मशाल जलाने की व्याकुलता में इन्हें बार-बार पुकारता है । 'दिन एक नदी बन गया' में भी उसे मनुष्य की संघर्ष क्षमता का भरोसा है इसलिए वह किसी नये फूल का इन्तजार करता है । 'जुलूस कहां जा रहा है ?' में वह एक स्तर पर इन निष्फल प्रतीक्षाओं की पीड़ा से टकरा रहा है । दूसरी तरफ जन की अपराजेयता में अपनी निष्ठा को वह किसी तरह सींच रहा है । इस प्रक्रिया में इतना अवश्य हुआ है कि अब वह जमीन से जुड़ी लड़ाइयों के भीतरी टकरावों से उभरते परिणामों को विश्वासपूर्वक देख रहा है तथा समस्त भविष्य के लिए फूलों और बच्चों के सहारे रोमानी निर्णय गढ़ने के अपने मोह को वह निर्ममता पूर्वक तोड़ता है । धीरे-धीरे लोकराम जैसे लाखों-करोड़ों लोगों में उसका विश्वास घना होता है—

'आज एकाएक वह चौंक गया / एक नंगे आदमी की तनी हुई आंखें / उसे देख कर मुस्करा रही रही थीं / और कोई / नुकीली चीज उसके भीतर धंसती जा रही थी / उसने मुस्कराने की वहुत कोशिश की / लेकिन मुस्करा नहीं सका / आज उसे पहली बार डर लगा था ।[2]

इन सारी कविताओं को एक साथ रख कर देखने पर यह बराबर लगता है कि रामदरश मिश्र की कविताओं का अपना व्यक्तित्व है, तीव्र भावनात्मक व्यक्तित्व, जो अपने पाठकों से एक खास तरीके का लगाव कायम करता है । चीजों को उनकी सप्राण स्वाभाविकता में ग्रहण कर स्पष्ट सहजता में व्यक्त करने की ताकत कवि को अपनी जमीन से मिलती है, उस जमीन से जिसके भीतर उसकी जड़ें बहुत दूर तक गयी हैं और जिसका रस उसके रेशे-रेशे में रचा हुआ है । उनका कविकर्म निर्दोष जीवनलय पर सजना चाहता है । इसीलिए उसकी प्राथमिकताएं नैसर्गिक जीवन के

---

१. रामदरश मिश्र : दिन एक नदी बन गया, पृ० ४२

२. रामदरश मिश्र : जुलूस कहाँ जा रहा है ?, पृ० ५६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रति बार-बार बहुत ललक कर उभरा करती है और प्रकृति के सस्पन्द लयात्मक उपकरण कविताओं में कुछ इस तरह आते हैं कि कवि में गहरे धंसे 'नास्टेल्जिया' की अनुगूंजे सुनाई देती हैं। 'पेड़ जब एक जीवित संगीत हुआ करता था, दस्तकें जब संगीत हुआ करती थीं', जैसे दिनों के प्रति अपनी मुग्धता कहने के साथ-साथ वह हवाओं के सेतु बांधने वाले फूलों की आवाजों को, पंख पसारने वाले सपनों को, आदमी के भीतर के हरेपन को, बौर की आहट लिए अमराइयों की गुनगुनाती गमकती सुगन्धों को ज़िन्दगी में बार-बार खोज रहा है। हर बार इनकी नामौजूदगी उसे व्यथित करती है। वह भीतर के रस से रचे-बसे आत्मीय को तलाश रहा है, जबकि वक्त अपने तेजाबी ज़हर में आदमी के भरपूर खिलाफ तना हुआ है। लोग लेटर बक्स में अलग-अलग दिशाओं को जाने वाली चिट्ठियों से अलग-थलग पड़े हैं और अपनों के लिए छटपटाते कवि से एक घातक सवाल टकराता है—'अपना ? । इस जमाने में—।' यह सवाल समय की निष्ठुरता के चलते एकाकी पड़ गये प्रत्येक आदमी के भीतर मथ रहा सवाल है जो आज की असामाजिक सामाजिकता के ज़हर से पैदा हुआ है। हर आदमी के भीतर अकुलाती मित्रविहीनता इस कविता को सही बनाती है।

मनुष्य और उसके समाज की त्रासद विडम्बनाएं रामदरश मिश्र की रचनाशीलता के लिए करुणा का आधार भाव बुनती हैं। इसी करुणा के असर में कवि की प्रारम्भिक कविताएं गहरी मानवीय उदासी में ढलती हैं और यही करुणा धीरे-धीरे वयस्क वेदना का रूप ले लेती है। रामदरश मिश्र की यह वेदना समय की जहरीली गांठों को टोह रही है, उनसे टकरा रही है। उनके यहां यह वेदना साफ-सुथरे भविष्य के प्रति आस्था से पूर्ण है। इसके कारण ही मनुष्यता को पांव रखने योग्य जगह मिलती है—"माली / फूल पर फूल को क्या फेंकना / मुझे तो तुम किसी तपते पत्थर पर फेंक देना / शायद उसका ताप कुछ कम हो जाय / दर्द को झांकने के लिए" ।[1]

इस वेदना में सन्नाटे का जंगल काटने की बेचैनी पलती है। यह वेदना कवि को उसके निजी की संकीर्ण गहराइयों में नहीं उतारती, बल्कि निरन्तर एक उदात्त खुलापन सौंपती है। इसके विवेक से कवि वस्तु के साथ-साथ स्वयं को भी जांचता चलता है—"सभ्यताओं की छांह लाये / किनारे पर चुपचाप खड़ा मैं / ख्यालों में तरता रहा / नंगा होने से डरता रहा" ।[2]

---

१. रामदरश मिश्र : जुलूस कहाँ जा रहा है ? पृ० ३१

२. रामदरश मिश्र : जुलूस कहाँ जा रहा है ? पृ० २५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि को आदमी के भीतर कृत्रिमतापन पाने वाला शहरीपन बहुत खतरनाक लगता है। नागरिक समाज की गुमसुम परस्परता पर वह कड़ी नजर डालता है। मनुष्य के भीतर की सूख रही तरलता उसे जब-जब डराती है वह फलों और फसलों में बदल जाने वाले बीज की जिजीविषा के सहारे उबरता है। खत्म हो चुके लोगों की पैशाचिक आदतों का भारी पड़ना वह आवारा पशुओं और मौसमों से अनवरत लड़ रहे बीज में अपने विश्वास के कारण सह जाता है और उन काली आंधियों को बहुत भरोसे के साथ देखता है जो इतिहास के खूनी पन्ने पलटती हैं।

कवितात्मक वजन की दृष्टि से 'दिन एक नदी बन गया' और 'जुलूस कहां जा रहा है ?' की कविताओं का पलड़ा बराबर है। इन कविताओं के भीवर कवि दूर-दूर तक फैली दुनिया कीं परस्पर गुम्फित अनेकस्थरीय सच्चाइयां निभाता है और उन्हें भीतरी उलझावों में न ले जाकर स्पष्ट मुखरता में साधता है। ये तमाम सन्दर्भ कवि की निश्चित वैचारिकता में आकार लेते हैं। समकालीन यथार्थ पर स्फुट टिप्पणी करने की अराजकता कवि में नहीं दिखाई देती और न ही अस्थिर किस्म की मानसिक प्रतिक्रियाओं के लिए उसकी कविता में कोई जगह है। कविताएं अपनी पूरी काव्य प्रक्रिया के साथ कवि के जीवित अन्तः संघर्षों के साथ पकती-पलती और व्यक्त होती हैं। इसी ईमानदारी के कारण उसकी कविताओं में सम-कालीन कविताओं का बहु प्रशंसित बौद्धिक ठण्डापन अनुपस्थित है। उसके स्थान पर तेज असर ऊष्मा मिलती है जिसका ताप जीवित संघर्षों का ताप है। जीवन की स्वाभाविकता से दूर निभाये जा रहे पेंचदार कविकर्म के प्रति कवि का झुकाव बिल्कुल नहीं है। उसके यहां कविता का जन्म ठीक उस तरह होता है जिस तरह पुराकथाओं में प्रभु का जन्म होता है। अपनी जीवित उपस्थिति से कविता ठीक उसी तरह मुक्त करती है, जिस तरह एक व्यापक गम्भीर सत्य का बल मुक्त करता है—"आंधी के खिलाफ छोटे-छोटे पौधे तन जाते हैं/मार खाई आंखों आंसुओं में/धीरे-धीरे आग के चित्र बन जाते हैं..."[1]

मनुष्य की आत्मघाती बारूदी महत्वाकांक्षाएं कवि पर कड़ी चोट करती है और वह 'चिड़िया' 'फिर भी', 'काफिला', 'फरवरी', 'रोशनी', खाली हूं मन भरा-भरा सा, 'बरसात गयी', 'नेता', 'अभिनेता', 'नयी शताब्दी', 'दस्तक', 'गीत', 'दो परिदृश्य', 'दंगा' जैसी अनेकों कविताओं में अपनी इस पीड़ा को बार-बार लिखता है —'आवारा पशु सींग उठाये / खेतों को रौंदते घूम रहे हैं / नदियों के पानी में खुद पहाड़ / जहर घोल रहे हैं और छटपटा कर मर रही हैं / चिड़ियों और तितलियों की परछाइयां"[2] चिड़ियां

१. रामदरश मिश्र : जुलूस कहाँ जा रहा है ? पृ० १३
२. रामदरश मिश्र : जुलूस कहाँ जा रहा है ? पृ० २४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और मछलियां मनुष्य की पवित्र मासूम दुनिया की ओर साभिप्राय संकेत करती है। 'अभिनेता' में कवि भविष्य के लिए छटपटाते लोगों की व्यथा जी रहा है। वह साफ देखता है कि जलते हुए झोपड़ों, खौफनाक रातों, खूंखार दहशतों का कारण मक्कार शोषक व्यवस्था है। बहुत बार उसके हाथ सिर्फ सवाल लगते हैं—"यह क्या हुआ समय को/भीतर सूखा, ऊपर हरा-हरा सा"[1]। इस प्रकार की लयता में संयोजित कविताएं अधिक संश्लिष्ट और धारदार हैं। उसमें युग के विषम चरित्र पर चोट करने का तीखापन है तथा शब्दों को उनके अर्थविस्तार में प्रयुक्त करने की कुशलता भी है। कवि का गहरा विश्वास सादी सर्जनात्मकता में है जो अनुर्वर सपाटता के प्रति बराबर सतर्क है। काव्य-कला के अमूर्त प्रपंचों के प्रति कवि का उत्साह नहीं के बराबर है, किन्तु कविता की अपनी मांग के अनुसार बिम्बों, प्रतीकों एवं संकेतों के रचनात्मक उपयोग से कवि को परहेज नहीं और न ही अपने आंचलिक जुड़ावों से आशय पूर्ण मुहावरे उठाने के प्रति किसी प्रकार का संकोच। अर्थस्फूर्ति के लिए मिथों और फैन्टेसियों का अच्छा प्रयोग कवि करता है। उसके यहां ये उपकरण कविता पर कभी भारी नहीं पड़ते। 'नदी' शीर्षक कविता एक जातीय मिथ का सुन्दर इस्तेमाल करती है। इस नदी को लोग अपने-अपने पुण्यों के सहारे पार करते हैं। यह पुण्य किसी की आंखों का खारा पानी पीकर कमाया गया पुण्य[2] है। पुरा-कथाओं की वैतरणी है यह नदी। 'प्रतिमान' में समकालीन कवि कुनबे की कुत्सित सच्चाइयों का खुलासा है तो 'मां के वास्ते' में साम्प्रदायिक संकरेपन में तड़फड़ाते समय की अभिव्यक्ति है।

यह आश्चर्यजनक नहीं कि कुछ लोगों के लिए आधुनिक भावबोध से युक्त कविताएं लिखना अपना दस्तखत करने के समान आसान है, मगर कविता से उसकी खास गहराई की मांग करने वाले पाठक उनका छद्म पहचानते हैं। जीवित यथार्थ और कविता का साथ बहुत यंत्रणापूर्ण है। रामदरश मिश्र के यहां ऐसी यंत्रणाओं का स्वागत है। जिन्दगी से गहरे जुड़ाव के कारण ही रामदरश मिश्र की कविताओं का खास असर है। अपनी इसी विशिष्टता के नाते वे समकालीन कविता के इतिहास में अपनी जगह ले रहे हैं और ये जगह उनके अपने गम्भीर कवि कर्म की कमाई है न कि किसी झण्डा बरदार गुटपरस्ती की।

---

१. रामदरश मिश्र : जुलूस कहाँ जा रहा है ? पृ० २७
२. रामदरश मिश्र : जुलूस कहाँ जा रहा है ? पृ० ६०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'संबंध' और 'सही' का पक्षधर काव्य-विवेक

डॉ० नित्यानन्द तिवारी

मुझे तो यह सूरज सोने नहीं देता। /××× / कितनी बार चाहा कि/ कन्धे पर से पटक दूं इस सूरज को/ लेकिन हर बार लगा/कि यह सूरज ऊपर से बैठा नहीं है/कन्धे पर उगा है मेरे भीतर से/और मैं इसे नहीं कहीं अपने को ही लगातार ढो रहा हूं।

रामदरश मिश्र के अनुभव की यह एक खास पहचान है जो उनके समय कृतित्व में आरम्भ से अब तक लगातार किसी-न-किसी रूप में उपस्थित है। यह सम्बन्ध-चेतना, प्रबल मानवीय वस्तु है जो उनके काव्य-विवेक का निर्माण करती है। इस चेतना की जड़ें बहुत गहरी होती है जो जीवन और व्यक्तित्व के स्थानान्तरण की सुविधा नहीं देती। यह एक खास देश और काल में 'होने' की विवशता है जो कई तरह के प्रलोभनों से कवि को बचाती है। आज के चालीस-पचास साल पहले के कवियों के लिए सार्वभौमिक और सर्वकालिक होने का प्रलोभन काफी आकर्षित करता रहा है जिसके चलते ये दार्शनिक ऊंचाइयों में प्रवेश करते चले गये। आज के कवियों को यह प्रलोभन तो नहीं आकृष्ट करता लेकिन उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय होने की आकांक्षा जरूर बहुत सताती है। इससे उन्हें दो तात्कालिक लाभ होते हैं। एक तो बड़ी सुविधा से मानव-यातना की बड़ी और गम्भीर वस्तु उन्हें मिल जाती है दूसरे वे अन्तर्राष्ट्रीय बौद्धिक दौड़ में शामिल हो जाते हैं। मिश्र जी की कविता में अक्सर इस अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु और बौद्धिकता के प्रति असमंजस मिलता है। यह असमंजस उनकी आन्तरिक सर्जनात्मक विवशता है जिसके लिए पिछड़े होने और कम गम्भीर होने के आरोप और उपेक्षा भी उन्होंने कम नहीं सही है।

मैं गमले का फूल तो नहीं/कि एक सुरक्षित कमरे से दूसरे कमरे में रख दिया जाऊं/मैं तो एक पेड़ हूं एक खास जमीन में उगा हुआ/आंधियां आती हैं/लूएं चलती हैं/ओले गिरते हैं/पेड़ हहराता है, कांपता है/डालियां और फल-फूल टूटते हैं/लेकिन वह हर बार अपने में लौट आता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह 'हर बार अपने में लौट आना' और 'कन्धे पर सूरज को ढोना' क्या उस तरह है जैसे कोयल गाती है, फूल खिलते हैं यानी सहज प्रकृति जैसी मानवीय क्रिया है या कोई ऐतिहासिक जरूरत और जिम्मेदारी के बोध से होने वाली चेतन घटना ? अगर वह सहज प्रकृति जैसी क्रिया है तो कवि छद्म अन्तर्राष्ट्रीयता से बच कर भी एक दूसरे छद्म का शिकार हो सकता है—जिजीविषा के अनवरत संघर्ष के प्रति अगाध श्रद्धा और विश्वास के रोमानी रुझान का। लेकिन इससे बचने का भी प्रमाण मिश्र जी कविता में मिलता है:-—

> "कोयल से मैंने कहा—गाओ, / कुछ सन्नाटा कटे / वह चुप रही / मैंने कहा—मेरे पास आओ / कुछ सन्नाटा कटे / वह डाल पर बैठी रही / मैंने कहा—अच्छा सुनो मैं ही गाता हूं / उसने सहमी निगाहों से चारों ओर देखा—और एकाएक उड़ गयी...।"

यह पूरी कविता मैंने उद्धृत की है। इसका शीर्षक 'वसन्त' है। वसन्त में कोयल का गाना सहज है। लेकिन कुछ प्रबल सन्दर्भ ऐसे भी होते हैं जो जीवन की सहज क्रिया और स्वभाव को अपदस्थ कर सकते हैं। कोयल का सहमी निगाहों से चारों ओर देखना परिवेशगत स्थितियों का जायजा लेना है जो गाने की उसकी सहज क्रिया को अवरुद्ध कर देता है। यह सहज चेतना नहीं परिवेश से उभरने वाली एक अतिरिक्त चेतना है जो विशेष परिस्थिति में सहज ही आतंकप्रद और त्रासद भूमिका की पहचान कराती है। ऐसी आतंकप्रद और त्रासद स्थिति में भी अगर 'कन्धे पर सूरज को ढोना' और 'हर बार अपने में लौट आना' कवि को अनिवार्य लगता है तो वह परिवेशगत स्थिति के प्रति सचेत होते हुए उसके खतरे उठाने का जिम्मेदार और बौद्धिक निर्णय होगा। तब 'सूरज को ढोना' और 'हर बार अपने में लौट आना' सहज चेतन क्रिया नहीं, इतिहास-चेतन क्रिया होगी। यहां एक विवादास्पद प्रश्न उठाया जा सकता है कि मानवीय वस्तु मनुष्य की सहज चेतन क्रियाओं में निहित है या इतिहास-चेतन क्रियाओं में ?

आस्था और विश्वास अपने-आप में मानवीय वस्तु के विरोधी नहीं हैं। उनकी अव्याख्येयता और परिस्थिति निरपेक्षता उन्हें विरोध में खड़ा कर देती है। ऐतिहासिक चेतना से निष्पन्न और प्रमाणित आस्था और विश्वास व्याख्येय और परिस्थिति सापेक्ष होते हैं। उस आस्था और विश्वास में परिवेश यानी ऐतिहासिक स्थिति और ऐतिहासिक चेतना का द्वन्द्व बराबर बना रहता है। इस द्वन्द्व में ही मानवीय वस्तु की उद्भावना, पहचान और रक्षा होती है। ऊपर वर्तमान साहित्य में मानवीय वस्तु के ह्रास को परिलक्षित किया जा रहा है तो उसका करण यह नहीं कि विज्ञान और प्रविधि तथा विकसित भौतिक स्थितियों ने आदमियत छीन ली है। उसने हमारी पुरानी सम्बन्ध धारणा को अयोग्य जरूर कर दिया है और उसे योग्य बनाना उनका काम नहीं है। यह तो ऐतिहासिक चेतना का काम है कि वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिस्थिति के अनुरूप नयी सम्बन्ध व्यवस्था कायम करे। इसलिए आज जीवन साहित्य में मानवीय वस्तु के ह्रास का बड़ा और मुख्य कारण ऐतिहासिक चेतना का अभाव है।

तो क्या, मिश्र जी की कविता में मानवीय वस्तु का निर्माण परिस्थिति और ऐतिहासिक चेतना के द्वन्द्व से हुआ है? एकदम 'हां' कहना तो निश्चय ही अति-वादी वक्तव्य होगा लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनकी कविताओं में इस सम्भावना के पर्याप्त प्रमाण हैं। यह भी कि ये प्रमाण हमारे बहुत कम कवियों में मिलते हैं। खास कर निषेधवादी और आज की विकृत स्थितियों के प्रति तीव्र आवेगात्मक, शहीदाना रुख अख्तियार करने वाले कवियों तथा मानवीय यातना को नियति मानकर उसका दार्शनिकीकरण करने वाले कवियों जिनकी जमात काफी बड़ी है, में तो बिल्कुल नहीं मिलते : वे स्थिति तक ही सीमित हैं या अगर स्थिति का का अतिक्रमण करते हैं तो व्यक्तिगत स्तर का विद्रोह या आयातित निगतिशील दर्शन के चक्कर में अधिक गम्भीर बन जाते हैं और दोनों ही हालतों में ठोस ऐति-हासिक सन्दर्भ और संघर्ष की वास्तविक समस्या उनके हाथ से छूट जाती है। मिश्र जी इन दोनों तरह के कवियों की वास्तविकता पहचानते हैं। 'यही होना था एक दिन' कविता में :—

> "भीड़ से ऊब कर / अपने में डूब कर / वह नदी के एकान्त किनारे पर जा बैठा / और ऊब मिटाने के लिए पानी में ढेले फेंकने लगा / उसे एकाएक लगा कि उसने पानी से विद्रोह कर दिया है / वह अपनी सूझ पर चमत्कृत हो उठा / विद्रोह...विद्रोह...विद्रोह...उसके भीतर बजने लगा।"

और फिर वह कमरे में बन्द होकर विद्रोही कविता लिखता है। उसी में वियतनाम का मुक्तियुद्ध लड़ता है। वह समझने लगता है उसकी बर्राहट से किसान-मजदूर सपने गढ़ने लगे हैं, उसके सिगरेट के धुएं से शासकों की कुर्सियां हिलने लगी हैं और अन्ततः उसकी और उस जैसे लोगों की मंशा हर व्यवस्था पहचान लेती है :—

> "दस्ते ने मुस्करा कर इन्हें देखा था / पहचान लिया था / कि इनकी तनी हुई मुट्ठियों में संधि-पत्र बन्द है / और आग और झाग के नीचे शराब बह रही है।"

एक अन्तर्राष्ट्रीयतावादी चिन्तक जी का हाल है :

> "काफी हाउस में तीन घंटे तक झाड़ते रहे / मृत्यु बोध का अरूमानी विदेशी फलसफा प्यारेलाल / चौराहा पार करने लगे तो / आंखों में धंस गया एक रंगीन देशी माल / चीखती हुई बस आ कर रुकी तो जागे / ड्राइवर की एक बूट-सी गाली खा कर भागे / रात भर ईश्वर को धन्यवाद देते रहे / कि आज वे बच गये बाल-बाल।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह अन्तर्राष्ट्रीयता क्या हमारी बौद्धिक संस्कृति के लिए घातक और उपहासास्पद स्थिति नहीं पैदा करती ? दूसरी ओर देशी सांस्कृतिक एकता के नाम पर :—

> "यह दिल्ली है / यहां भीं रास्ता काट जाती एक बिल्ली है / यहां भी पत्रा देख कर जनवादी घोषणाओं की शुरुआत होती है / यहां भी बड़े-बड़े सरकारी चौपाल हैं जहां दिन भर केवल बात होती हैं / यहां भी खादी के नीचे कोकशास्त्र / और टेरेलिन के नीचे हनुमान चालीसा होता है / + + + / ओ मेरे महान देश/शहर से गाँव तक, सिर से पांव तक / तुम्हारी कितनी बड़ी सांस्कृतिक एकता है।"

आधुनिकता और देशी परम्परा का यह कितना सुन्दर सांस्कृतिक समन्वय है। ग्रह-दशा के विचार के बाद चुनाव के निर्णय और लग्न शोधकर प्रधानमन्त्री पद की शपथ लेने वाले हमारे देश में आधुनिकता और परम्परा का क्या द्वन्द्व चल सकता है ? इसमें वैज्ञानिक ऐतिहासिक चेतना के विकास की कौन-सी सम्भावना है ? एक क्षण आधुनिक और दूसरे क्षण पुरातन पन्थी होने वाला, घोषणाओं में आधुनिक और आचरण संस्कारबद्ध जकड़ा हुआ हमारे देश का शासक और भद्र वर्ग कैसे जान सकता है कि आधुनिकता और संस्कार की लड़ाई कितनी कठोर और यन्त्रणाप्रद होती है ? ऐसे लोगों के स्वीकार और अस्वीकार का विवेक कुंठित हो जाता है। बल्कि ऐसे सवाल और उन सवालों के पूछने वालों को खतरनाक और देशद्रोही घोषित कर दिया जाता। ये सारे समाज और संस्कृति को अन्तर्विरोधों का लुंज-पुंज गट्ठर बना देते हैं। मिश्रजी का कवि अपने कवि कर्म के बीच ही सबसे पहले इस अन्तर्विरोध का साक्षात्कार करता है :

> "मैंने क्यों नहीं स्वीकार किया कि / कोई मेरे लिए कपड़ा बुनता है / कोई छांहें चुनता है / कोई अन्न उपजाता है / कोई कागज और कलम गढ़ता है/ कोई समुद्र में उतरता है / कोई पहाड़ पर चढ़ता है—/ और मैं ?/ सिर्फ कागज गोंजता हूं और अस्वीकार करता हूं / और जब-जब मैं अपने से प्रश्न करता हूं / तब-तब लौट आता हूं तुम्हारे पास मेरे देश / आज फिर लौट आया हूं।"

हमारी बौद्धिक क्रिया का बहुलांश क्यों बांझ और निषेधपरक है ? क्योंकि हम ठोस स्थितियों और संदर्भों में जीने के स्थान पर हर तरह के अमूर्तनों में जीने लगे हैं जो सब कुछ को नाम-रूप हीन बनाकर सम्बन्धों को खा जाते हैं। हम विविधता की धारणा खो देते हैं जो तथ्यों और परिणामों के पीछे के जटिल सन्दर्भों में वास्तविकता को खोजती है। वास्तविकता तथ्य और परिणाम निर्भर नहीं, सन्दर्भ निर्भर है। समान तथ्य और समान परिणाम होते हुए भी सन्दर्भ-भेद से वास्तविकता के स्वरूप में भेद होता है। उद्धृत कविता उन सन्दर्भों को पकड़ती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिनमें जीवन को मूर्त रूप देने की सम्भावना है जिससे जीवित और निर्जीव, अपना और पराया, वास्तविक और पाखंड का विवेक पैदा होता है जो कवि के पक्ष और विपक्ष की भूमिका तय करता है। इसी से निर्ममता और सहानुभूति के सृजनशील उपयोग की योग्यता मिलती है। रामदरश मिश्र की कविताओं में तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीयवादी फिलसफाना अन्दाज और अमूर्त और व्यक्तिगत विद्रोह के प्रति क्यों निर्मम व्यंग्य और उपहास मिलता है ? और क्यों नदी, पेड़-पहाड़, खेत-खलिहान, बुनकर किसान के प्रति स्पष्ट सहानुभूति और ममता मिलती है ? 'कुछ भी फर्क नहीं पड़ता' वाली मुद्राओं की कविता क्यों इस संकलन में नहीं हैं ? इसीलिए कि सही संदर्भ और संघर्ष के सही पक्ष के प्रति सम्पृक्ति और सक्रियता में फर्क पड़ता है, परिवर्तन की सम्भावना चरितार्थ होती है और ठोस मानवीय वस्तु की उद्‌भावना होती है। मेरा ख्याल है कि परिस्थितियों और ऐतिहासिक चेतना के द्वन्द्व के बिना इन बातों की सम्भावना नहीं उभरती। इसी कारण :—

"देखता हूं खाली कन्धों को / अपनी ही धुरी पर उछलते-कूदते / हंसते खिलखिलाते
दिन के साथ सौदा करते रात के साथ सो जाते— / कितने सुखी हैं ये कन्धे"!

इस सुविधाजनक बांझ सुख के प्रति कवि के मन में कोई ललक नहीं। वह निर्ममतापूर्वक इस सुख को अस्वीकार करता है और जो सूरज उसे सोने नहीं देता, बेचैन बनाता है जलाता है, यन्त्रणाप्रद है किन्तु बांझ नहीं, मानवीय वस्तु के प्रति सम्भावना गर्भ है उसे बड़ी सहानुभूति और आन्तरिक ममता से स्वीकार करता है।

इसी स्वीकार के कारण सही और खूबसूरत को फिर से पहचानने की जरूरत पड़ती है :—

"हमारे हाथ में
सोने की नहीं
सरकण्डे की कलम है
सरकण्डे की कलम
खूबसूरत नहीं, सही लिखती है
हम कठघरे में खड़े हैं, खड़े रहेंगे
और कठघरे में खड़े हर उठे हुए हाथ को
अपने हाथ में ले लेंगे
राजा कौरव हों या पाण्डव
हम तो सदा बनवास ही झेलेंगे।"

कविता में जब खूबसूरत और सही के बीच काफी दूरी पैदा हो गई हो तभी किसी कवि को ऐसा कहने की जरूरत महसूस हो सकती है। कविता के पिछले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास में कई दौर ऐसे देखे जा सकते हैं जब खूबसूरत और सही के बीच काफी फासला पैदा हुआ और सही ने खूबसूरती की धारणा का निषेध तो नहीं किया लेकिन उसे बदल जरूर दिया। आज तक ऐसा देखा-सुना नहीं गया कि खूबसूरत ने सही को बदल दिया हो। खूबसूरती सही को ढंक-तो सकती है, बहका सकती है या सही को अधिक प्रभावशाली और बेधक बना सकती है लेकिन बदलने की ताक़त उसमें नहीं है। खूबसूरती अपने बने रहने के लिए सही पर निर्भर है लेकिन सही अपेक्षाकृत स्वावलम्वी है। इसीलिए कला-रचनाओं के लिए जीवन की सच्चाइयों का मुखापेक्षी होना अनिवार्य है जबकि जीवन के लिए उसकी उतनी ही अनिवार्यता कभी नहीं रही।

यह पहचानना कि कविता में खूबसूरत और सही के बीच में काफी फासला हो गया है, कवि को कई मुश्किलों में डाल देता है। उसे ऐसी आवाजें सुनाई पड़ने लगती हैं, ऐसे दृश्य और ऐसे लोग दिखाई पड़ने लगते हैं जो कविता लिखना दूभर कर देते हैं, और उसे अगर कविता लिखना है तो इन सभी के सन्दर्भ में अपने मनुष्य होने को नये सिरे से परिभाषित करना पडेगा। उसे कवि होने के लिए सही मनुष्य को पहचानना और उसका साथ देना अनिवार्य शर्त होगी। जाहिर है इतने से वह कवि नहीं हो जायेगा, यह तो उसके कवि होने की शर्त और वस्तु है, गुण नहीं। गुण वस्तु में होता है। गुण से वस्तु और वस्तु से गुण को पहचाना जाता है लेकिन जब यह पारस्परिकता लुप्त हो जाती है तब कविता में सुन्दर और सही की दूरी बहुत बढ़ जाती है। इस प्रकार जब रामदरशजी यह लिखते हैं कि 'सरकण्डे की क़लम /खूबसूरत नहीं सही लिखती है।' तब वे वस्तु और गुण के बीच की पारस्परिकता के लुप्त होने को रेखांकित करते हैं। साथ ही वे उस कलम की भी जाँच करते हैं जो इस सच को लिख सकती है। सोने की कलम सजावटी है और वह कवि को मुश्किल के समय धोखा दे सकती है। केदारनाथ सिंह की एक कविता है 'शब्द' जिसमें उन्होंने लिखा है कि संकट में पड़े लहू-लूहान हुए उनके कवि को अक्सर कुरूप और गंवई शब्दों ने ऐन मौके पर बचाया है, थाम कर खड़ा किया है।

तो पहली बात तो यह है कि तमाम स्थितियों और वस्तुओं में आज का कवि घिरा हुआ है, उनमें उन स्थितियों और वस्तुओं का चुनाव करना है जो काव्यवस्तु के रूप में अधिक सम्भावनार्भित है। मिश्रजी की कविताओं में यह चुनाव बहुत स्पष्ट और पक्षधर हैं—

96818

''चीथड़े लपेटे भूखे नंगे लोग
हथेली की ओट देकर
कभी दिल्ली की ओर देखते हैं
कभी अपने शहर की ओर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और आपस में पूछते हैं
भाइयो,
इनकी आपसी बात-चीत में
हमारा नाम क्यों सुनाई दे रहा है
बार-बार"

भूखे-नंगे लोगों केइस सवाल को दिल्ली और उनके शहर के लोग नहीं सुनते। वे सिर्फ उनका नाम लेते हैं, उनके सवाल नहीं सुनते। उनके पास सिर्फ ज़बान है और ताकत है, आँख-कान नहीं। ये सिर्फ लोग हैं बिना ज़बान और ताक़त के। ऐसे लोगों के इस भोले सवाल को कवि सुनता है। उसका कवि होना इस बात पर निर्भर करता है कि इस सवाल के साथ आज के आदमी का सही होना जुड़ा है या नहीं? जो कवि और रचनाकार अपनी रचनात्मकता की परिभाषा इस प्रकार की स्थितियों और सवालों से करता है, उसके विषय में अक्सर विचक्षण कवि और आलोचक एक विशेष बात कहते हैं। यहाँ मैं श्री विजयदेव नारायण साही को उद्धृत करना चाहता हूं जिन्होंने प्रेमचन्द पर लिखते हुए कहा है कि प्रेमचन्द लोगों की समस्याएं (People's Problem) उठाते हैं। आदमी की समस्या (Man's Problem) नहीं। क्या आदमी की समस्या लोगों की समस्याओं से बिल्कुल अलग करके हल की जा सकती है? उनके कहने का तात्पर्य यह है कि आदमी की सत्ता मौलिक और आधारभूत होती है और जिन ऐतिहासिक-सामाजिक शक्तियों के बीच वह रहता है; केवल उनसे टकराते रहने से आदमी की मौलिक समस्याओं का सामना नहीं किया जा सकता। इस बात पर अधिक विवाद करने का यहाँ अवसर नहीं है, यहाँ तो में सिर्फ इतना कहना चाहता हूं कि रामदरश मिश्र की कविताओं का आदमी मौलिक नहीं है, वह ऐतिहासिक-सामाजिक परिस्थितियों से निर्मित और उन्हें बदलते हुए विकसित होने वाला है। मौलिक मनुष्य का तो साक्षात्कार होता है, उसमें बदलाव और विकास नहीं होता। मौलिक मनुष्य की समस्याएं स्वविषयान्वेषी है, जबकि ऐतिहासिक- सामाजिक मनुष्य प्रसंगों, सम्बन्धों अन्तर्सम्बन्धों की समस्याओं का संघात होता है। सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक परिस्थितियां और शक्तियों से घिरे हुए आदमी के इतने चित्र मिश्रजी की कविताओं में हैं कि उन्हें उद्धृत करके प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं।

अपरिचय, डर, दहशत और आतंक इधर की जिन्दगी का कटु यथार्थ है। मिश्रजी ने 'दिन एक नदी बन गया' में इस यथार्थ की बड़ी गहरी अनुभूति को कई कविताओं में चित्रित किया है। कवि को क्या यह तय नहीं करना है कि इन स्थितियों का सामना करने वाले लोगों के बीच उसे होना है या इन्हें पैदा करने वाले लोगों और शक्तियों के साथ। डर, दहशत और आतंक एक ही चीज से पैदा होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और वह है अपरिचय। परिचय और अपरिचय का स्पष्ट प्रसंग 'सड़क' शीर्षक कविता में है। अपने गाँव के दायरे से बाहर एक आदमी को सड़क ले जाती है। देश-भर में घुमाती है। उसे लगता है कि उसका गाँव ही उसके भीतर फैलकर देश हो गया है। लेकिन अन्त में जब सड़क ने उसे एक जगमगाते कोलाहल के सामने ले जाकर खड़ा कर दिया तो वह भौंचक हो गया। महानगर और उसके गांव या गांव वाले उसके देश में इतना ज्यादा फ़र्क है कि अपरिचय के अतिरिक्त और कुछ का सामना करना जल्दी सम्भव ही नहीं। वह सड़क अन्त में एक बहुत बड़ी इमारत में समा गयी। वह इमारत विशाल और आतंककारी है। वह आदमी थककर उस सड़क के इन्तजार में डरा हुआ बैठा है। कविया 'राजधानी एक्सप्रेस' में राजधानी एक्सप्रेस 'उन तमाम स्टेशनों को निर्ममता से कुचलती हुई/जहाँ छोटी-छोटी देहाती गठरियां/अपने अनन्त सुख-दुख बांधे हुए/किसी देशी गाड़ी के इन्तजार में पड़ी होती है।' उन्हें लाँघते उनके बीच दहशत बोती हुई अपने में बन्द 'देश की फिजा में नहीं रही है।' वह इमारत और राजधानी एक्सप्रेस, दोनों एक ही चीज है। दोनों विकास और वैभव की वस्तु है। पिछड़ेपन और विकास तथा गरीबी और अमीरी में इतना अधिक अन्तर है कि दोनों के बीच कोई अनुपात ही नहीं है। दोनों तरफ की दुनियाएं एक-दूसरे से एकदम अलग-थलग हो गयी है। इस अलगाव में ही अपरिचय, डर और आतंक पैदा हुए हैं।' अक्सर रामदरश मिश्र की कविताओं पर इस बात का आरोप लगाया जाता है कि वे गांव का नास्टेल्जिया के स्तर तक पकड़े हुए हैं। लेकिन इसमें तो ऐसा लगता है कि मिश्रजी गांव और शहर के पिछड़ेपन और विकास को भारतीय जीवन के एक भयंकर अन्तर्विरोध के रूप में चित्रित करते हैं। गांव एकदम देशी होकर रह गये हैं और शहर कास्मोपोलिटन हो गये हैं। मसलन दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता, लंदन, टोकियो न्यूयार्क से बहुत मिलते-जुलते हैं और अपने ही देश के गाँवों और लोगों से कट गये हैं। यहाँ मिश्रजी गांव को कास्मोपालिटनिज्म के विरोध में खड़ा करते हैं। मनुष्य की अन्तवर्ती प्रातिभ आन्तरिकता जो सम्बन्धों के प्रति संवेदनोन्मुख होती है नकली विकास और कास्मोपालिटन स्तरीयता के दबाव से नगण्य बनती जा रही है। यह सब कहने का मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि मैं या मिश्रजी विकास के या कि महानगरों के विरोध में हैं। केवल इतना ही कहा जा रहा है कि यदि विकास कार्य और महानगरों का विस्तार, वैभव और सुविधा-सम्पन्नता हिन्दुस्तान के राष्ट्रीयता और सामाजिक परिप्रेक्ष्य को भुलाकर केवल अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में चलाये और बनाये जायेंगे तो अपरिचय और आतंक ही फैलेगा। मिश्रजी को गाँव पर बल देना इसलिए जरूरी नहीं लगता कि वहाँ के लोग अच्छे-भले होते हैं बल्कि इसलिए कि राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य की प्रस्तावना करने की योग्यता अभी तक गाँवों में ही है।

राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य को भुलाकर अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरी में शामिल होने वाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदमी नकली आदमी होता है। लोहिया ने ऐसे आदमियों के बारे में लिखा था कि वे बिना विद्रोही हुए उदार और बिना समानता के एक जैसा होना चाहते हैं। ऐसे आदमियों के ही खिलाफ गाँव और गाँव के आदमी को मिश्रजी भी खड़ा करते हैं।

"दृष्टियां असीम होने के लिए
क्षितिजों के महासागर पर भटकती रही
भटकती रहीं...
और एक दिन खुद ही अपने से पूछने लगी...
कहाँ है महासागर
यहाँ तो महज एक धुन्ध है खालीपन का।
आज कितने समय बाद
उन्होंने अपने को अपने आसपास झुकाया
तो देखा—
दर्द की नीली गहराइयों वाले
आँखों के अनन्त छोटे-छोटे सरोवर चमक रहे है
इनमें से किसी में डूबीं
तो डूबती ही चली गयीं—
सरोवर से सरोवर तक
और उन्हें लगा कि
पूरी दुनिया एक माला बन गयी है सरोवरों की
और वे भीतर-ही-भीतर
महासागर बनती जा रही हैं।"

इस कविता में कास्मोपालिटन और सार्वभौम का स्पष्ट विवेक निहित है। मिश्रजी की कविता का मनुष्य सार्वभोम तो है लेकिन कास्मोपालिटन का विरोधी है। सार्वभौम सम्बन्धों और अन्तर्सम्बन्धों से निर्मित तथा विकसित एक ठोस धारणा है, वह कास्मोपालिटन के 'एक जैसे पन' की तरह अमूर्त, भीतर के खाली और सतही नहीं है। ऐसे अमूर्त आदमी के कई रूप हैं—(१) वह समाज से लड़े बिना सुरक्षित रूप से विद्रोही हो सकता है, मानव-जीवन में आर्थिक शक्तियों की भूमिका को नकारकर अरबपति होता है और जनता की ओर से संघर्ष करने की लम्बी प्रक्रिया में से गुज़रे बिना नेता ही नहीं, बड़ा नेता बन सकता है। इस अमूर्त आदमी का रास्ता बड़ा चिकना और हरा-भरा है। लेकिन रामदरशजी की कविता का आदमी इस रास्ते को इन्कार करता है—

"यह रास्ता चिकना था, हरा-भरा था
लेकिन अपना नहीं था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए जब-जब इस पर पाँव रखा
फिसल कर गिर पड़ा।
अपना रास्ता बीहड़ है, सुनसान है
तपाता है, हैरान करता है
लेकिन वह गिराता नहीं
खड़ा करता है
बाहर-बाहर घिसता है
भीतर-भीतर बड़ा करता है।"

इस रास्ते पर चलने वाला आदमी हमेशा उस अकेलेपन की खोज में होता है जहाँ खड़े होकर वह सम्बन्धों में होने को महसूस कर सकता है। उसका अकेलापन सम्बन्धों में होने के लिए है, सम्बन्धों का निषेध करने के लिए नहीं—

"मैं ऊँची इमारतों के इस शहर में
एक छोटा-सा मकान खोज रहा हूं
भीड़ से बचकर अकेले में
अपने को देखने की एक अतृप्त इच्छा
कब से ढो रहा हूं।"

ऊँची इमारतों के शहर में एक छोटा-सा मकान खोजने वाला आदमी असल में अपना घर खोजना चाहता है। अगर उसे अकेले में अपने अकेलेपन को खोजना हो तो मकान की क्या जरूरत, वह पाँच सितारा होटल में किराये के कमरे में अधिक अच्छी तरह अपने अकेलेपन में गर्क हो सकता है। असल में रामदरश मिश्र की जो आदमी की धारणा है वह व्यक्ति और समाज की समाकलित धारणा है जो घर में ही अपने को पा सकता है। उनका आदमी, निजी व्यक्तिता और सार्वजनिकता का समीकरण नहीं है। होटल के कमरे में रहने वाला आदमी अपनी इच्छानु सार निजी व्यक्तिता और सार्वजनिक व्यापारों में अलग-अलग जी सकता है। लेकिन घर में रहने वाला आदमी नितान्त निजी व्यक्तिता और सार्वजनिकता के दो अलग क्षेत्रों में रह ही नहीं सकता है। निजी व्यक्तिता और सार्वजनिकता की सीमाएँ कानून और राज्य से परिभाषित होती हैं लेकिन व्यक्ति और समाज की सीमाएँ कभी पूरी तरह कानून और राज्य से परिभाषित नहीं होती। वे एक-दूसरे को प्रभावित, परिवर्तित और विकसित करते रहने के कारण कानून और राज्य को ही परिभाषित और परिवर्तित करने की सम्भावना लिये होती है। इस तरह का आदमी अक्सर खतरनाक सपने देखता है। वे सपने उसकी अन्तवर्ती चित्त-धारा को समृद्ध करते हैं। वे सपने चाहे उसे कितना भी बाहर कर दें या मौत ही क्यों न दे दें, उन्हें कानूनन सामाजिक अपराध ही क्यों न घोषित कर दिया जाय, वह उन्हें देखेगा:—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"हाय, लोक राम बे मौत मर गया
कमबख्त
तुझे किसने कहा था कि
फुटपाथ पर सोकर एक बड़ा-सा सपना देख
जानता नहीं था कि
यह एक सामाजिक अपराध है।"

लोक राम का सपना उसके मरने के बाद लोगों के बीच फैलकर लोहे की शक्ल में ढलने लगा। कहने की जरूरत नहीं कि यह आदमी विद्रोही होने के साथ ही अपनी पहचान पा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवेदना का सहज एवं गहरा सरोकार

विमल कुमार

समकालीन कविता का परिदृश्य अगर एक तरफ शमशेर के विम्ब, रंग एव प्रयोगों की मानवीय चेतना से तो दूसरी तरफ नागार्जुन जैसे संघर्षशील एवं जुझारू व्यक्तित्व से भी निर्मित हुआ है, साथ ही राजेश जोशी एवं उदय प्रकाश के नये संग्रहों से उभर कर आने वाली आहटों एवं विकासशील प्रवृत्तियों से भी। इस प्रकार समकालीन कवियों की सूची बहुत लम्बी हो जाती है। इस सूची के दीर्घ होने की प्रक्रिया में कविताओं ने भी कई नये रूप ग्रहण किए हैं; फार्म से लेकर कथ्य के स्तर पर तो कई रूप त्यागे भी हैं। इसके अतिरिक्त कई विवादास्पद प्रश्नों को लेकर कविता ने अपने भीतर और बाहर कई जबरर्दस्त टकराहटें अनुभूत की हैं और इस अन्तर्द्वन्द्व ने कविताओं को एक ताजे एवं स्वस्थ परिणाम पर पहुंचाया है, जिसे अशोक वाजपेयी 'कविता की वापसी' कहते हैं। यहां 'कविता की वापसी' के मुद्दे पर विचारना नहीं है, मात्र इतना ही कहना है—समकालीन कविता की यह यात्रा कई पहलुओं, कोण, संवेदना, प्रवृत्तियों एवं यथार्थ को लेकर चलती है और कवि के निज व्यक्तित्व, भोगे हुए क्षणों और उसकी वैचारिकता (पूर्व-निर्धारित वैचारिकता एवं आपसी टकराहटों से उत्पन्न वैचारिकता) से प्रभावित होती रही है। इस व्यापक प्रभाव ने समकालीन कविता के तहत कई सवाल हर दशक में उठाये जिनका स्थायी हल कविता को नहीं मिला है, तभी तो यह यात्रा निरन्तर चल रही है। इसके अलावा एक आधारभूत प्रश्न कभी खड़ा हो जाता है, वह कविता की समकालीनता को अपने-अपने दृष्टिकोण से लेने का जिसके फलस्वरूप कई स्थलों पर अस्पष्टता आ गई है। केवल इतना कह लेने से कि समकालीन कवि वे हैं जो जीवित हैं और रचना-धर्मिता से जुडे हैं, बात बनती नहीं। दरअसल रचनाकार को समकालीन बनाने वाले वे तत्त्व हैं जो उनकी रचनाओं में जगह-जगह दीखते हैं—इन तत्त्वों का निर्माण दो स्तरों पर होता है। एक समकालीन कविता के उस दौर के समाजगत यथार्थ से, दूसरा कविता की चल रही यात्रा में शिल्प और बिम्ब के निरन्तर बदलाव से जो समय की धड़कन से अपने को प्रभावित पाता है—कविता में मात्र फार्म के नये प्रयोग से और यथार्थ के सपाट (वेढंगे) प्रस्तुतीकरण से कोई रचनाकार समकालीन कवियों की सूची में नहीं आ जाना चाहिए। अगर हम सूक्ष्मता से देखें तो यह बात साफ ढंग से सामने आती है कि जिन कवियों ने मूल्यों के निरन्तर परिवर्तन के साथ-साथ अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य-धरातल को भी सहज बोध के साथ तोड़कर नया क्षितिज खोजा है, समकालीन कविता की सूची में हर बार सम्मान के साथ आए हैं—यहां एक और बात उल्लेखनीय प्रतीत होती है—वह यह कि कुछ ऐसे कवि भी रहे हैं जिनके भीतर की चेतना हर स्तरों पर (कविता और समाज के सन्दर्भ में) एकरूपता लिये रही है, साथ ही कुछ ऐसे कवि भी रहे हैं जिन्होंने 'स्विच-ऑवर' किया है। अकविता के भी कुछ कवियों ने आज की ताल में अपनी ताल मिला ली है और कुछ 'स्टेगमेंट' से दीखते जान पड़ते हैं। कई लोगों का यह ताल मिलाना रचना की सहज गति और रूप-परिवर्तन रहा है तो कई लोगों ने अपने को सम्मिलित रखने के लिए उस धारा में स्वयं को ढकेला। यहां उदाहरण वांछनीय नहीं है।

उपर्युक्त बातचीत के प्रकाश में रामदरश मिश्र को समकालीन कवियों की सूची में एक महत्त्वपूर्ण स्थान देना श्रेयस्कर होगा। यह स्वीकार करने के बाद भी कि समकालीनता मिश्रजी को हरेक रचना में निस्संकोच मिली है, फिर भी कुछ ऐसे मुद्दे हैं जो इनकी कविताओं में खुद उठते हैं और लोगों द्वारा उठाए भी गए हैं। इन मुद्दों पर बातचीत एक खुले ढंग से मायने रखेगी और सही मूल्यांकन में सहायता प्रदान करेगी।

रामदरश मिश्र हिन्दी-जगत् में ऐसे चिर-परिचित एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं जिन्होंने अपनी बहुआयामी प्रतिभा का परिचय उपन्यास, कहानी, कविता, आलोचना एवं निबन्ध की विधा में दिया है। इन सभी क्षेत्रों में वे चर्चा का खास विषय समय-समय पर बने हैं। लेकिन मिश्रजी की मूल-चेतना कवि की है, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। पर आमतौर पर राय यह है कि वे एक उपन्यासकार के रूप में अपनी कविताओं की अपेक्षाकृत अधिक सफल हुए हैं। यहां कइयों को यह स्थल आपत्तिजनक लग सकता है परन्तु अगर ऐसी कोई शंका किसी के मन में है तो जायज है और इस शंका के पीछे कुछ ठोस कारण भी हैं जो उनकी कविताओं की जांच-पड़ताल करने के पश्चात् उभरते हैं। दरअसल यहां मिश्रजी के कवि को उनके उपन्यासकार के प्रति तुलनात्मक दृष्टि से नहीं देखना है बल्कि यह खुले ढंग से कहना है कि मिश्रजी की काव्य-यात्रा प्रारम्भ में एक गीतकार के रूप में रही, फिर गीतकार और कवि के आपसी संघर्ष के रूप में और अब एक विजित कवि के रूप में। जहां कहीं-कहीं कभी-कभी गीतों की संवेदना और ध्वनि का संस्पर्श मिल जाता है, मिश्रजी के चारों संग्रहों के विश्लेषणोपरान्त जो घनीभूत होती प्रवृत्तियां मिलती हैं, वे लोगों के बीच स्थापित गीतकार के 'इमेज' को तोड़ती ही नहीं बल्कि कई ध्यानाकर्षक बिन्दु उभारती हैं जिनकी सविस्तार चर्चा उनके प्रकाशित संग्रहों के साथ-साथ एक विकास के रूप में देखेंगे—

रामदरश मिश्र एक गंवई इलाके में अपनी तरुणाई का हिस्सा व्यतीत कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आए हैं। इस हिस्से में उनको ग्रामीण सौन्दर्य एवं संवेदना एक विरासत के रूप में मिली है। फिर वे १९४६ में बनारस की सांस्कृतिक नगरी में आए जहां उन्होंने अपनी साहित्यिक गतिविधियां शुरू कीं। १९५८ तक वे छायावादी प्रभाव महसूस करते रहे हैं हालांकि इसके बीच नयी कविता की धारा उनके अन्दर बह चली थी। यह नयी कविता सामाजिक अनुभवों की कहानी अधिक थी। एक आन्दोलन और प्रगतिवाद के विरोध के रूप में कम, स्पष्ट रूप में, प्रगतिवादी फार्मूलों का एक तरफ विरोध तथा सामाजिक संचेतना और मार्क्सवाद एक 'आइडियोलॉजी' के रूप में नहीं बल्कि अन्तर्दृष्टि के रूप में घर कर रही थी। साथ ही साथ लोक-संस्कृति, जहां गांव की नैसर्गिक सुन्दरता, ठेठपन, सुख और दुःख है, सर्वत्र व्याप्त थी। १९५१ में रामदरशजी 'पथ के गीत' संग्रह के साथ साहित्य की दुनिया में आए, हालांकि छायावाद के रूमानी प्रभाव, प्रकृति के साहचर्य और कोमल जीवन के भावुक उतार-चढ़ाव की मिठास के अलावा उस संग्रह ने कइयों का ध्यान खींचा। इसके पीछे उक्त संग्रह में लिरिक की मूल संवेदना की निजी छाप, रचना का टटकापन और जीवन से साक्षात्कार की सहज प्रतिक्रिया थी जो उनके अन्दर संभावनाएं जगाती थी और पहचान स्थापित करने में सहायक सिद्ध हो रही थी। यह पथ निःसंदेह उनके तरुण अनुभवों का था जहां वे अपनी आंखें खोल रहे थे, जीवन-जगत् और प्रकृति के रहस्यों को समझ-बूझ रहे थे, साथ ही प्रेम, आशा, आकांक्षा, गति, सौन्दर्य, विस्मय और कौतूहलता का गीत गुनगुना रहे थे—इन सारे गीतों में जहां रचनाकार की आत्म-पीड़ा और आत्म-प्रक्षेपण है, वहां "मैं आषाढ़ का पहला बादल / मेरी राह न बांधो / जन-जन के उर का / कोलाहल पीकर जाता हूं" की ध्वनि भी। अपनी निरन्तर गति के बीच में उन्हें यह जिज्ञासा भी ध्यान खींच लेती है—'पूछता हूं तब मैं स्वयं से पथ के उस पार क्या है / मूक चोटी से निरन्तर झर रहा एक निर्झर !''

लेकिन यह ध्यानाकर्षण उनके विकासशील मार्ग का रोड़ा नहीं बनता क्योंकि उनकी तन्मयता 'चक्कियों से गीत के स्वर' में है तो 'घर विद्रोही कब सुनता है/ आशा और निराशा के बीच' जैसे स्थलों में भी या फिर 'रो उठता हूं, जब रो उठती है अन्तर में मानव की पीड़ा', फिर भी 'स्वर्ण-तितली, ग्राम-परियां, रात की पपीहरी, नीम की नंगी बाहें, पाकड़, गंधाकुल आकाश, पीली में बेला में कछार की सरसों का वन उन्हें बार-बार 'खेत के बीच बबूल' और 'झुरियां' युग की निशानी जैसी विसंगतियों से दूर खींचकर ले जाते हैं—यहां तक मिश्रजी की खट्टी-मिट्ठी अनुभूतियां, संवेदनशीलता और प्रकृति के साथ आत्मीय जुड़ाव अपनी सहजता, सरलता और सच्चरित्रता काव्य-सुख पाठकों को प्रदान करता है और उन्हें खींचकर लाता है उस पथ पर जो अपने रूप बदलता हुआ 'कंधे पर सूरज' तक फैल गया है एक व्यापक चौड़ाई के साथ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्यारह वर्ष के लम्बे अन्तराल के बाद भी 'बैरंग-बेनाम चिट्ठियां' में मिश्रजी की ग्रामीण-परिवेश के प्रति आन्तरिक ममता और सांस्कृतिक वर्तमान है—लेकिन यह सब कुछ 'पथ के गीत' के धरातल पर नहीं, नयी कविता के तहत पनपता है। रमेशकुंतल मेघ की दृष्टि में समर्थ सौन्दर्य-शिल्पी मिश्र भाषा का संवेग जादुई बिम्ब ही देते हैं न कि चिंतन और तर्क में फंसकर बौद्धिक-पद्धतिशास्त्र की छवि।' 'पथ के गीत' में जहाँ वे यथार्थ के धरातल पर बहुत ही कम उतरते हैं जो यथार्थ उस रचना-काल की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक पृष्ठभूमि की कुछेक कविताओं में ऐसा प्रयास हुआ भी है पर रचनाकार का जुड़ाव आत्मीय नहीं हो पाया है—लेकिन 'बैरंग-बेनाम चिट्ठियां' में कवि ने उस जुड़ाव को फिर आत्मीय बनाने की कोशिश की है जिसमें वे पहले की अपेक्षाकृत सफलीभूत हुए हैं। इस जुड़ाव का विकास उत्तरोत्तर होता गया है और अनुभव के सम्बन्ध के रूप में निरूपित हुआ है तो कुछेक कविताओं में सचेत सम्बन्ध के रूप में भी। 'पथ के गीत' का रोमांटिक दर्द बदला है और 'बैरंग-बेनाम चिट्ठियां' की तड़प में उभरा है लेकिन यह तड़प पूर्णरूपेण स्पष्ट नहीं हो पायी है—संग्रह के अन्तिम हिस्से में मिश्रजी के नयापन लिये हुए गीत हैं, जिन पर चर्चा हो, इसके पूर्व शुरू की कविताओं का 'मूड' देखना बेहतर होगा जहां उनके नये बिम्ब, नये प्रयोग और कुरेदती हुई भाषा देखने को मिलती है जिसमें आधुनिकता का भारी बोझ नहीं, बल्कि सरल अभिव्यक्ति है। यहां प्यार की आकांक्षा, जाड़े की सुबह, नयी कोंपलें, हवा की गुदगुदी, स्फूर्ति और निश्चलता कविताओं में व्यक्त हुई हैं। नये और मौलिक प्रयोग मिश्रजी की इन पंक्तियों में झलकते हैं—"भूसे की बछिया से/पेन्हाती हुई गाय-सी मेरी रातें/अपने को निचोड़कर कुछ और बिसूक गई' या फिर 'दिन तो पांवों में अंट जाता' या फिर 'यह वहीं जंगला/जहां से बार-बार वसन्त झटका उधर कोने में पड़े / खाली कनस्तर नें गया है डूब"—यहां खाली कनस्तर और गायों का विसूकना एक संकट को रेखांकित करता है जिसे मिश्रजी देख रहे हैं। दूसरी तरफ मिश्रजी 'आत्म-शोध' करने लगते हैं—"मैं कमरे का लौह-द्वार बंद कर लेटा हूं···/ यह खिड़की का शीशा / न जाने कैसे चटक गया है'—यह सब कुछ उनके मन में कुहराम मचाता है। इससे भी ज्यादा कुहराम इन पंक्तियों में व्यक्त विडम्बना का बेवाक एवं मर्मस्पर्शी चित्र बनाता है—"रंग-बिरंगे गुब्बारे ले/बच्चे लौट रहे हैं घर को/ घर तक आते-आते फूट गये गुब्बारे / रोना··· धोना···/फिर यह सूना घर है, अंधियारी है।" 'सत्य से साक्षात्कार' कविता में उनकी 'रीजनिंग' और 'रेशनेलिटी' बढ़ती है तब वे करीब से महसूस करते हैं कि तथा-कथित सत्य सर्जन एक खास लोगों के बीच ही रहा है, एकदम झूठा है। अनैतिहा-सिक क्षणों को पूरे तर्क के साथ 'आत्महत्या के पहले' एक लम्बी कविता में उभरा है। अब धीरे-धीरे मिश्रजी ने अनुभूति और विचार को एकत्र करना शुरू किया है। यहां एक प्रश्न उभरकर आता है कि कवि की बौद्धिकता अनुभूति को ठोस बनाती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं या अनुभूति उसकी बौद्धिकता को एक सुदृढ़ काव्य-धरातल दे रही है। दरअसल दोनों एक दूसरे को ठोस बनाते हैं और यह प्रक्रिया 'अन्तर्ग्रथित' होनी चाहिए। दोनों चीजों को अलग-अलग काटकर नहीं देखा जा सकता।

'बैरंग-बेनाम चिट्ठियां' में मिश्रजी के गीतकार ने 'पथ के गीत' के धरातल को छोड़कर नयी ज़मीन तैयार की है। इस नयी ज़मीन की आवश्यकता पर कवि विजेंद्र के विचार उल्लेखनीय हैं, "जिन सीधी-सादी भाव-स्थितियों को, जब इन कवियों ने 'नयी कविता की बौद्धिक संश्लिष्टता' के बोझ से बचा, एक सहज ढंग से व्यक्त किया, कदाचित् तभी उन्हें एक नये प्रगति लय का बोध हुआ। नयी कविता की लय की अपेक्षा पाठक को इसकी पकड़ आसान थी···नयी कविता में जिस महत्त्व-पूर्ण मूल्य का अभाव बराबर महसूस किया जा रहा है उसकी पूर्ति इस गीत ने की है। इसी अर्थ में यह नयी कविता का पूरक माना जा सकता है पर उससे अलग और स्वतंत्र भी।' यहां केवल उस पूरक तत्त्व को ग्रहण करना है। निश्चित रूप से इस पूरक तत्त्व ने मिश्रजी की कविताओं की भूमि (जो गीत के भीतर विकसित हुई है) को और विस्तार दिया है लेकिन यह विस्तार एक उछाल लिये कहीं-कहीं दृष्टि-गत होता है तभी तो इस उछाल ने (कंधे पर सूरज की कुछेक कविताओं) को सपाट बना दिया है। दरअसल ऐसा लगता है कि गीतकार के अन्तर्मन को विस्था-पित कर कविता लिखने की मनःस्थिति के बीच सदैव द्वन्द्व मिश्रजी ने महसूस किया है। कविता लिखने की मनःस्थिति जो मिश्रजी की गीत लिखने की मनःस्थिति के बाद की है, एक क्रम लिये हुए नहीं है लेकिन इसके बावजूद मिश्रजी ने अपने व्यापक अनुभव अपनाकर अधिकार, विपुल ज्ञान और वैचारिक संतुलन के द्वारा कविता को हर संकट से बचने का प्रयास किया है जिसमें ज्यादातर वे सफल हुए हैं। 'बैरंग-बेनाम चिट्ठियां' तक रामदरश जी की 'इमेज' कविता की मनःस्थिति के विकास-शील दौर में थी और यही कारण है कि शमशेरजी इतना ही कहकर संतुष्ट हो गए—"मिश्रजी एक सच्चे कवि हैं, बहुत बड़े कवि नहीं, मगर बहुत ही संवेदनशील, सच्चे लिरिक जो उनका मूल स्वर है", लेकिन अगर मिश्रजी के बारे में शमशेरजी आज फिर सोचें तो निःसंकोच उन्हें अपनी राय बदलनी पड़ेगी—खासकर लिरिक के माने में लोक-कला का रंग, भोगे गए धुन और उलझन तथा दुरूहता का अभाव, मिश्रजी की कविताओं के संदर्भ में शमशेर की तरह सबको प्रिय है।

६२ से ६९ के बीच मिश्रजी ने समकालीन कविता की मनःस्थिति को काफी पुष्ट किया जिसका 'पक गई धूप' प्रमाण है। इस दौरान की रचनाओं ने काव्य का अद्भुत संतुलन, सामाजिक जीवन से गहरा तादात्म्य प्रदान किया जो अब तक के प्रकाशित चारों संग्रहों का प्रतिनिधि संग्रह है। 'पक गई धूप' के बगैर मिश्रजी की पहचान अधूरी है—"आह ! पीछे मुड़कर देखा/एक कांटा धोती में उलझ गया था" इन पंक्तियों वाले मिश्रजी में यह संग्रह नया रूप जोड़ता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस संग्रह की भूमिका में व्यक्त विचार जिस सुरक्षा को तैयार करने हेतु प्रकट किये गए हैं, उसमें कवि की निजी शंका ही अधिक है या अपने आलोचकों के लिए एक उत्तर का भाव। कविताएं दरअसल वैसी नहीं हैं जिनके प्रति रचनाकार चिंतित है। यह सही है कि मिश्रजी द्वारा चुना गया रास्ता जहां प्रयोग और मार्क्स साथ-साथ हैं, अधिक दुष्कर एवं दुःसाध्य है जबकि कई लोगों ने प्रयोग के लिए मार्क्स को छोड़ दिया या 'मार्क्स' के लिए प्रयोग को किनारा कर दिया। मिश्रजी की कविताओं ने शुरू से ही परिचय कराया है कि वे एक निजी अनुभव ने सिंचित हैं, यह निजी अनुभव एक ऐसे परिवेश से प्राप्त हुआ है जहां सामाजिक परिस्थितियां तो हैं और साथ ही व्यक्ति के अंदर घटने वाली कई घटनाचक्रों की थोड़ी-बहुत छाप भी। यह परिवेश समाज से लेकर राष्ट्र तक और राष्ट्र से लेकर संपूर्ण विश्व का है जहां मनुष्य सदैव एक चुनौती का सामना कर रहा है, "किंतु यह सच है कि हम समूचे विश्व को या एक वृहत्तर राष्ट्र या समाज को अनुभव के स्तर पर जी नहीं पाते हैं। हम अपने निकटतम आस-पास को ही अधिक गहनता और संश्लिष्टता से जी पाते हैं। वही निकटतम आस-पास के जीवन अनुभव से बृहत्तर सामाजिक, राष्ट्रीय और वैश्विक परिवेश जितना जुड़ पाता है उतना ही कलाकार का सत्य बन जाता है, इसलिए मुख्य प्रश्न तो यह है कि कलाकार अपने जीवन परिवेश को कहां तक जी सका है···" तो दूसरी तरफ अज्ञेय ने कहा था—'सत्य वह तथ्य है जिसके साथ हमारा रागात्मक संबंध हो'; लेकिन इस राग ने घटनेवाली तमाम घटनाओं, जिनसे जीवन संचालित एवं प्रभावित हो रहा है, की न तो यथार्थपरक व्याख्या की और न उन कारणों को खोज निकाला जो घटनाक्रम के पीछे एक शक्ति के रूप में कार्य करते हैं। इस प्रकार राग न तो अपने सत्य तक पहुंच पाया और न इस रागात्मक संबंध ने सत्य का सही निरूपण ही किया। एक तरफ से नयी कविता बनाम प्रगतिशीलता का द्वंद्व उस समय के रचनाकारों में उपजने लगा था, बाद में ये कवि वैचारिक टकराहटों को लेकर अलग होने लगे। रामदशजी नयी कविता के उस द्वन्द्व से गुजरकर आए हैं परन्तु नामवर जी की यह उक्ति भी शत-प्रतिशत ठीक नहीं कि 'रामदश मिश्र ऐसे कवियों में से हैं, जिन्हें प्रगतिशील आंदोलन ने ही कवि बनाया। 'बैरंग-बेनाम चिट्ठियां' के कवि तो वे थे ही, हां, अब 'पक गई धूप' के भी कवि बने, रचनाकार अपने काल में चल रहे आंदोलन से प्रभावित भी होता है, नहीं भी होता है। जो प्रभावित होते हैं उनके लिए यह प्रभाव मात्र आंदोलन से लिया ही नहीं होता बल्कि उनकी अपनी गहरी अनुभूति, वैचारिक समझ, दृष्टि और चिंतन भी होता है। जो मात्र आंदोलन के साथ हो लेने की मंशा से लिखते हैं, उनकी रचनाओं के पीछे कोई ठोस पृष्ठभूमि नहीं रहती है। हो सकता है कि वे फिर भविष्य में घटनेवाले आंदोलन से प्रभावित हो जाएं। ऐसे रचनाकारों का कोई निजी आधार भी नहीं होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामदरशजी को ठीक-ठीक समझने के लिए महावीर सिंह चौहान की कुछ पंक्तियों की आवश्यकता यहां जान पड़ती है—"अत्याधुनिक कलावादियों के लिए तो मिश्रजी पहले से ही गैर-जरूरी थे, रूमानी विरोधी अपनी उक्त मान्यता के रहते प्रगतिवादी समीक्षक भी मिश्रजी की कविता के संबंध में चुप्पी साधे रहे लेकिन प्रगतिशील जीवन चेतना के संदर्भ में रूमानी दृष्टि और संवेदना की सार्थकता को लेकर मुक्तिबोध की मान्यताएं नामवर सिंह की मान्यताओं से मेल नहीं खातीं। मुक्तिबोध का भी आग्रह है कि रचनाकार की भावना का ज्ञानात्मक आधार सुस्पष्ट और अविकृत होना चाहिए लेकिन वे यह भी मानते हैं कि रोमांटिक होने मात्र से भावना का ज्ञानात्मक आधार कमजोर नहीं होगा, ज्ञानात्मक आधार कमजोर तब होता है जब कवि समाज को प्राप्त अद्यतन ज्ञान की उपेक्षा कर, अद्यतन ज्ञान द्वारा सम्प्रेरित भावनाओं से दूर हटकर केवल अपने एकान्तिक निबिड़ लोक में ही विचरण करता है। ज्ञान का अर्थ केवल वैज्ञानिक उपलब्धियों का बोध ही नहीं होता, वरन समाज की उत्थानशील तथा ह्रासोन्मुखी शक्तियों का बोध भी है। अब तो सारी भ्रांतियां दूर हो जाती हैं, अगर कहीं कुछ बचता है तो कविताएं साफ करती हैं—'केन्द्र और परिधि उर्फ बड़ी-छोटी मछलियों' का आवर्त्त दुर्बल और शक्तिशाली वर्गों की टकराहटों के दौरान उपजी घटना है—"और केन्द्र की बड़ी-बड़ी मछलियां/भय से चिल्ला रही हैं/शांत रहो बदतमीजो/आवर्त्त पैदा करना/हम मछलियों का धर्म नहीं होता···" लेकिन इन बड़ी मछलियों से ऐसी सफाई नाटकीय लगती है, मात्र 'धर्म नहीं है' कहकर स्थितियों को बदला नहीं जा सकता है। इससे कहीं सुलझी हुई स्थिति 'आमने-सामने मकान' कविता में है—आमने-सामने के मकान सदियों से चले आ रहे वर्ग के आपसी संघर्ष के इतिहास के साक्षी हैं। यहां यह वर्ग-संघर्ष (कुहरा का छटना) समाप्त होता फिर एक दूसरे स्वरूप में वर्ग-संघर्ष शुरू होता है—"धीरे-धीरे कुहरा छट जाता है/और फिर सड़क उभर आती है/जिस पर गुजरने लगते हैं/लोग··· लोग···लोग" रामदरशजी की दृष्टि और वैज्ञानिक हुई है 'गलियां और सड़कें कविता में, जब उन्होंने बड़े प्रभावकारी और सफल ढंग से समाज में वर्गों के जन्म की ऐतिहासिक व्याख्या की है। गलियां मेहनतकश वर्ग का प्रतीक हैं और सड़कें शासक वर्ग का—"इसकी जड़ बंद होती है/एक गंदी बस्ती में/और सिररा खुलता है/ जगमगाती कोलतार की सड़क पर/···पानी बरसता है तब/सड़क अपने को धोकर/ गंदगी ठेल देती है इसके सिरे में" कवि इतना ही कहकर चुप नहीं हो जाता, वह एक प्रश्न पूछता है—"कब तक ये गलियां/अलग-अलग बंटी हुई/ऐसे ही सहती रहेंगी/होने की पीड़ा।" वर्तमान समाज में न्याय की सड़ती हुई स्थिति (कठघरों में हर काली छाया के साथ/भगवान खड़ा किया जाता है/और हर बार उसे मार दिया जाता है/···रात भर भगवान अपनी लाशें बटोरता है) आर्थिक विषमता (आकाश में फसल लहलहा रही है/धरती बंजर पड़ी है) व्यक्ति की असुरक्षा और उसकी लाचारी पूरी मार्मिकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ (आगे बढ़ता हूं/सीढ़ियां किसी ने खांच ली हैं/पीछे भागता हूं/गली कहीं उड़ गयी है) कविताओं में मिलती हैं। 'बैरंग बेनाम चिट्ठियां', 'पथ के गीत' का बसन्त जब बदली हुई स्थितियों में आता है तो कवि देखता है—"सोच रहा है बेंच पर बैठा-बैठा/थका ऋतुराज" फिर "नदी के उस पार से भटकी हुई एक चिड़िया/पल भर को/आ बैठी है एक फूली टहनी पर/गुन रही है एक गुंजन/···चौंक कर सुनती है/फायर ब्रिग्रेड की टन···टन···" यह बदलाव पूरा सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक बदलाव जिसके झटके कवि ने मससूस किए हैं। यह बदलाव अपने में आधुनिक है पर इस आधुनिकता के भाव को मिश्रजी जीकर आकार देने के विश्वासी हैं। एक अतिवादी फैशन को आधुनिकता मान लेने में उनकी आस्था नही है। अब मिश्रजी की सौन्दर्य के प्रति धारणाएं बदली हैं—"और वे लोग/पीते रहते हैं जो धूप को कहवे की तरह/छांह को पहन लेते टेरेलिन के कपड़े-सा/और जो वसन्त से बहीखाता लिखवाते/गटर साफ करवाते साबुन से/शरद को बना लेते ब्रुश जूता पॉलिस का" या फिर "हर फूल के भीतर क्लोरोफार्म की बास छटपटाती है या "फिर 'सूरज हॉकर की तरह सुबह को समाचारपत्र की भांति फेंक देता है" या फिर "आकाश का बच्चा धूप की फाइल खोल रहा है।"

इनका रचना-संसार रेखाओं को तोड़कर विस्तृत हुआ है जहां नयी आकृतियां उभर रही हैं—बस-स्टैंड, थके लोग, देर से चिल्लाती गाड़ी, भीड़, फुटपाथ, पेशेवर धर्मनेता, क्लब, थियेटर, मेनकाएं, बाजारों की रोशनी, अंग्रेजी की मानसिकता, सब कुछ उनके काव्य-क्षितिज पर उभर रहा है—अब मिश्रजी समय बलवान होता है जैसी धारणा को बेमानी समझते हैं क्योंकि समय तो सर्वदा उन लोगों का साथ देता है जिनके पास उत्पादन के साधन हैं—"तुम्हारे कांपते हाथों ने/तराजू का पलड़ा/हमेशा झुका दिया है उस ओर/जिस ओर गेहुंअन सांपों का समूह/कुंडली मारे बैठा होता है गड़े रत्नों पर/आराम से चूहों को पान की तरह चुभलाता हुआ" या फिर "तुम्हारे पथरीले तूफानों ने/बसंत की अगवानी करते बौरों के सिर फोड़े हैं" यह समय वह हवा है जो दीपक की लौ बुझाती है पर आग की आंच तेज करती है—'धैर्य रखने, सत्य के विजय होने की शास्त्रीय नारेबाजी और देश की स्वतंत्रता खतरे में' जैसे मुद्दे केवल बरगलाने की मंशा रखते हैं। मूल समस्या की ओर कोई ध्यान नहीं देता यानी 'बेसिक स्ट्रक्चर' समाज को बदलने की सख्त जरूरत है—'समय देवता' मिश्रजी की गिनी-चुनी अच्छी कविताओं में से एक है। इस संग्रह की एक कविता "धरती माने गुरुजी और गो-माता/धरती/धरती माने प्रिवीपर्स और बहीखाता/धरती/धरती माने अयूब, जॉनसन और चाऊ एन लाई/धरती/धरती माने गुप्ता-पाटिल, देसाई/धरती/धरती माने शेख-पादरी" पण्डा नागार्जुन की 'ओम-शांति मंत्र' जैसी कविता की याद दिलाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'बैरंग बेनाम चिट्ठियां' से लेकर 'पक गई है धूप' तक की यात्रा में जो तीव्रता और संपुष्टता कवि ने अपने काव्य को दी है 'पक गई है धूप' से लेकर 'कंधे पर सूरज' के बीच देखने को मिलती है। यहाँ काव्य के उस स्वभाव में शैथिल्य है लेकिन मिश्र जी का राष्ट्रीय चरित्र देश की बिगड़ती हुई स्थिति के प्रति गहरी चिंता के रूप में उभरा है—'वियतनाम का एक युद्ध, नीग्रो की लाश के नीचे दबा संगीत, द० अफ्रीका को काली-काली नदियों में धुलता गोरा-गोरा जहर, कवि का क्षोभ, असंतोष, विडम्बना, और लाचारी कई स्थलों पर कविता को सपाट भी बनाते हैं (व्यंग्य-वाण भी कसने कवि ने शुरू किए हैं) और कई चालू मुहावरों का भी सहारा लेते हैं। स्वतंत्र होकर भी स्वतंत्रता की छटपटाहट, सांस्कृतिक एकता की विडम्बना, 'तुमने कहा था' में 'राइट टू रिकाल' जैसा आग्रह, 'देश' कविता की सर्वव्यापी विषमता, देश की खुशहाली (आंकड़ों पर जो आधारित है) और गांव के कनॉट प्लेस-बनने के व्यंग्य की पीड़ा—आज के ज्वलंत प्रश्न है, जिन पर मिश्रजी ने कड़ा प्रहार किया है—'गठरियां सिर पर नहीं, आँखों में भी होती हैं' का तटस्थ अनुभव सबको बींधता है—यह सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं मानवीय मूल्यों के अवमूल्यन के घोर सकट के परिणामस्वरूप उपजा है जिसका प्रतीक 'गठरी' भारी होता जा रहा है। राजकुमार सैनी द्वारा 'कंधे पर सूरज' कविता के जरिए कवि को आत्मधर्मी चिंतक करार किया जाना, सूरज को 'आत्म-प्रभा-मंडल' के प्रतीक के रूप में समझ लेने का स्पष्टीकरण आवश्यक है। मिश्रजी की पूरी काव्य-यात्रा के विश्लेषण ने जाहिर कर दिया है यह 'सेल्फ ग्लोरीफिकेशन' न होकर सामाजिक बदलाव में मूल्यों का संक्रमण तो है।

रचना समाज और काल के साथ-साथ जिस द्वन्द्व और संक्रमण से होकर गुजरी है, उसकी छवि का आना सहज हैं। लेकिन एक बात यहां विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि मात्र राष्ट्रीय चरित्र और 'बेक टू विलेज' का नारा एक साहसिक और ठोस कदम नहीं प्रदर्शित करता है बल्कि एक असमंजस और अनिर्णय की स्थिति प्रकट करता है जिसकी शंका सुरेन्द्रनाथ तिवारी ने व्यक्त की है—"निर्णय न लेने कीं स्थिति भी अनेक कवियों में स्थायी धर्म बन गयी है और उसकी भ्रामक स्थिति के लिए कवच भी। अगर मिश्रजी उसी का बहुत दिनों तक सहारा लेते रहेंगे तो मानना होगा कि यह स्थिति उनकी कविता में वास्तविक जीवन से सम्बद्ध होकर नहीं पैदा हुई बल्कि कविता के अनेक मुहावरे की तरह एक और चालू मुहावरा बन गई है। मेरा विश्वास है रामदरश जी ऐसा नहीं होने देंगे।"

रामदरश मिश्र गमले के फूल नहीं, एक खास ज़मीन में उगे हुए पेड़ हैं जिसके 'फूलों की महक' लोक-जीवन की लय के साथ-साथ व्यक्ति जीवन की लय के अन्वेषण में भी है। इनकी कविताओं का खास स्वभाव यह है कि वे पाठक को कविता के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ-साथ चलते-चलते अन्त में एक विस्मयकारी प्रभाव दे जाती है जबकि शुरू में नहीं लगता है कि कविता एक प्रभाव जमा रही है—दरअसल कविताएं प्रभाव छोड़ती नहीं चली जातीं बल्कि प्रभावों को जमा करती चलती जाती हैं जो अन्त में घनीभूत होकर ठोसावस्था में हृदय और मस्तिष्क पर उभरती हैं जो कविताओं का वैशिष्ट्य है एक घनत्व के रूप में। इसके अतिरिक्त बिम्बधर्मिता, चित्रात्मकता और सुन्दर प्रतीक मिश्रजी की काव्य-प्रतिभा के परिचायक हैं जो पाठकों को धीरे से छू लेते हैं। इनका कारण है कि ये सब अन्य कवियों की तरह 'पोइटिक' ज्यादा नहीं बल्कि सहज रूप से काव्य में आए हैं, पूरी स्पष्टता के साथ उतरते हैं मानस-पटल पर। दरअसल यह सफलता अनुभव, संवेदना, विचार एवं भाषा की सामूहिक और संतुलित भागदारी का प्रयास है इसलिए ऐसा लगता है (कुछ कविताओं को छोड़कर) कि इन कविताओं में न तो कोई खास चीज छूट गई है और न अनावश्यक रूप से कुछ जुड़ ही गया है। आशा है मिश्रजी एक निर्णय लेते हुए अपने काव्य-संतुलन को बरकरार रखेंगे जिससे वे अपना स्थान और महत्त्वपूर्ण बना सकें।

————

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रगतिशील अंतदृष्टि एवं रागात्मक निष्ठा

महेश आलोक

"हमारे हाथ में सोने की नहीं
सरकंडे की कलम है
सरकंडे की कलम
खूबसूरत नहीं, सही लिखती है
वह विरोध के मंत्र लिखती है
प्रशस्ति पत्र नहीं लिखती
हम कटघरे में खड़े हैं, खड़े रहेंगे
और कटघरे में खड़े हर उठे हुए हाथ को
अपने हाथ में ले लेंगे
राजा कौरव हों या पांडव
हम तो सदा बनवास ही झेलेंगे" (कलम)

वस्तुतः रामदरश मिश्र के काव्य-संसार की जीवन्तता और उसकी मर्यादा को पकड़ने के लिए, उनकी संवेदनात्मक समझ और काव्य-विवेक से गहरा परिचय प्राप्त करने के लिए, और हाँ—उनके अनुभव की ताजगी और बारीकियों से सीधा संपर्क स्थापित करने के लिए जरूरी है कि हम सदा यह ध्यान में रखें कि उनके हाथ में सरकंडे की कलम है, जो हमेशा सही लिखती है। इस सही लिखने में प्रकारान्तर से ठेठ ग्रामीण जीवन और संवेदना से वह गहरा जुड़ाव शामिल है, जहाँ मिश्र जी आत्मिक स्तर से विकसित हुई सहज और सार्थक प्रगतिशील अन्तर्दृष्टि की पक्षधरता में खड़े हैं। पूरी कविता संरचनात्मक स्तर पर निहायत असंवेदनशील सत्तावादी व्यवस्था को बहुत धीमे से खोलती है, जहाँ सच्चाई की ताकत के सहारे संघर्ष कर रहा रचनाकार सदियों से सांस लेता आ रहा है। 'राजा कौरव हों या पांडव/हम तो सदा बनवास ही झेलेंगे' में वह संघर्ष चेतना कहीं न कहीं विद्यमान है जिसके बल पर रचनाकार उस शोषक व्यवस्था से समझौता नहीं कर पाता और वह व्यवस्था उसे 'बनवास' की सजा सुना देती है। यह सजा ही उसकी प्रगतिशील पक्षधरता का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सबसे बड़ा सुबूत है। इस 'बनवास' झेलने की चुनौती को, हर उस रचनाकार को स्वीकार करना पड़ेगा जो सही मायने में प्रगतिशील संवेदना को संघर्ष की तेज धार पर खड़ा रखना चाहता है।

रामदरश मिश्र के यहां तमाम तथाकथित प्रगतिशील कविताओं की तरह वस्तुजगत् का तथ्यात्मक चित्रण नहीं है। उनकी खास विशेषता तथ्य के साथ रागात्मक सम्बन्ध विकसित करने की है। इस तादात्म्य' में वह गहरी आत्मीयता सुरक्षित है, जिसके सहज विस्तार से उनकी कविता शक्ल ग्रहण करती है। इसी रागात्मक आत्मीयता ने उनकी कविता में वह स्वाभाविक और सार्थक जीवन-मूल्य विकसित किए हैं, जिसे अनुभूति के स्तर से उठाया गया है। संभवतः यही कारण है कि वे किसी-किसिम की गुस्सैल संवेदना के भाषिक रूपान्तरण से पूरी तरह बचते हुए जवीन के प्रति गहरी आस्था को सर्जनात्मक स्तर पर चरितार्थ करते हैं। इतना अवश्य है कि इस आस्था का पूरा का पूरा चरित्र कविता के लिए बने-बनाये आस्था के प्रचलित सूत्रों से अलग जीवन और परिवेश के गहरे दबाव से विकसित हुआ है। तात्पर्य मह है कि पूरे के पूरे अनास्थावादी परिवेश की तह में जाते हुए लगभग 'न्यूक्लियस' से आस्था की रचनात्मक अनिवार्यता को उभारने की कोशिश मिश्र जी के यहाँ विद्यमान है। उन्हें लगता है:—

"संसद हो या सड़क
गांव हो या शहर
भय हो या क्रोध
प्यार हो या हत्या
सब पर एक ही घिसा हुआ विराट मौसम बिछा हुआ है।
और एक घरघराती मशीन दौड़ रही है।"

(कविता का आकाश विस्तृत हो गया)

यहां अनास्थावादी और अविश्वास भरे परिवेश के खतरनाक दबाव से जीवन के प्रत्येक पहलू और भावनात्मक लक्षणों को पिसते हुए देखा गया है। स्थिति यह हो गयी है कि:—

"देखता हूं
चारों ओर अंधकार के कटे-कटे खंड
मांस के बड़े लोथड़ों से लुढ़के पड़े हैं
उजाले की तलाश में भटके हुए लोग
रह-रहकर सियारों की तरह हुंआते हैं
और थक कर चबाने लगते हैं चुपचाप
अंधेरे का एक टुकड़ा" (अपने में अपने से अलग।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस देखने में वह गहरी पीड़ा छिपी हुई है जो 'घिसे हुए विराट मौसम' और यांत्रिक सभ्यता के जंगलनुमा अंधेरे से मनुष्य को खींचने की तरफ उन्मुख है। वस्तुतः परिवेश का दबाव जब इतना गहरा हो उठता है कि हमारी चेतना स्वयं परिवेश का अंग बन जाए और अंधेरा हमारी नसों में समा जाए या हम थक हार कर अंधेरे को स्वीकार करने के लिए विवश हो जाएं—ऐसी स्थिति में हम—संवेदनात्मक स्तर पर 'रिएक्ट' नहीं कर सकते। 'रिएक्ट' करने के लिये जरूरी है कि भीतर किसी कोने में सार्थक जीवन मूल्यों का एक संसार दबा पड़ा हो। मिश्र जी इसी कोने वाली जमीन को हलके से दबाते हैं। कुछ इस तरह जैसे ये जीवन मूल्य हमारी आत्मा की आवाज बनकर उभर रहे हों:—

"लगता है मैं भी
कहीं खो गया हूं इस अनाम जंगल में
अपने में अपने से अलग
लेकिन कौन है
जो रह-रह पुकारता है
मेरा नाम ?" (अपने में अपने से अलग)

यहां देखने लायक यह है कि किस तरह एक शब्द 'नाम'— आस्वाद के स्तर पर गहरे व्यंजनात्मक प्रभाव से उस अस्तित्वगत सत्ता की तरफ संकेत करने लगता है, जो सार्थक जीवनमूल्यों की नींव पर खड़ा है। आस्वाद के इस स्तर तक पहुंचने के लिये आवश्यक है कि हम आत्मिक स्तरों से उठी मूल्यवादी व्यवस्था के पक्षधर हों। इस प्रक्रिया के प्रति सकारात्मक दृष्टि का दबाव अनुभव करने में रचनात्मक रूप से विवश हों।

कहना न होगा कि रामदरश जी की चिन्ता के केन्द्र में मानवीय मूल्यों का वह जीवन्त और अर्थवान संसार संगठित है, जो जीवन की अर्थवत्ता को प्रमाणित करता है। इस मूल चिन्ता को वे जीवन के प्रत्येक पक्ष में संयोजित और आयोजित होते देखना चाहते हैं। इस प्रक्रिया में वे कभी सीधे सपाट कथन का सहारा लेते हुए आलोचकों को इस बात की पूरी छूट देते हैं कि वे उनकी काव्य प्रतिभा के चुक जाने का अस्त्र पाकर उन पर आक्रमण करने की जगह निश्चित कर लें, तो ठीक वहां पर समकालीन हिन्दी कविता में अपनी जीवन्त उपस्थिति का अहसास कराकर उनकी मान्यता में कहीं न कहीं सेंध भी लगाते है। इस सन्दर्भ में दो कविताओं का उदाहरण देना चाहूंगा। पहली कविता है 'औरत'। 'औरत' को पूरे गार्हस्थ परिवेश में रखकर उसकी पीड़ा को देखने-दिखाने की कोशिश के रूप में चरितार्थ यह कविता लगभग सपाट कथनों का सहारा लेती हुई चलती है। यहां परिवार के प्रति उसके समर्पित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तित्व को सहानुभूति और आंतरिक पीड़ा के जटिल तनाव के द्वन्द्व के साथ रेखांकित किया गया हैः—

"सोचता हूं—
तुमने क्या किया जिन्दगी भर
गृहस्थी के जुए में जुतने के सिवाय
पति कागज कलम लेकर
बड़े-बड़े संवेदनों और मूल्यों की
रचना करते रहे
और खुद बड़ा बनते रहे
बच्चे खिलते-महकते रहे
× × × ×
और तुम चरखे की तरह घर के भीतर
चलती रही
पति और बच्चों की खुशी में
ढलती रही
अनाम जीती रही" (औरत)

कविता की प्रचलित शर्तों से बाहर निकलने की प्रक्रिया में संरचनात्मक स्तर पर पूरी कविता लड़खड़ाती-सी प्रतीत होती है—यद्यपि मूल्य बोध के स्तर पर कविता सशक्त है। कहा जा सकता है कि बोल-चाल की भाषा का सर्जनात्मक इस्तेमाल होते-होते रह गया है।

दूसरी कविता है 'धर्म-२'। इस कविता के सहारे मिश्र जी धर्म की उस 'नब्ज' पर अंगुली रखते हैं जो जीवन की गतिशीलता और रचनात्मकता का जीवन्त प्रतीक है। उसका चरित्र अग्रगामी और पवित्र है। वह तोड़ता नहीं, जोड़ता है। वह हमारी सक्रिय संवेदना का अर्थवान हिस्सा है। मनुष्य ने धर्म की इस मूल चेतना को लगभग भुला दिया है। आज धर्म एक दूसरे की निन्दा करने का, मरने-मारने का, अपनी-अपनी डफली बजाने का साधन हो गया है। मिश्र जी ने इस तथ्य को संप्रेषित करने के लिये एक नाटकीय संवादयोजना का सहारा लिया है। वे 'क्षिति-जल-पावक-गगन-समीरा' वाली जमीन से कविता को उठाते हैं और एक संश्लिष्ट बिम्ब-योजना के सहारे प्रत्येक के स्वभाव का सर्जनात्मक स्वरूप निर्मित करते हैंः—

"मैंने पानी से पूछा—
तुम्हारा धर्म क्या है?
वह कल-कल करता हुआ?
छोटे बड़े सभी खेतों की ओर दौड़ चला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और चारों ओर
हरियाली का उत्सव जाग उठा।" (धर्म)

इसी तरह हवा, आग, आकाश और धरती के सहज स्वभाव को प्रगतिशील अन्तर्दृष्टि और रचनात्मक निष्ठा से खोलते हुए वे बड़ी आहिस्ता से उसे पाठकीय संवेदना में रूपान्तरित कर देते हैं। ऐसा लगता है जैसे मिश्र जी ऐसी उर्वर संवेदनात्मक जमीन का निर्माण कर रहे हों, जिससे धर्म की मूल चेतना का बिरवा फिर से जड़ पकड़ सके। कविता का अंत होता है:—

"मैंने सोचा
हम भी तो हवा, पानी, आकाश, आग और
धरती से बने हैं
लेकिन हमने उन्हें अलग-अलग धर्मों में
बांट दिया है
उन पर अपने-अपने नाम लिखकर
उनको उन्हीं से काट दिया है।" (धर्म)

हमारे स्वार्थपूर्ण धार्मिक चरित्र पर की गई यह सार्थक टिप्पणी सहज टिप्पणी नहीं है, हमें भीतर से झकझोरने की कामयाब कोशिश है, जहां से हमारे चारित्रिक बदलाव को दिशा मिलती है। संरचनात्मक स्तर पर अत्यन्त सशक्त ढंग से बुनी गयी यह कविता उन आलोचकों के लिये एक जवाब है, जो समकालीन कविता के पूरे परिदृश्य से उन्हें काटने पर आमादा हैं। एक सहज, संवादयुक्त और आत्मीय भाषा के जरिये मिश्र जी समकालीन हिन्दी कविता में विकसित होती भाषा की 'इनडिसेन्सी' और 'बिटविन द लाइन्स' में बने रहने की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति को तोड़ते हैं। भाषा का यह 'रियलिज्म' ज्यादातर युवा कवियों में देखने को मिलता है।

यह सच है कि सदियों से चले आ रहे हिंसा क्रमों की क्रूर निरंतरता ने पूरी की पूरी मनुष्यता को खतरे में डाल दिया है। क्रूर अमानवीय स्थितियों का दबाव धीरे-धीरे इतना गहराता जा रहा है कि आदमी का पूरा का पूरा चरित्र संदेह के घेरे में सिमट गया है। इस खतरे ने जहां प्रकृति और मनुष्य के रिश्ते में दरार पैदा किया है, वहीं मनुष्य और मनुष्येतर जीवों के रिश्तों में भी खौफनाक दहशत का दूषित रक्त प्रवाहित कर दिया है। मनुष्य द्वारा पर्यावरण पर किये जा रहे खतरनाक हमले उसकी हिंसक प्रवृत्ति के सबसे ताजा सुबूत हैं। इस हिंसक सिलसिले का कोई अंत दिखाई नहीं देता। यह क्रूर सत्य है। इस यथार्थ की अनुभूति को पूरे प्रभाव में सर्जनात्मक स्तर पर संभव कर देने की सार्थक कोशिश रामदरश जी के यहां चरितार्थ हुई है। इस कोशिश के विभिन्न आयाम हैं, जो कोई एक स्तरों की रचनात्मक प्रक्रिया से जुड़ते हुए एक बिन्दु पर संगठित होते हैं और वहां से दृष्टि-बोध के स्तर पर जीवन की खास चिन्ता को पूरी अर्थ-प्रेरणा से प्रक्षेपित करते हैं:—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"कोयल से मैंने कहा—
गाओ
कुछ सन्नाटा कटे
वह चुप रही
मैंने कहा—
मेरे पास आओ
कुछ सन्नाटा कटे
वह डाल पर बैठी रही
मैंने कहा—
अच्छा सुनो मैं ही गाता हूं
उसने सहमी निगाहों से चारों ओर देखा
और एकाएक उड़ गयी" (बसन्त)

कोयल का सहमी निगाहों से चारों ओर देखना और एकाएक उड़ जाना—मनुष्य के उस चरित्र पर बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न है, जिसे उसने प्रकृति और मनुष्येतर प्राणियों के संसार में नकारात्मक हस्तक्षेप करके विकसित किया है। इस हस्तक्षेप में परोक्ष रूप से एक खास किस्म का सांस्कृतिक अपसरण भी शामिल है, जिसे मिश्र जी ने सर्जनात्मक स्तर से संकेतित किया है। यह संकेत एक त्रासद अनुभव बनकर 'चिड़िया' कविता में चरितार्थ हुआ है:—

"चिड़िया
उड़ती हुयी कहीं से आयी
बहुत देर तक
इधर-उधर भटकती हुई
अपना घोंसला खोजती रही
फिर थक कर एक जली हुयी डाल पर बैठ
गयी
और सोचने लगी
आज जंगल में कोई आदमी आया था
क्या ?" (चिड़िया)

अंतिम पंक्ति में निहित तीखी व्यंग्यात्मक चमक आदमी के नृशंस चरित्र को एक तिलमिला देने वाली सहजता से खोलकर—'वसन्त' कविता में निहित प्रश्नचिह्न या टिप्पणी को और संतुलित और अनुभूतिगत यथार्थ की संवेदना से संयमित कर देती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिश्र जी के गीतों में प्रकृति के नाना क्रिया-व्यापारों को बड़ी सूक्ष्मता से पकड़ा गया है। कहीं 'पुरवइया कुन्तल जाल-सी उमड़ रही है' तो कहीं 'खेतों की सिकुड़ी साड़ी में तिजहरिया अलसाई-सी पड़ी' है। कहीं 'पीली बेला में कछार की सरसों का वन फूला है' तो कहीं 'नंगी पीपल की टहनियां मन मारे' खड़ी हैं। कहीं 'बादलों का लौटना ऐसे लग रहा है जैसे राही थक हार-कर संध्या समय मेले से लौटे हों तो कहीं लगता है कि ये बादलः—

"जंगल-जंगल, बारी-बारी
खेतों-खेतों, क्यारी-क्यारी
आंगन-आंगन, द्वारे-द्वारे
दिनवा रतिया, सांझ सकारे
झरते झर-झर
करते थर-थर
इनके भरे-भरे जीवन घट का
जाने क्या फूट गया है।" (आते घिर घिर)

अंत्यानुप्रास के चमत्कार से संगीतात्मक या ध्वन्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करना गीति-काव्य के क्षेत्र में कुछ करना नहीं है। मगर ध्यान देने की बात यह है कि यहां अंत्यानुप्रास के साथ प्रत्येक पंक्ति में सार्थक शब्द आवृत्ति का अंतःसंवाद बिल्कुल नया प्रयोग है। इस प्रयोग में लोकजीवन से उठाये गये शब्द ऐसे सहज बहाव के साथ प्रयुक्त हुए हैं मानो वे बादलों के साथ हीं आये हों और बरसकर टप्-टप् अपनी जगह निश्चित कर लिये हों। आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य में दृश्य और श्रव्य बिम्ब के संरचनात्मक कसाव से निर्मित मिश्रित बिम्ब का यह अद्भुत उदाहरण है।

यह सही है कि प्रकृति के नाना क्रिया-व्यापारों की इस सूक्ष्म पकड़ के प्रारम्भिक दौर में रोमानी कल्पना का वह रूप विद्यमान है, जिसे छायावादी संस्कार की उपज कहा जा सकता है। मसलनः—

"डालियों की आड़ से निशीथ के निकुंज में
विरहमयी पपीहरी खड़ी किसे बुला रही" (रात की पपीहरी)

लेकिन यहां भी 'डालियों की आड़ से' का पूरा 'प्राकृतिक बिम्ब'—छायाधादी काव्य-भाषा के 'बिम्बात्मक मैनरिज्म' से बाहर निकलने का संकेत जरूर देता है। इस संकेत या छटपटाहट वाली संवेदना ने जटिल यथार्थ की पेचीदगियों से गुजरते हुए प्रकृति की कोमल और लययुक्त काया को जब छिलते हुए पाया तो उसका रचनात्मक बोध जैसे तिलमिला कर और तीखा हो गया। इस तीखेपन ने भाषा की प्रारंभिक बिछलन को समेटते हुए—उसकी यथार्थ व्यंजित वास्तविकता को पकड़ने में पूरा सहयोग दिया और गीत की भंगिमा ही बदल गयीः—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"दौड़ता-सा हांफ़ता दिन
एक नीली झील पर आ रुक गया है
भागते रास्ते ज्यों सांप
तल पर शान्त उतराए हुए हैं
बिछड़ते मिटते हुए चेहरे
सतह पर फूल ज्यों छाए हुए हैं
टूटकर उड़ता हुआ आकाश
ठहरा-सा समूचा झुक गया" (फागुनी शाम)

शमशेर के शब्द उधार लेकर कहें तो कह सकते हैं कि 'रामदरश मिश्र एक सच्चे कवि हैं। बहुत बड़े कवि नहीं, मगर बहुत संवेदनशील, सच्चे लिरिक कवि' और यह 'लिरिकल वैल्यू' बहुत हद तक उनके कविकर्म की सार्थकता और शक्ति का भी सशक्त प्रमाण है।

आस-पास के परिवेश से सीधा साक्षात्कार कराते हुए रामदरश मिश्र बहुत बार 'आइरोनिक सिम्पैथी' विकसित करते हुए कविता पर अपनी पकड़ ढीली करते हैं। उनके यहां यह प्रयास सायास है। ऐसा करने में एक बहुत बड़ी सर्जनात्मक सुविधा यह है कि व्यंग्य की रचनात्मक संवेनना को उन हलकों या प्रदेशों की अनछुई जगहों तक आसानी से पहुंचाया जा सकता है जहां गहरे स्तर पर सीधा-सादा 'स्टेटमेंट' ही कविता की प्रचलित शर्तों को तोड़कर कविता की शक्ल अख्तियार कर लेता है। इस सन्दर्भ में 'जुलूस' कविता का उदाहरण देना गलत न होगा:—

"चलो-चलो जुलूस आ रहा है
उठो-उठो जुलूस आ रहा है
बोलो-बोलो धर्म की जय बोलो
उठो-उठो जुलूस के साथ हो लो
जुलूस में एक उन्माद है
लोग नाच रहे हैं, गा रहे हैं
विधर्मियों के नाश के नारे लगा रहे हैं" (जुलूस)

विधर्मियों के नाश के लिये उन्मादित अवस्था में नाचना-गाना और दूसरी तरफ नारे लगाना, किसी भी धार्मिक जुलूस का एक खास चरित्र है, जिसकी मनोवैज्ञानिक पकड़ के साथ कविता शुरू होती है। एक अद्भुत सहजता के साथ। इसके बाद कविता में आये एक-एक चित्र पूरी भावात्मक विफलता और संवेदनात्मक पकड़ के साथ इस तरह रखे गये हैं कि धार्मिक स्तर पर शोषण की पूरी प्रक्रिया स्पष्ट हो सके। पूरा का पूरा धार्मिक शोषण अपनी असलियत में नंगा हो उठता है:—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"बहस मत करो
देखो बहस करने वालों की जीभ
कटी हुई है
और उनके सिरों में से भेजे
निकाल लिये गये हैं" (जुलूस)

इस 'प्रगतिशील समझ' का अर्थवान रिश्ता उस लोकजीवन और आस-पास के परिवेश से है, जहां से कवि ऊर्जा ग्रहण करता है। स्पष्ट है कि रागात्मक अन्तःवृत्ति को सामाजिक सरोकारों से जोड़कर गहरी करुणा और संघर्ष करने की अनुभूतिजन्य दृष्टि विकसित करते हुए मिश्र जी जिस जमीन पर खड़े होते हैं वहाँ अपनी जातीय और सांस्कृतिक परम्परा की समझ का है, उसकी पड़ताल का है। कविता का अन्तिम हिस्सा अत्यन्त मार्मिक है :—

"हां, जुलूस जा रहा है
× × × ×
रथों पर बैठे हैं ऊँचे लोग
और लाखों फटेहाल लोग
रथ खींच रहे हैं
जिन्हें नहीं मालूम कि
यह जुलूस कहां जा रहा है" (जुलूस)

रथ में जुते लाखों फटेहाल लोगों की दिशाहीनता पर की गई यह महज टिप्पणी या भावुक हृदय से उछाला गया सवाल भर नहीं है, बल्कि आगे बढ़कर उस पूरी सामाजिक व्यवस्था को जड़ से हिलाने की कोशिश है जहां से इस प्रक्रिया की शुरूआत होती है। सदियों से धार्मिक गुलामी के संस्कार से संस्कारित निरीह जनता के भीतर वैचारिक समझ विकसित करने की कोशिश है जो धार्मिक शोषण-तंत्र के विरुद्ध एक आवाज बनकर खड़ी हो सके। इस अर्थमें जुलूस एक बड़ी रचना है। सचमुच कविता को ठोस मानवीय स्थितियों से जोड़कर उन स्थितियों के मध्य उपजे सांस्कृतिक संकट के प्रति सचेत और जागरूक बनाये रखना तथा मानव जीवन की रचनात्मक संघर्ष की दिशा में सक्रिय रखना मिश्र जी के यहां सर्जनात्मक विवेक के साथ उपलब्ध है। इस विवेक में पूरी की पूरी गतिशील और चेतन परम्परा अपनी भावात्मक पकड़ में जीवित हो उठी है।

वस्तुतः रामदरश मिश्र की कविताओं से गुजरते हुए यह अहसास बराबर बना रहता है कि हम यथार्थ की पुनर्रचना के बीच खड़े न होकर यथार्थ को अनुभूति के स्तर पर घटित होते हुए महसूस कर रहे हैं। एकदम चुपके से हमारी संवेदना का जरूरी हिस्सा बनती ये कविताएँ मानसिक यथार्थ और वस्तुजगत् के यथार्थ को ऐसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिन्दु पर संगठित करती हैं, जहाँ मानवीय मूल्यों का एक जीवित संसार पूरी सर्जनात्मक आस्था से प्रकाशित हो उठता है। इस आस्था में वह तिलमिला देने वाली सहजता विद्यमान है, जो कविता के प्रचलित भाषिक समीकरण में 'फिट' न होकर उस 'बैरियर' को तोड़ती है, जहाँ आज की तमाम तथाकथित प्रगतिवादी और जनवादी कविताएँ कैदी की तरह खड़ी हैं। जटिल परिवेशगत दबाव के तहत विकसित होती तमाम विद्रूपताओं, विसंगतियों और हिंसक कारवाइयों की पहचान करने तथा उनके खिलाफ आवाज उठाने और संघर्षशील तेवर विकसित करने की समझ पैदा करती ये कविताएँ निश्चित रूप से 'प्रगतिशील अन्तर्दृष्टि तथा रागात्मक अन्तर्निष्ठा' की कविताएँ हैं। यह अवश्य है कि शिल्प के स्तर पर कभी-कभी एक खास किस्म की भाषिक खड़खड़ाहट और उपदेशीय वृत्ति कविता को कविता बनने से ही रोकती है। जिस जगह भी ऐसा हुआ है, वहाँ कविता का भाषिक संतुलन बिगड़ा है। इस असंतुलन के प्रति फ़क्कड़भाव अक्सर खटक जाया करता है।

निरंतर विकासमान जीवन के सभी हलकों या प्रदेशों की छोटी से छोटी हरकतों को पूरी काव्यात्मक तर्कशीलता और अनुभवात्मक ईमानदारी से पकड़ना एक सच्चे और संवेदनशील रचनाकार की सर्जनात्मक विवशता हुआ करती है। यह कहना शायद गलत न होगा कि कुछेक सीमाओं के बावजूद रामदरश मिश्र की कविताएं इस सर्जनात्मक विवशता का यथेष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभवों के छन्द : गीत

डा० हरिमोहन

"मानव संवेदनाओं और मूल्यों के सन्दर्भ में ही नये-नये प्रयोगों की सार्थकता है, यह विश्वास लेकर मैंने नयी कविता भी लिखी है और नये गीत भी। यों मैं नये गीतों को अ-नयी कविता नहीं मान पाता।

रामदरश मिश्र का काव्य-क्षेत्र में प्रवेश गीतों के माध्यम से ही हुआ। प्राकृतिक और मानवीय सौन्दर्य तथा प्रेममूलक संवेदना की उद्दामता उनके आरंभिक गीतों में मिलती है जो निश्चय ही रागात्मक है। बाद में धीरे-धीरे उनके गीतों से यह रोमानी प्रभाव, रागात्मक उफान और रागात्मक उत्तेजना का फैलाव छँटता गया और अनुभवों में ठोसपन आता गया है।

काव्य में केवल विचार-बिम्ब ही पर्याप्त नहीं। कविता में आज विचार की भूमिका होती तो जरूर है लेकिन विचार को अनुभवों के माध्यम से गुजरना होता है। यदि नहीं गुजरता तो वह केवल एक विचार का प्रवाह या वर्णन भर रह जायेगा। अतः काव्य का बुनियादी रिश्ता अनुभव से ही है और अनुभव अपने स्वभाव में रागात्मक होते हैं। मिश्र जी ने इन तथ्यों को दृष्टिपथ में रखकर अपने काव्य में संवेदना को ही विशेष महत्त्व दिया है। यही कारण है कि गीत और नवगीत में जो अन्तर है वही मिश्र जी के 'पथ के गीत' की रचनाओं और 'बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ' तथा 'पक गई है धूप', 'कन्धे पर सूरज' में संग्रहीत गीतों में है। यही क्यों ? 'पथ के गीत' तथा 'कन्धे पर सूरज' संग्रहों में उनकी कुछ कविताओं को छोड़ कर बहुत-सी कविताओं की अन्तः शक्ति के मूल में रागात्मक मन स्थिति दिखाई देती है। कहीं-कहीं तो जो लोग नवगीत और नयी कविता को अलग मानना चाहते हैं वे तय नहीं कर पाते कि मिश्र जी की ये रचनाएँ नवगीत हैं या नयी कविता। जैसे :—

"हो···हो...हो...हो...
गाता है पवन
नदी कहती है
सखे ! सुनो

---

१. रामदरश मिश्र : बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ की भूमिका से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"बहती मैं रहूँ
और थामे तुम बांह यों रहो ।
कहाँ-कहाँ की नावें आती हैं
भर-भर अनगिन सपने
राह देखते ही आँखें खोले
सबके तट अपने-अपने
बहती मैं रहूं इन्हें लेकर
तुम मुझ को साथ ले बहो ।
उड़ा-उड़ा लाओ प्रिय सांसों में
खेतों के साँसें निर्बंध
रंगों पर रंगों की आभाएँ
बन-फूलों की कच्ची गंध
कच्ची सड़कों पर घर जाते
पैरों की कथा तुम कहो ।
फट गया झुका लंबा-सा कोहरा
उड़-उड़ कर आते स्वर आप
झरते मुझमें छोटे-छोटे पर
लहरों में ढोलक की थाप
जाती है सही न अकेले
साथ-साथ
तुम भी यह ऋतु सखे सही ।" ('नदी कहती है', 'कन्ध पर सूरज')

इसी संग्रह की 'खो गई है सब यात्राएँ साथ की', 'गाँव चार कविताएं', 'बहती रही नदी', कोई ऋतु आयी थी' आदि कविताएँ इसी तरह की हैं ।

लयात्मकता काव्य का हृदय तत्त्व है, काव्य में संवेदनशीलता और मर्मस्पर्शन शक्ति का उद्भावक तत्त्व भी यही है । कोरी भावुकता आज के काव्य से कोसों दूर हैं, किन्तु उसने अपने अन्दर इस लयात्मकता के लिए अर्थ की लय का सन्धान किया है । यही बात अगर नवगीत के लिए भी कह दी जाये तो स्वीकार कर लेनी चाहिए। मिश्र जी की काव्य चेतना, लय और उसके आंतरिक गुणों से परिचित है इसलिए उनके गीतों में वह आंतरिक प्राणवत्ता, लयात्मकता देखने को मिलती है । इस क्रम में एक गीत की कुछ पंक्तियाँ देखी जा सकती हैः—

"एक नीम-मजरी
मेरे आँगन झरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"कांप रहे लोहे के द्वार
आज गगन मेरे घर झुक गया
....
एक बूंद में समुद्र अट गया
एक निमिष में समय सिमट गया
वायु-वायु बावरी
किसकी है भांवरी
सांस-सांस बन रही फुहार" (प्रतिनिधि साहित्य : १९६२)

उनके गीतों में मात्र लयात्मकता ही नहीं, उनमें अर्थ, रंग और गंध का कुशल समावेश भी है। उन गीतों को पढ़ते समय लगता है कि शब्दों में अर्थ के साथ गंध का सहज प्रवाह हैं और रंगों का सौन्दर्य सूर्य की किरणों के सदृश उनमें आत्मसात है :—

"पके धान-सी धूप भरी पतझर आया
सूना-सा आँगन धरती का भर आया
नारंगी-सी गंध हवा में भाती है
चुप्पी है यह अजब कि छू-छू जाती है।"

(प्रतिनिधि साहित्य : १९६१)

"पके धान-सी धूप और नारंगी-सी गंध" में इसी रंग और गंध की अत्यन्त कौशलपूर्ण अभिव्यक्ति है। "चुप्पी का छू-छू जाना" में कौशल स्पष्ट है। "चुप्पी" में भी स्पर्श की विचित्र अव्यक्त ध्वनि होती है।

आज के गीत की रागात्मक चेतना समकालीन मनुष्य की है। मिश्र जी के इधर के गीतों में समकालीन जीवन की जटिलताओं की अभिव्यक्ति मिलती हैं। 'पक गई है धूप' के खण्ड ३—'समय जल-सा' की रचनाएँ पारम्परिक या रोमानी न होकर प्रासंगिक और आधुनिक है। इनके पीछे ठोस सामाजिक स्थिति और सदर्भ हैं। उदाहरण के लिए ऐसे एक गीत की पंक्तियाँ देखी जा सकती है :—

"फूल-फूल में बन्द हो रहा
झुकता-सा आकाश
दिशा-दिशा के बीच झूलता
है पुल-सा वातास
मौन गूंज़-सी एक न जाने किसकी किसके नाम"

(आती-आती-सी शाम)

उनके गीतों में प्रकृति के मानवीकरण के छायावादी रंग से ज्यादा आज के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हारे हुए मनुष्य के सम्बोधित जीवन की एक मौन अनुगूंज है जो आज की मशीनी जिन्दगी में बेहद प्रासंगिक लगती है।

मिश्र जी शब्द-चयन तथा बिम्बविधान के प्रति विशेष सचेष्ट हैं। उनका कथन है—"मैं काव्य में बिम्बविधान को बहुत आवश्यक मानता हूँ विशेषतया आज के काव्य में। आज का जटिल जीवन-बोध और अनुभूति कही नहीं जा सकती, अनुकूल बिम्बों द्वारा ध्वनित की जा सकती है। बिम्ब एक ओर कवि के कथ्य को रूप देते हैं दूसरी ओर पाठक के मन में पूरा प्रभाव उतारते हैं क्योंकि हर अच्छा बिम्ब अनुभूति-चित्र होता है। ये बिम्ब प्रकृति से व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों होते हैं।"

कवि की शक्ति-सामर्थ्य बहुत कुछ-शब्द-चयन पर भी निर्भर करती है। मिश्र जी भाव और प्रसंगानुसार शब्दों का चयन करते हैं, वे शब्दों की सामर्थ्य को टटोलते हुए उनका स्वाभाविक प्रयोग करते हैं। शब्द-चयन की कतिपय विशेषताएँ उनके यहाँ उल्लेखनीय हैं। वे प्रकृति के अत्यन्त भावुक कलाकार हैं। उनकी भाव-प्रवणता अनेक स्थलों पर दुहराव के रूप में प्रकट हुई है :—

"नदियों-नदियों, तालों-तालों
पर्वत-पर्वत, ढालों-ढालों
रास्तों-रास्तों, घाटों-घाटों
गाँवों-नगरों, हाटों-हाटों" (बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ)

पाठक के मन पर भाव, मनः स्थिति अथवा परिवेश की गहरी छाप छोड़ने के लिए इसी प्रकार की पुनरावृत्तियाँ अन्य कई गीतों में भी देखी जा सकती हैं, यथाः—

"पूरबी झरोखे से डाकिया
फेंक गया एक गोल पाती।
घर आंगन में, मन में,
तभी से कबूतर-सी धूप फड़फड़ाती।
पाती जो खुली
पांती पांती
किरणें झर गयी......
सोने के अक्षर-अक्षर......
मह-मह कली-कली भर गयी
किसके आने का स्वर
जो हवा-हवा गीत गुनगुनाती !"
('धूप फड़फड़ाती', 'पक गई है धूप')

भावानुकूल सार्थक शब्दों का प्रयोग ही मिश्र जी को इष्ट है। जहाँ कहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी विशेष परिवेश की व्यंजना में आम बोल-चाल के शब्द अनुपयुक्त अथवा कम सार्थक; अपरिपक्व उन्हें लगे वहाँ उन्होंने तत्सम शब्दों का प्रयोग मुक्तमन से किया है। उनकी कुछ कविताओं में संस्कृत के इन तत्सम शब्दों की अपनी छवि है, कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

"घाटियों में गा रहा लोहा तड़प कर
दूर तक खुशबू अनल की वायु ढोता है !" (पक गई है धूप)

भाषा में कोमलता और सार्थकता लाने के उद्देश्य से, भाषा को सरल और सार्वजनिक समझ के समकक्ष बनाने के लिए, दूसरे शब्दों में अपनी संवेदना को सहज बनाने के लिए उन्होंने तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्‌भव शब्दों का प्रयोग अधिक किया हैं, यथा :—

"बादल घेर-घेर मत बरस कि मेरे लाज-बसन डूबे
रह रह कांपे हिया हवा में खुले खेत में धान
आँखों में परदेशी काँपे, रोम-रोम में बान
याद का बाँध उठा है टूट कि बिरहा के ये छन डूबे !"
('बादल घेर-घेर मत बरस' बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ)

इसी तरह :—

"ज्यों कुलाँचता तृन-तृन
सोन रंग बाल-हिरन
घर मेरे एक किरण
बड़े भोर आयी है।" ('एक गीत', 'पक गई है धूप')

उनकी संवेदना सामान्य जन की संवेदना है। वे लोक-अंचल से गहरे जुड़े हैं। उनके काव्य में उसी धरती का रस प्रवाहित है, उसी धरती की धड़कन है जो सभी तरह के शिष्ट और विशिष्ट शब्दों का प्रयोग करती हैं। कुछ उदाहरणों में लोक-शब्दावली के सार्थक प्रयोग को विशेष रूप से रेखाँकित किया जा सकता है :—

"जंगल-जंगल, बारी-बारी
खेतों-खेतों, क्यारी-क्यारी
आंगन-आंगन, द्वारे-द्वारे
दिनवाँ-रतियाँ, साँझ सकारे !"
('आते घिर-घिर', बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ)

अथवा :—

"बाट बुहारूँ दीठि-दीठि से तेरी
भर-भर जाये कौन धूल की ढेरी"
('बाट बुहारूँ', बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनश्चेतना में संकल्पित दृश्य के रूपांकन के लिए वातावरण की सृष्टि अत्यन्त आवश्यक होती है। शब्दों की ध्वनि में विभिन्न अर्थों की अनुगूँज विद्यमान रहती है। मिश्र जी इस तथ्य से परिचित हैं। उनके शब्द-चयन की यह प्रमुख विशेषता है कि शब्दों का नादात्मक सौन्दर्य अपना अलग आकर्षण रखता है। शब्दों के उच्चारण मात्र से वातावरण जादू की तरह उभर कर आता है, और गीत अपना पूरा चित्र मानस-पटल पर अंकित करता है। इन शब्दों से गीतों में गति, लय और स्पष्टता तथा कहीं-कहीं भिन्न अर्थो की व्याप्ति देखी जा सकती है। यथा :—

"टन......टन......टन......
थर्रा उठा सारा टीसन" (बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ)

"झरते झर झर
डरते थर थर
......पड़ते ढर ढर
आते भर भर" (बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ)

मिश्र जी जीवन्त और ताजा अनुभूतियों के सफल कलाकार हैं। जीवन्त अनुभूतियों का स्वभाव ही मूर्तिमान होने का है। यही कारण है कि उनकी प्रत्येक पंक्ति, पद्यः अनुभूतियों को रूपापित करने वाले मौलिक बिम्बों के सर्जन में संलग्न मालूम पड़ती है। जैसा पहले कहा कि उनका विश्वास है "आज का जटिल जीवन-बोध और अनुभूति कही नहीं जा सकती, अनुकुल बिम्बों द्वारा ध्वनित की जा सकती है। विम्ब एक ओर कवि के कथ्य को रूप देते हैं दूसरी ओर पाठक के मन में पूरा प्रभाव उतारते हैं क्योंकि हर अच्छा बिम्ब अनुभूति-चित्र होता है।"

अनुभूति की सच्चाई का आग्रह रखने के कारण वे चित्रात्मकता बराबर बनाये रहे हैं। विषयानुरूप कोमल-मधुर, विराट्-विस्मयकारी और विद्रूप वीभत्स चित्रों का उनके गीतों में अभाव नहीं है। उदाहरणार्थ केवल दो प्रतिनिधि चित्र लूंगा :—

"झर रहीं अनगिनत रेखाएँ महकती
थकी वायु नहा रही हैं"

इस चित्र में वायु के जल-विहार का सूक्ष्म सांकेतिक दृश्य प्रस्तुत किया गया है। दिखती नहीं तो क्या हुआ महकती जल-रेखाएँ बता रही है कि कोई आवारा लड़की छिप कर नहा रही है, थकान मिटाने के लिए। कैसी होगी वह जिसके स्पर्श से लहरें महक उठी हैं। क्या ऐसे महकते चित्र मैले हो सकते हैं? दूसरा चित्र शाम शीर्षक गीत (पक गई है धूप) में :—

"फूल-फूल में बंद हो रहा
झुकता-सा आकाश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिशा दिशा के बीच झूलता
है पुल-सा बातास
मौन गूँज-सी एक न जाने किसकी किसके नाम"
(आती-आती-सी शाम)

......रूप, गंध, ध्वनि, रस और स्पर्श की अनुभूतियों के संश्लिष्ट बिम्बों की योजना उनकी प्रकृति-सम्बन्धी रचनाओं में प्रचुरता से हुई हैं। बदली हुई ऋतुओं की स्वच्छन्द अदाओं पर मिश्र जी का मन मुग्ध रहा है। जैसे उन्होंने अन्तः प्रकृति के विविध मूडों को अंकित किया है, वैसे ही प्रकृति के जीवन के उतार-चढ़ावों को पूरी मस्ती से व्यक्त किया है। सेमल, हर सिंगार, अमलतास, गुलमुहर, महुआ आदि से होती हुई कवि की दृष्टि कदम, नीम मंजरी और झरबेर तक गयी है। ये वृक्ष प्रकृति के क्षेत्र की गतिविधियों के प्रतिनिधि पात्र बनकर गीतों में उपस्थित हुए हैं।

मिश्र जी के गीतों में छन्द सम्बन्धी नूतन प्रयोग मिलते हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :—

"झर-झर-झर पत्ते झरने लगे
भर आया दर्द से हिया
बुझ-बुझ कर खेतों के रंग बिखरने लगे।"

और:—

"श्वेत पखी एक चिड़िया-सी फुदकती धूप
उतरी द्वार पर
भर उठी है चहक रोपे हुए मेरे
फूल की हर डार पर।"

मैं यह मानता हूँ कि 'बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ' संग्रह के कुछ गीतों में पुरानापन है—जैसे—'बार-बार तुम आये', 'बाट बहारूँ', 'चैत आया है'। परन्तु उनके परवर्ती गीतों में ताजगी और नवीनता आती गई है।

रामदरश मिश्र के गीत हिन्दी-काव्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हैं। आधुनिक जीवन को अपने पूरे प्रभाव के साथ कवि ने अपने गीतों में उतारा है। इन गीतों में प्रकृति के वस्तु-व्यापार कवि के लोक-जीवन के संस्कारों से संकलित, निरावृत अनुभूतियों के अन्तरंग में लिपट कर उपस्थित हुए हैं। सत्य ही उनके गीत नूतन शिल्प के प्रतिमान हैं। उनके गीतों को 'गीत' कहें या 'नवगीत' कोई अन्तर नहीं पड़ता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बातें कुछ अपनी कुछ आपकी : गजल

डॉ० गोविन्द उपाध्याय

लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकार एवं कवि रामदरश मिश्र का यह ग़ज़लों का संकलन अनेक दृष्टि से विमर्श तथा विश्लेषण का हक़दार है। सबसे पहले इसके रचयिता के "ये ग़ज़लें" शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये मन्तव्य को समझ लेना आवश्यक है। ग़ज़ल के सन्दर्भ में कहा गया है, "मैं इस शैली पर अपना कोई अधिकार नहीं समझता।+ग़ज़ल की शैली में भी कुछ कविताएं लिखने का नम्र प्रयास किया है। पुनश्च वे कहते हैं, "...फिर भी ठेठ ग़ज़ल प्रेमियों को इससे तकलीफ पहुंचे तो क्षमा करेंगे।" ग़ज़लगो शायर होने का उनका कोई दावा भी नहीं। यहां यह कहना समीचीन होगा कि ये हिन्दी या हिन्दुस्तानी में कही गयी ग़ज़लें हैं। कुछ-एक अपवादों को छोड़कर उर्दू के प्रतीक एवं भाषा पर हूबहू न चलकर केवल उसकी तर्ज़े-बयानी, मिज़ाजे और कथ्य की मारक शक्ति ग्रहण की गयी है। ये ग़ज़लें निश्चित ही उर्दू की लम्बी यात्रा के बाद निखरी हुई और उसके परम्परागत अपने प्रतीकों पर आधारित ग़ज़लों से भिन्न होंगी ही। इसी दृष्टि से इन ग़ज़लों की परख उचित प्रतीत होती है।

ग़ज़ल की खास बात यह है कि इसमें अनेक प्रतीक जैसे लैला मजनू, शीरीं-फरहाद, यूसुफ-जुलैखा, गुलो-बुलबुल, सैयाद, आशियाना, चमन साक़ी-ओ-मीना, शमा-परवाना आदि के माध्यम कल्पनातीत अर्थों से भरे होते हैं, जबकि हिन्दी में ग़ज़ल कहने में इन आधारों का अभाव अवश्य दरपेश आयेगा। किन्तु यह अभाव हिन्दी ग़ज़लगोई को निश्चित रूप से काफी स्वतंत्रता प्रदान करता है। रचनाकार अपनी प्रतिभा से प्रतीक एवं मिथक का स्वयं निर्माण कर सकते हैं। मिश्र जी की ग़ज़लों में अनेक ऐसे प्रयोगों की चर्चा यथास्थान नीचे दर्ज है।

हिन्दी के अनेक मान्य कवि ग़ज़ल क्यों कह रहे हैं इस प्रश्न पर थोड़ा विचार आवश्यक प्रतीत होता है। मिश्र जी ने स्पष्ट कहा है ग़जल उनकी "मुख्य काव्य शैली नहीं रही है।" किन्तु मार्मिक तथ्य, उन्हीं के शब्दों में "चुटीलेपन के साथ दो-दो पंक्तियों में पूरी बात कह देना ग़जल की विशेषता रही है।" "शायद इस विशेषता के

---

१. रामदरश मिश्र : 'बाजार को निकले हैं लोग' (ग़ज़ल संग्रह)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसंग में भी अपने को आजमाने की इच्छा मन में जगी।" इस मनःस्थिति को केवल "सैर के वास्ते थोड़ी सी फ़ज़ा और सही" तकही सीमित मानना कठिन है। एक तो यह भी प्रतीत होता है कि छन्दमुक्त कविता से लोग कुछ अवश्य ऊबे से हैं। नये काव्यफॉर्म की तलाश में ग़ज़ल की ओर मुड़ना आश्चर्यजनक नहीं है। दूसरी बात अधिक विचारणीय यह होगी कि हिन्दी पर संस्कृत के अत्यधिक वोझ के कारण जुबान पर बैठने के बजाय यह कुछ खड़ी बोली सी बनी रही, जबकि उर्दू ने ब्रज, अवधी, शूरसैनी तथा पछांह की अन्य क्षेत्रीय बोलियों को अपने मिजाज में बड़ी सफलता के साथ ढाल लिया। अब यदि ग़जल शैली हिन्दी में चल निकली तो इसका प्रभाव सम्पूर्ण हिन्दी काव्य पर पड़ना काफी स्वाभाविक हो सकता है। अन्ततोगत्त्वा हिन्दी अधिक सहजता से अवाम के और क़रीब पहुंच सकेगी। सारांश यह कि ग़जल शैली हिन्दी काव्य विधा के नये मिज़ाज़ आयाम व अपेक्षाकृत अधिक व्यापक प्रभाव के द्वार खोल सके तो हिन्दी कवियों का इस शैली में अपनी प्रतिभा को निखारना अवश्य ही सराहनीय प्रयास होगा। विवेच्य संकलन की पहली ग़जल का मतला है :—

"बाजार को निकले हैं लोग बेच के घर को
क्या हो गया है जाने आज मेरे शहर को।"

इस आमफ़हम जुबान में कमाल की रवानी है। इसमें पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित बुर्जुवाजी संस्कृति एवं इसकी नक़ल में छोटी-छोटी सुख-सुविधा के लिये साधन जुटाने में बेहाल अन्य निचले आय वर्ग के लोगों की आम शहरी मनोवृत्ति पर व्यक्त आश्चर्य व्यंग्य की सरहद छूता दीखता है :—

"कितने हैं मेहरबान यहां के बहेलिये
कहते हैं परिन्दों से 'उड़ो' काट के पर को।"

यहां जैसे अनजाने में ही उर्दू के सैयाद और बुलबुल का प्रतीक हिन्दी में बड़ी सफलतापूर्वक ढला है। भाषा का परिमार्जन ध्यान देने योग्य है :—

"ठहरी हुई है भीड़ एक ऊबती हुई
लगता है कोई रहनुमा निकला है सफ़र को।"

फिर यहां भी 'रहनुमा', 'रहबर', 'रहजन' जैसा परंपरित उर्दू प्रतीक व्यंग्य रूप में बख़ूबी उभरा है। मिश्र जी के इस शेर में समाजी व सिय्यासी रंग स्पष्ट है और काफ़ी असर अंदाज भी रखता है :—

"चेहरों में कई चेहरे दिखाई मुझे देते
यह कौन सी नज़र है लगी मेरी नज़र को।"

नज़र लग जाने का मुहावरा अपनी ही नज़र संदर्भित करते हुए अपनी नज़र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के दोष को व्यापक परिप्रेक्ष्य दिया गया है। इसमें युगीन विसंगतियों को बड़ी सफाई के साथ अर्थ वैविध्य में पिरोया गया है। दूसरी ग़जल में छोटी बहए में मतला और कुछ शेर बड़े मार्मिक हैं :—

"तेज कितनी वक़्त की रफ्तार है
हर तरफ़ दीवार ही दीवार है।"

तर्जे-अदायगी एवं कथ्य की बारीकी को समाजी, सियासी और फ़लसफाई किसी भी पक्ष की ओर मोड़ सकते हैं :—

"जल रहा है आज उस घर में दिया
जान पड़ता है कोई बीमार है।"

जिस घर में दिया जलना बीमारी का सूचक हो उस घर के रात दिन का फ़र्क़ तथा अंधेरे का अनुमान स्वयं करें :—

"सांस जाती है मगर आती नहीं
कुछ बताने में हवा लाचार है।"

यह शेर भी अर्थ आयामों से भरा है और मार्मिकता में हृदयस्पर्शी भी। अगली ग़जल के सभी शेर अच्छे हैं और पर्याप्त व्यंग्य से भरे हुए हैं। एक शेर पर ध्यान दें :—

"जनाब खेल खेल में ही खुदा बन बैठे
मेरे जनम बीते आदमी सा होने है।"

अगली ग़जल बहुत ख़ूबियों से भरी है, आमफ़हम जुबान, उर्दू ग़जलियत का खासा रंग और भावभूमि अद्यतन दौर की :—

"वे जा रहे तो कहीं रास्ता रुका होगा
वे उठ रहे हैं तो कोई कहीं झुका होगा।"

इस ग़जल के दूसरे शेर पर गौर फर्माएं :—

"उनके हाथों में छलक आयी हिना की लाली
फिर कोई हाथ कहीं कील में ठुका होगा।"

यहां सितमगरों की नाज़ुकी के साथ उनकी क्रूरता की झलक बड़ी सफाई से व्यक्त है:—

"हो गयी तेज मंदिरों में अगर की खुशबू
गांव का गांव अछूतों का फिर फुँका होगा।"

इस शेर को चाहे जिस हद तक भी ग़जल का मिजाज मिला हो किन्तु मौजए-फिक्र तथा कथ्य की शैली इस मजामीन पर लिखी गयी कितनी ही रचनाओं को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धूमिल करने की शक्ति रखता है। आज सम्प्रदाय तथा जातियां सियासी हथियार हो चुकी हैं जिस पर प्रबुद्ध वर्ग बराबर आक्रमण करता ही रहेगा। अगली रचना छोटी बहर की है। हर शेर मारक शक्ति से भरपूर है :—

"रोशनी में बड़ा अंधेरा है
आज यह कौन सा सवेरा है।"

कथ्य की गहनता एवं अर्थ में बहुमुखी चोट करने के अन्दाज की स्वयं परख करें। अगले शेर की ख़ूबी अद्‌भुत है :—

"यह शहर वन है एक सांपों का
इसका मालिक कोई सपेरा है।"

वर्तमान जीवन में मानवीय मूल्यों को अनवरत डसती-चबाती हुई उस छद्‌म-मयी पाशविक प्रवृति के द्वार पर यह शेर दस्तक के समान है जिसके अन्दर सफ़ेद-पोश नाना तर्जों में ख़ामोश बीन बजाये जा रहे हैं। यहां प्रतीक रूप में 'सपेरा' का प्रयोग शहर की कैफ़ियत और 'मालिक' के साथ मिलकर क्रूर व्यंग्य की रचना करता है। इस ग़ज़ल का अंतिम शेर है :—

"नयी ख़ुशी से मछलियां जागीं
उनसे पहले जगा मछेरा है।"

मिश्र जी ने ग़ज़ल के अपने अन्दाज़ में 'बहेलिया' 'सपेरा' 'मछेरा' जैसे नये शब्द व प्रतीक दिए हैं जो उनकी रचनात्मक शक्ति के परिचायक हैं।

मिश्र जी ने ग़ज़ल में सामाजिक यथार्थ की विसंगतियों के तहत सर्वसाधारण लोगों की स्थिति और श्रमजीवियों के लहू-पसीने का विविध रूपों में हो रहे अवमूल्यन को अभिव्यक्त किया है :—

"झूठ रेखाएँ बना फिर वृत्त सा बनता गया
और सच का बिन्दु ख़ुद में थरथराता रह गया।
घाटियाँ मैदान जंगल जल रहे सब आग में
और अपने जल में बादल ख़ुद नहाता रह गया।"

इन पंक्तियों में कुछ शब्दों को छोड़ कर बाकी सब हिन्दी उर्दू दोनों में बख़ूबी इस्तेमाल होते हैं। इस पूरी ग़ज़ल में कथ्य की मज़बूती के बावजूद शेरों की तर्जे-अदायगी ग़ज़ल की नाज़ुकी तथा नफ़ासत के बहुत माकूल नहीं प्रतीत होती किन्तु अनेकानेक हिन्दी शब्दों का नवीन प्रयोग सफलतापूर्वक किया गया है। निश्चित ही मिश्र जी की ग़ज़लों की भाषा व शब्दप्रयोग कहीं कहीं अपनी तरह की ताज़गी व टटकापन लिए हुए भी काफी सशक्त हैं। इसी ग़ज़ल के कुछ शब्दों को देखें—उर्दू ग़ज़ल में इनका प्रयोग नहीं होता जैसे पशु, पंछी, तलघर रेखाएँ, वृत्त बिन्दु, जल, स्वयं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दीपक आदि। किन्तु समर्थ रचनाकार की शक्ति इतनी प्रखर होती है कि वह शब्दों में अजीब ताकत भर कर कथ्य के अनुरूप ढाल ही लेता है जैसा कि इस संकलन में अनेक स्थानों में स्पष्ट प्रतीत होगा।

उर्दू ग़ज़ल में महबूब की परिकल्पना आवश्यकतानुसार सामाजिक एवं राजनीतिक उत्पीड़न को व्यक्त करने के लिये की गई तथा उसे सितमगर क़ातिल आदि कहकर प्रकारान्तर से अपने समय के हुकूमत का छिद्रान्वेषण भी किया जाता रहा है। लेकिन हबीब के तसव्वुर के बिना भी ग़ज़ल में ऐसे मजमून बांधे गये। मिश्र जी की ग़ज़लों में भी यथार्थगत अनुभूति के विविध आयाम दोनों रूपों में प्राप्त होते हैं जो जमाने की नब्ज की सही पहचान प्रस्तुत करते हैं। कुछ शेर देखें :—

"छुरियां मानव लहू की प्यास में जलती गयीं
तेरी आंखों बीच आंसू झलमलाता रह गया।"

सपना देखना किसी मनोरम इच्छा की परिकल्पना है फिर भी आज सपना छू जाने भर की भयावह स्थिति की अनुभूति देखिए :—

"लहर सा खाता हूं हर नींद टूट जाने पर
हूं सोचता कोई सपना गया है छू तो नहीं।"

सिद्धान्त पर आधारित राजनीति की शून्यता में हुकूमत पर क़ाबिज होने का सीधा रास्ता मजहबी हथियार बन चुका है :—

"देवताओं के बुतों को तान कर
आदमी पर मारता बुतसाज है।"

इस जमाने के न्याय से अभ्यस्त लोगों के लिये यह शेर काफी व्यंग्यपूर्ण अर्थ से भरा है :—

"यों हुआ है क़त्ल सबके सामने
पर अदालत के लिये यह राज है।"

मिश्र जी की ग़जलों में कहीं-कहीं काफ़ी नाजुक खयाली के साथ नायिका या महबूब की परिकल्पना का पूरा माहौल निर्मित हुआ है :—

"धड़क रहा है पँखड़ी की तरह सन्नाटा
अजी अभी कि जैसे आया था यहां कोई।
झुलस झुलस के भी पर्वत है हरा हो उठता
नहीं नहीं की आग में है छिपी 'हां' कोई।"

काव्य की दुनिया में पर्वत के 'नहीं' 'नहीं' में भी हां है किन्तु कई महबूब भी पत्थर हो जाते हैं और 'नहीं' तो 'नहीं' हो ही जाती हैं :—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"वह न मंदिर में न मस्जिद में न गुरुद्वारे में हैं
वह पराई पीर वाली आंख के तारे में है।"

दैरों-हरम से अलग अल्लाह (ईश्वर) के जल्वा, नूर, हुस्न के गुणगान में एक से एक अच्छे शेर मिलते हैं। यहां मिश्र जी ने इस जमीन को मानवीयता की संवेदना में बांधा है। मेरा यहां यह मन्तव्य नहीं कि तसव्वुफ में मानवीय संवेदनशीलता नहीं है। सूफी संत बड़ी सादगी तथा दीनता में जीवन व्यतीत करते हुए ईश्वर की आराधना में लीन रहते हैं। ऊपर के मतले में 'पीर पराई' की अभिव्यक्ति काफ़ी दूर तक जाती है।

"हम तो बरबादियों के साये हैं
कहिये कैसे हुजूर आये हैं।
हो गया है हमारा डर दूना
सामने आप सिर झुकाये हैं।
आपने क्या कोई सपना देखा
बस्तियां फिर धुआं उठाये हैं।"

छोटे बहर के ये शेर बड़े असर, अन्दाज और चोट पहुंचाने वाले हैं। मिश्र जी ने बहर एवं क़ाफ़िये में अक्षर युग्मों से पर्याप्त प्रभावशाली नवीनता भी पैदा की है :—

"अपनी तनहाई में मैं गाने लगा हूं
आज कुछ अपना पता पाने लगा हूं।
तोड़ दो दीवार पर के आइनों को
शक्ल से अपनी कि घबराने लगा हूं।
क्या हुआ मुझको कि हंसता जंगलों में
महफिलों में डर से चिल्लाने लगा हूं।"

महफ़िल में शोर आदि के तो अनेक उदाहरण मिलेंगे किन्तु 'चिल्लाना' उर्दू ग़ज़लियत की नाजुक मिज़ाजी के माकूल नहीं प्रतीत होता। इस संकलन की रचनाएं अपने ढंग तथा मिज़ाज़ में उर्दू ग़जल के काफ़ी निकट हैं। किन्तु हिन्दी के आमफ़हम शब्द नपे-तुले रूप में पर्याप्त मात्रा में है। साथ ही अभिव्यक्ति में अन्तर आना स्वाभाविक है जो सम्भवतः मिश्र जी की ग़ज़लों को एक खास पहचान भी देता है।

इस संकलन की अन्तिम ग़जल आमफ़हम हिन्दुस्तानी जुबान में बंधी है :—

"बनाया है मैंने ये घर धीरे-धीरे
खुले मेरे ख्वाबों के पर धीरे-धीरे।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस ग़ज़ल के शेर अपने असर में पुरज़ोर हैं। कुछ बातें उठती हैं। कुछ एक शब्द जैसे 'छलागें लगाना' 'चुनौती' ग़ज़ल के पैमाने में अभी घुले नहीं हैं। लेकिन उर्दू कुछ इसी तरह की मिली जुली भाषा से निर्मित हुई है।

इस ग़ज़ल में पहाड़ों के सन्दर्भ में चुनौती अर्थवत्ता से भरी है। पहाड़ की ऊँचाई की ललकार जड़वत होती है जबकि धीरे-धीरे सर उठाने वाला व्यक्ति सजीवता का प्रतीक है। यहां व्यंजना सूक्ष्म है। अगले शेर में दर्द से घाव भरना मुहावरे के रूप में स्पष्ट नहीं लगता। अगर इस अर्थ में इस शेर को समझें तो अलग बात है :—

"दर्द मिन्नतकशे दवा न हुआ
मैं अच्छा न हुआ; बुरा न हुआ।"

अगर इसे मुहावरा न मानें तो कवि की अपनी दुनिया निर्मित करने की छूट में दर्द से ही घाव अच्छा होना भी माना जा सकता है। इस ग़ज़ल का अन्तिम शेर आशावादी स्वर में है।

'बाजार को निकले हैं लोग' में रामदरश मिश्र ने युगीन विसंगतियों मानव मूल्यों के ह्रास के विविध रूपों, पैशाचिकता की रक्तपिपासा, प्रकृति की मनोरम झलकियों, ग़ज़ल की मान्य नायिका या प्रेम की सूक्ष्मतर अनुभूतियों, जीवन के दर्दोग़म, उल्लास आदि की भावभूमियों को सहज एवं लगभग जन भाषा के नज़दीक लाकर अभिव्यक्ति दी है। साथ ही इसमें अमूमन ग़ज़ल की नाज़ुक मिजाजी बरक़रार रखी गयी है। तेज हल्का हास्य व्यंग्य आदि सहज रूप में उभरे हैं।

उर्दू के प्रतीकों का अभाव भी खटकता नहीं। कवि की प्रतिभा व शक्ति अद्‌भुत वस्तु है। इन ग़ज़लों में अनेक उर्दू के बिम्ब प्रतीक हिन्दी रूप में हैं अथवा अनेक हिन्दी के प्रतीकों का सफल प्रयोग है। बहुत से स्थलों पर कुछ कथ्य माध्यम स्वयं प्रतीक रूप धारण कर लेते हैं। ऐसे बिम्बों और प्रतीकों में ऋतु वसन्त, वन, पर्वत, लुटेरे, आगजनी, घर, शीशा, माशूक (कई रूपों में) आदि उल्लेखनीय हैं।

किन्तु मिश्र जी की इन रचनाओं का मनन करने से ऐसा भान होता है कि गंगा जमुनी भाषा की ग़ज़ल शैली को अपना कर व्यापक क्षेत्र या अवाम तक हिन्दी काव्य की पहुँच हो सकेगी। रचना के धरातल पर इस ओर गंभीर प्रयास आवश्यक है। मिश्र जी के संकलन को इस दिशा में एक स्तुत्य कदम मानने में कोई झिझक नहीं लगती। निस्संदेह यह रचना पठनीय है और एक से अधिक बार ग़ौर करने की हक़दार भी।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामयिक संदर्भों की दृश्य-योजना[1]

डा० प्रेमशंकर

लंबी कविताओं के विषय में काफी अरसे तक यह धारणा बनी रही कि उनका कथा आग्रही होना आवश्यक है, और घटना, वृतान्त के बिना वे अग्रसर नहीं हो सकती। एक प्रकार से लंबी कविताएं 'नरेटिव वर्स की स्थानापन्न मानी जाने लगो। रोमानी कवियों ने कथा के आग्रह को कम किया और सपाटबयानी के स्थान पर भावनामयता को स्वीकारा। पर जब वे अमूर्तीकरण में उलझ गए तब नए कवियों को लंबी कविताओं के प्रयोग करते हुए, बिंबों का अधिक सहारा लेना पड़ा। एक ओर वे सामाजिक यथार्थ को गहरे स्तर पर व्यंजित करना चाहते हैं, दूसरी ओर कोरे वक्तव्य उन्हें संतोष नहीं देते। नई कविता को, लंबी कविताओं की रचना करते हुए, कई स्तरों पर लड़ना झगड़ना पड़ा: सामाजिक यथार्थ की स्वीकृति, पर कथा आग्रहों से मुक्ति; अमूर्तीकरण से बचाव, पर जीवन से पाए गए बिंबों का विधान; मनुष्य को उसकी समग्रता के पकड़ने की कोशिश, पर सामाजिक परिवेश की पृष्ठभूमि की स्वीकृति।'

मुक्तिबोध ने इस भ्रांति को तोड़ा कि लंबी कविताएं या तो कथापरक हो सकती हैं या फिर आत्मालापी। गहराई में जाकर इतिहास की जमीन की पड़ताल, सामाजिक जटिलताओं की सही पहचान और यथार्थ को सार्थक बिंबों में उभार सकने कीं क्षमता में मुक्तिबोध ने बहुतों को रास्ता दिखाया। रोमानी प्रवृत्तियों के विरोध में खड़ी नई कविता के लिए लंबी कविता एक चुनौती भरा माध्यम है, क्योंकि यहां किस्सागोई के ढंग से अपनी बात कह सकने की सहूलियत नहीं है। ऐसे में जब रामदरश मिश्र की कविता 'फिर वही लोग' से गुजरता हूं तो पहली में वह में पूरी तरह पकड़ में नहीं आती। इतना पता चलता है कि सामयिक ज़िदगी के कुछ टुकड़े हैं जो कवि की चेतना को उकसाते हैं और वह उन्हें दृश्यों में बांधना चाहता है।

'फिर वही लोग' कविता में सड़क जिंदगी के टुकड़ों का साक्ष्य है—जिंदगी में डूबते-उतराते एकमात्र चरित्र की तरह। वह न जाने कब से देख रही है 'कि उस पर से आदमी नहीं, केवल जुलूस गुजरे हैं।' ओर यह सड़क जीवित हो उठती है

---

१. रामदरश मिश्र : पक गई है धूप कविता संग्रह में संकलित कविता 'फिर वही लोग' पृष्ठ १२१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि अपनी जागृत दृष्टि और संवेदन के सहारे वह सब कुछ देखती है, सुनती है ! वह देखती है कि कुछ पेशेवर लोग बार-बार जुलूस में गुजरते हैं और इस जुलूस का मंशा है खुद को स्थापित करना जबकि बाकी स्थितियां अपनी जगह पर बदस्तूर कायम रह सकती हैं। जुलूस इस कविता में व्याप्ति के साथ इस्तेमाल हुआ है और वह राजनीतिक आशय तक सीमित नहीं है। किसी सामाजिक सदाशयता से प्रेरित न होकर ये तरह तरह के जुलूस मुखौटों पर चलते हैं और नेतागीरी का शौक किसी भी क्षेत्र में हो सकता है, केवल राजनीति में नहीं। जुलूस को परिभाषित करने में कविता इस बात पर जोर देती नजर आती है कि भीड़ एक असंगठित समाज है जिसका गलत इस्तेमाल इतिहास में कई बार हुआ है।

रामदरश मिश्र की कविता 'फिर वही लोग' अपने सामयिक संदर्भों से सीधा साक्षात्कार करना चाहती है और बहुतेरी बातें एक साथ कह देना चाहती है—संकेत से ही सही। कविता का आरंभ काफी मद्धिम है, जैसे : नेपथ्य से आती हुई आवाज पर वह धीरे धीरे गति पकड़ती है। सड़क इतिहास की गवाह जैसी है और उसने सामयिक संदर्भों को कई स्तर पर पहुंचाना चाहा है : कुछ जीवन दृश्य, लोगों की प्रतिक्रियाएं और सामयिक माहौल ! मसलन : लोगों का साझीदार बनकर चुप हो जाना, लायक बेटों द्वारा कितने ही अर्थो में बंटीं धरती मां, चुसे हुए शब्दों की एक विराट सी झील आदि। सड़क, जुलूस बराबर कवि की दृष्टि में हैं और उसी से जुड़ी हुई दीगर चीजें, जैसे : तरह तरह के झंडे। पर इससे स्थिति की भयावहता कम नहीं हो जाती :—

"दिन, दहाड़े उल्लू बोलते हैं, आदमी चुप है
खाइयों और गुफाओं में उजाला है
मैदानों में अंधेरा घुप है—
बड़े खेत छोटे खेतों को खा रहे हैं बीन-बीन
शरीर पर लुट रहे हैं देश
आत्मा बिक रही है पैसे की तीन··· ।"

कविता टुकड़ों में बोलती है और यहाँ जीवन की समग्रता को पकड़ने का उसका मंशा भी नहीं है, पर कवि जिस एहसास को हम तक प्रक्षेपित करना चाहता है, उसकी ईमानदारी से इनकार नहीं किया जा सकता। एक स्थिति है जिसमें मानव-व्यक्तित्व जैसे अंतर्धान हो गया है और वह एक अनियंत्रित भीड़ में भागा-दौड़ा चला जा रहा है, कई बार अनचाहे ही। इन जुलूसों को जुटाने वाले पेशेवर ठेकेदार जैसे अपने अपने झंडों का विरुदगान करते हुए। सड़क बुदबुदाकर रह जाती है, जुलूस के दबाव को न जाने कब से सहती आई है। यही यह सवाल उठता है कि क्या सड़क तटस्थ दृष्टा भर है ? अपने संवेदन के सहारे वह चीजों को महसूसती है, प्रतिक्रिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी करती है, पर कहा जा सकता है कि वह बगावत नही कर पाती। पर यथार्थ को उसकी दयनीयता में प्रस्तुत करके भी कई बार कवि एक ऐसा एहसास अपने पाठक में उपजाना चाहते है कि फिर फतवा देने की जरूरत न पड़े। इसीलिए 'फ़िर वही लोग' शीर्षक जिन पेशेवर लोगों की ओर संकेत करता है, उनका जिंदगीं के दर्द से कोई गहरा नाता-रिश्ता नहीं है, जबकि सड़क कही अधिक संवेदनशील है; बगावत वह न करे, यह बात दीगर है।

सामयिक संदर्भों की टकराहट से उपजी रामदरश मिश्र की यह कविता केवल एक खाका प्रस्तुत करके खत्म नहीं हो जाना चाहती; वह हमसे एक एहसास भी करना चाहती हैं। कई बार वक्तव्य और उक्तियां प्रभावी मालूम पड़ सकती है, पर वे ऊपर ऊपर छूकर निकल जाती हैं और एक प्रकार का छद्म उनमें देखा जा सकता है। ज़ाहिर है कि ऐसी रचनाएं किसी गहरे सरोकार से नहीं उपजतीं, बल्कि ओढ़ी हुई है। रामदरश मिश्र दृश्य बनाकर जैसे तसवीरों के जरिए अपनी बात कहना चाहते हैं जिन्हें उन्होंने जीवन साक्षात्कार से पाया है ! जनता की सेवा के लिए बेचैन लोग, भिखारी के कपड़े-सा किसी के इंतजार में बिछा एक पूरा का पूरा देश, साइनबोर्ड बन जानेवाले चेहरे, टुकड़ों में बंटी धरती, वीर रस की कविताएं भूकते किराए के कवि जाज की धुन पर लड़खड़ाता नंगा-प्यासा जंगल और ट्विस्ट की धुन पर थिरकता भरतनाट्यम, अखबारों में छपा घायल सीमांत आदि। एक पूरे दृश्य को बांधा गया है :—

"ऊंची-नीची पगडंडियां, कच्ची सड़कें
(जो जुलूसों के खुरों से
और भी ऊबड़-खाबड़ हो गई हैं)
ढोती हैं—
बीमार गांव के कस्बे तक
लेकिन अपने में ही गिर-गिर पड़ती हैं
पक्की सड़कें ढोती हैं—
शहर को शहर तक
और चौराहों पर जुलूस के कारण
घण्टों खड़ी रहती हैं
और काफी देर बाद
अस्पताल में लाकर पटक देती हैं
अधमरे शहर को
जहां आपरेशन टेबल पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले से ही कोई झण्डा लेटा होता है···।"
और इसी क्रम में खिड़की से उदास झांकता हर कमरा बाहर निकलना चाहता है, सारा अस्पताल एक टेबिल के पास सिमट आता है और ऊंघते-ऊंघते 'जो कभी कभी हड़बड़ाकर जाग जाता है, मौत की एक चीख से।' यहां कविता अपने इरादे में सफल होती है—भयावहता का एहसास जगाकर !

कविता कुछ तसवीरों, जीवनबिंबों से निर्मित है और वास्तव में यही उसकी ताकत है। मुक्तिवोध की 'ब्रह्मराक्षस' कविता में 'परित्यक्त सूनी बावड़ी' के बिना दृश्य पूरा नहीं हो सकता क्योंकि वह रचना का महत्वपूर्ण हिस्सा है। इसी प्रकार 'फिर वही लोग' में रामदरश बार बार सड़क, जुलूस, झंडे आदि की बात करते हैं क्योंकि इन्हीं के माध्यम से वे कविता को जीवनदृश्यों से बिंबित कर रहे हैं, सचाई यह है कि सामाजिक यथार्थ का विरोध करने वालों ने जिस बिंबवाद' को बीसवीं शती के संधिस्थल पर विकसित किया, वे मनोविश्लेषण में उलझ गए थे। इसीलिए उनकी रचनाएं कई बार खुद से बातचीत करके खत्म हो गई और कविता में अधिक व्यापक जीवन का प्रवेश कराने का आग्रह करने वाली प्रतिभाओं ने बिंबों को सीधे जीवन से प्राप्त किया; यहां तक कि प्रचलित प्रतीकों को भी नया जीवनसंदर्भ दिया। रामदरश ने स्थिति की भयावहता दिखाने के लिए कई बार बिंबों को काफी तोड़ा-मरोड़ा है, उनसे आजादीं ली है, जिससे उनकी सर्जनशीलता का पता चलता है। पर प्रतीकों बिंबों के सहारे रचाए गए दृश्यों तक एक बार पहुंच जाने पर उसका अर्थ खुलता है और फिर हम आस्वाद की सही स्थिति में आ सकते हैं।

'फिर वहीं लोग' कविता बिंबों के टुकड़ों के सहारे चलती है और उसमें वे वक्तव्य भी खपा दिए गए हैं जो किसी विवशता में लाए गए हैं। पर कुल मिलाकर कविता टुकड़ों में होकर भी, सामयिक भयावहता का संकेत करने में सफल हो जाती है—इन्हीं दृश्यों के सहारे। उदास सड़कें, बारूदी गंध, बुदबुदाती सड़क, टूटे वंदनवार घायल आवाजें, संगमरमरी कमरे, प्लास्टिक के फूल, बीमार गांव सब सामयिक संदर्भों की ओर इशारा करते हैं। इन तमाम बेतरतीब टुकड़ों को जोड़ने के लिए कवि ने सड़क के साक्ष्य और गुजरते हुए जुलूस को चुना है। दृश्यों के तेवर महीन मार करते हैं और यदि तेजी में भागने की भूल की जाए तो आशय हमारी पकड़ में नहीं आ सकेगा :—

"टूटे हुए पुल बह रहे हैं
और उनके ऊपर टंगी है नदियां
अपनी-अपनी जगह पर
शिशुओं को गाड़कर
मुरदे बाहर आ गये हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धरती का संदेश देने
दरवाजे-दरवाजे न रहकर
कोई न कोई झंडा बन गए हैं।"

कविता की भूमि सामयिकता से उपजी है, इसलिए उसकी मूल बनावट में व्यंग्य का भीं हिस्सा होना लाजमी है। सचाई यह है कि इधर पिछले कुछ वर्षों में रचना ने अपने आक्रोश को व्यंग्य के माध्यम से हो व्यक्त करना चाहा हैं, पर चीख-चिल्ल।हट कुछ समय बाद थक जाया करती है और रचना में लंबी दूरी तय नहीं कर पाती। नकारात्मक को अपनी सीमाएं हैं और सर्जन बिना सकारात्मक हुए आगे नहीं बढ़ पाता। जिस समय-समाज से रचना पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं होती; उसे वह ललकारती है। पर ऐसा करने के, रचना के तरीके अलग अलग होते हैं और यहु बहुत कुछ रचनादृष्टि पर भी निर्भर करता है। रामदरश धीमे स्वर में सब कुछ कहना चाहते हैं—बिना आवाज को उठाये, गिराये, इसलिये कई बार उनका व्यंग्य हमारी पकड़ में भी नहीं आता। पर स्थिति यह है कि वह पूरी कविता में भीतर ही भीतर एक करेंट की तरह मौजूद है—उन आरंभिक पंक्तियों से लेकर अन्त तक, जो समाप्ति में दोहराई गई हैं। कहा जा सकता है कि कविता जिस सामाजिक यथार्थ से उपजी है उसे देखते हुए, उसकी मुद्रा काफी अनाक्रोशी है। पर हर रचना का अपना एक मंशा होता है और जहां तक में समझ पाया हूं रामदरश अपने पाठकों को चौंकाना या उत्तेजित करना नहीं चाहते, वे उनमें एक एहसास जगाना चाहते हैं।

रचना में सामाजिक यथार्थ को लेकर बहस-मुबाहसे होते आये हैं, होते रहेंगे। पर इस सम्बन्ध में वह 'कोण' महत्वपूर्ण होता है जहां से खड़े होकर कोई रचना जीवनदृश्यों को देखती है और इसी के साथ उस 'दृष्टि' का भी सवाल है जिसके माध्यम से दुनिया से साक्षात्कार किया जाता है। हम स्वीकारते हैं कि व्यंग्य रामदरश का मूल माध्यम भर नहीं है और क्योंकि वे रोमानी अनुभव की दुनिया से सामयिक सन्दर्भों तक आये हैं, इसलिये उनकी लड़ाई भी कम आसान नहीं रही होगी। इसे मैं इस कविता के सन्दर्भ में ही नहीं, पर कवि की सर्जनशीलता के सन्दर्भ में रेखांकित करना चाहूंगा कि कि उसने संवेदनजगत को विस्तार दिया है। 'फिर वही लोग' स्थिति का जायजा अपने ढंग से लेना चाहती हैं।

कहा जा सकता है कि सामयिक संदर्भों से लेकर शाकाहारी मुद्राओं से काम नहीं चल सकता और कवि को अधिक आक्रामक होना था। पर जैसा कि मैंने संकेत किया कि यह कवि की मूल प्रवृत्ति ही नहीं है; यहां जो व्यंग्य है, वह शब्दों के आक्रोश पर इतना आधारित नहीं, जितना संवेदनों पर, इसलिये उसकी पहचान कठिन है। हम मानते हैं कि सन्दर्भ ऐसे हैं कि कवि के और जुझारू हो सकने की गुंजाइश थी। कविता हमें जिन टुकड़ों से गुजारती है, वे अलग अलग होने के कारण,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भटक भी सकते थे, पर सड़क संवेदन और कटाक्ष की मिली-जुली अनुभूति में संसरित होती है। ऐसा क्यों होता है ? एक और कवि की यह चिंता कि कहीं कुछ गड़बड़ है, ठीक सा नहीं लगता और दूसरी ओर उसमें उसकी वह शिरकत जो उसे द्रवित करती है। ऐसे में कविता एक पीड़ा का बोध कराती है :—

"टूटे त्यौहारों के बन्दनवार
टांगे खड़ा है एक पूरा सांस्कृतिक नगर
उसके माथे पर टोली है
कलाई में राखी के धागे···"

मेरी समझ में 'फिर वही लोग' कविता के अपने तेवर हैं और वह कई स्तरों पर चलती है—यहां लगभग एक-मिला-जुला अनुभवसंसार है। कविता में जो तल्खी है, उसे ही हम व्यंग्य कहकर संबोधित कर सकते हैं। पर इसका स्वरूप निश्चित ही भिन्न प्रकार का है क्योंकि इसमें कवि का दर्द भी जुड़ गया है। व्यंग्य के लिये जिस निर्ममता की अपेक्षा होती है, वह यहां नहीं है। कई बार कविता अपनी बात कह सकने के लिये उलटबासियों जैसी भाषा का सहारा लेती है : 'खाइयों, गुफाओं में उजाला और मैदानों में अंधेरा घुप'। ऐसे ही क्षणों में कई बार व्यंग्य गहराता है और कविता सामयिक सन्दर्भों में उपजकर भी अधिक बड़े फलक पर आना चाहती है :—

"सभी गुजरते हैं—
पगडंडियों से
खेत की मेंड़ों से
कच्ची सड़कों से
कस्बे की गलियों से
और राजधानी में जाकर खो जाते हैं
या साझेदार बनकर चुप हो जाते हैं···"

कविता में व्यंग्य स्थिति की भयावहता की ओर इशारा करता है। पर कहा जा सकता है कि रचना परिवेश का संकेत तो करती ही है, पाठक को उस परिवेश का एहसास भी देती है। कवि अपना कोई निर्णय लादना नहीं चाहता, तो क्या उसके पास प्रश्न का उत्तर नहीं हैं ? या वह इस विषय में अपने पाठक को उसके विवेक पर छोड़ देना चाहता है ? जो रामदरश के रचनाजगत से परिचित हैं वे जानते हैं कि उनमें निर्णयों को आरोपित करने की इच्छा नहीं है। प्रस्तुत कविता को इसी रूप में देखना चाहिये। 'फिर वही लोग' दृश्य उभारती है, सवाल उपजाती है, पर समाधान वह नहीं तलाशना चाहती—संभव है कवि का विचार हो कि समाधान फिलहाल है भी नहीं। पर कविता तनाव से गुजरती है और तब हम स्वयं किसी विकल्प की तलाश करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहते हैं। इस प्रकार प्रकारांतर से कविता का आशय पूरा होता दिखाई देता है, कम से कम परिवेश की अस्वीकृति का भाव तो उसमें मौजूद है ही।

'फिर वही लोग' में व्यंग्य विद्रोह की भूमि पर स्थित न होकर, करुणा के अधिक समीप है और दर्द से उपजा है। कविता धीरे से हमारे समाज की उस अमानवीयता की ओर इशारा करती है, जहां सिर्फ जुलूस हैं, झंडे हैं। कवि इन दृश्यों में इस मायने में उपस्थित है कि यह मानवीय पीड़ा से परिचालित है। सड़क देखती है कि बराबर वे ही लोग उस पर से गुजर रहे हैं, जो कल भी आये थे और आगे वाले दिनों में भी वे ही होंगे—पेशेवर लोग। ऐसों से भला क्या आशा की जा सकती है? अधमरा शहर, बारूदी गंध, धूप की फाइल खोले मुसकराता आकाश का बच्चा सूर्य सब 'फिर वही लोग' कविता को इस अर्थ मे एक गहरे दर्द से भरते हैं कि हम उस भयावहता को अपने सामने उपस्थित पाते हैं जिसमें हम सब जी रहे हैं और जिसने हमारा अमानवीयकरण कर दिया है। टुकड़ों में व्यंग्य करती हुई भी कविता अपनी मूल बनावट मे कारुणिक है—एक त्रासदी का आभास देती है। यदि वह जुझारू नहीं हो पाती तो उसका कारण भी यही मानवीय संलग्नता से उपजी चिन्ता सहज है जो करुण स्थिति से संत्रस्त है। अन्त तक पहुंचते पहुंचते कविता एक अवसाद से भर जाती है:—

"बसन्त खड़ा-खड़ा सोचता है—
शहर में तो वह अजनबी हो ही गया था
यहां भी कोई नहीं पहचानता
एक बार फिर
अपने स्तब्ध पुष्पकेतन को देखता है
और चुपचाप उसे मरोड़कर
डाल देता है झोले में…"

मानवीय सरोकार से उपजी चिंता, सामयिक परिवेश के प्रति असंतोष, स्थितियों की भयावहता सबके मूल में कवि के संवेदन की सक्रियता है, जिससे पूरी कविता विवरणों-वृतांतों का सूचीपत्र बनकर नहीं रह जाती, वरन हम कवि की संलग्नता से भी परिचित होते हैं। पर जैसा कि मैंने कहा कविता के मूल में कवि की वह मानवीय पीड़ा है जो अपने समय के खोखलेपन पर कई बार व्यंग्य भी करती है:—

"लगता है—
आज फिर कुछ होगा
फिर किसी कुरसी के हिलते हुए पाये को
मजबूत करने के लिए
धूप का एक टुकड़ा वहां दफनाया जायेगा…"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामदरश मिश्र ने जिस मुहावरे में सामयिक संदर्भों को प्रस्तुत किया है, वह जाना पहचाना है और इसलिये दृश्य अपरिचित नहीं लगते। कुछ अपवाद हो सकते हैं, जैसे : अहल्या का संदर्भ। पर कविता की जमीन की सही अभिव्यक्ति के लिए जो चीजें आवश्यक थीं, वे इसमें आ गई हैं, इसीलिये वह विश्वसनीय बन सकी है। जाते जाते कविता इशारा छोड़ जाती है :—

"शहर का सारा अंधकार बैठे-बैठे झूमता है
और प्रकाश की छोटी-छोटी किरणें
गलियों के छोटे-छोटे कटघरों में जागती हुई
चुपचाप लड़ती हैं, देश के सन्नाटे से· ···।"

———— —

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काल साक्षात से जुड़ी हुई आँख : 'समय देवता'

जगदीश नारायण श्रीवास्तव

रामदरश मिश्र की आरम्भिक पहचान "नयी कविता" के दौर में एक समर्थ गीतधर्मी कवि के रूप में बनी थी। अभिव्यक्ति-स्तर पर अभी भी इस पहचान की विशिष्टता को बरकरार रखते हुए उन्होंने अपनी नयी कविता को गत्यात्मक यथार्थ की दिशा में मोड़ने और उसे वैचारिक बहस का दर्जा देने की भरपूर कोशिश की है। मानवीय जीवन-संघर्ष के प्रति अटूट आस्था रखने के कारण उनकी कविता कभी भी आत्मतुष्ट और व्यक्ति वादी स्वभाव की उपज नहीं बनी। अलबत्ता उसमें एक तरल भावनाशील रोमेंटिक अनुगूंज बराबर सुनायी पड़ती रहती हैं जो किसी भी कविता की संवेदनागत विशेषता है न कि कोई दोष, जैसा कि उनके कुछ आलोचक उन पर मढ़ते हैं। मेरे विचार से यह तरल भावनाशीलता ही उनकी वैचारिकता और उनकी कविता की आनुभूतिक गहराई का उत्स है। "पक गयी है धूप" में संकलित "समय-देवता" शीर्षक रामदरश मिश्र की लम्बी कविता इस विलाप करते देश के क्रूर जीवन-यथार्थ को इसी संवेदनात्मक फलक पर गहराई से उकेरती है और उसके अन्तरविरोधों को पूरी तार्किकता के साथ उद्घाटित करने का उदाहरण बनती है।

कविता एक नाटकीय दृश्य से शुरू होती है। काव्य नायक के दरवाजे पर "दस्तकें · · फिर दस्तकें · ·" होती हैं। वह दरवाज़ा खोलता है तो देखता है "दरवाजे पर खड़े थे एक वृद्ध/श्वेत् श्मश्रु श्वेत केश श्वेत वस्त्र।" आगन्तुक अपना परिचय देता है, "चौंको मत · · मैं समय देवता हूं—तुम्हारी नियति।" यहीं से कविता सम्बोधन शैली ग्रहण कर लेती है। कर्त्ता पक्ष तथा वस्तु-पक्ष दोनों आमने-सामने हो जाते हैं। काव्य नायक देखता है कि दरवाजे पर लगा हुआ उसका नामपट्ट उखड़ कर झूल रहा है और समयदेवता के साथ खड़े एक मरियल आदमी जो प्रमाण-पत्रों का लबादा ओढ़े हुए है, का नामपट्ट पल्ले पर कस दिया गया है। काव्य-नायक ताड़ जाता है कि अब यहां से उसके विस्थापित होने का समय आ गया हैं। यहां से काव्य

१. रामदरश मिश्र : पक गई है धूप कविता संग्रह में संकलित कविता समय देवता पृ० ८६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नायक तथा समय-देवता की बात-चीत, तर्क-वितर्क और बहस-मुबाहिसा शुरू हो ज़ाते हैं।

काव्य नायक "समय-देवता" की सर्वोपरि सत्ता, न्यायधर्मिता तथा उसके "आरोपित दैवत्व" को "अपनी नियति बनाकर लादे" फिरने से इन्कार करता है। उसे "बहुरूपी", "छली", "निष्ठुर", "कामरूपी तमचर", "सत्ताओं के पुरोहित", "प्रवंचक" आदि गर्हित विशेषणों से सम्बोधित कर आज के जलते, भूख से छटपटाते बहुसंख्यक जन-समाज की वर्तमान अवदशा के लिये जिम्मेदार ठहराता है और उसके पाखंड पर आक्रोशपूर्वक चोट करता है : —

"बहुरूपी संत
तब तुम राजाओं के दरबार में
ताम-झाम लगाते थे
रेशम की पगड़ी बांधते थे—वज़ीरे आज़म थे न !
आज नयी सत्ताओं के पुरोहित हो
शुद्ध श्वेत वस्त्र पहने हुए"

कवि यह स्थापित करना चाहता है कि जो लोग मूल्यों से जुड़े होते हैं वे अपनी जीवनगत गर्दिशों से डिगे बिना बेहतर जीवन-स्थितियों के लिये जूझते रहते हैं। रोटी में मक्खन की मोटी तह के लिए परेशान प्रतिभाएं भला मानवीय मूल्यों से क्यों जुड़ेंगी ? वे परजीवी संस्थानों में प्रतिष्ठापित होने के लिये हर प्रकार की कसरत करती हैं क्योंकि बिना किसी तरह संस्थान से जुड़े ये सुविधाएं उन्हें उपलब्ध नहीं हो सकतीं। वस्तुतः सुविधाओं के जंगल में कोई बुद्धिजीवी, कवि-पत्रकार जितना ही जितना घिरता जाएगा उतना ही वह वस्तुस्थिति के सच तथा उसकी ईमानदार अभिव्यक्ति से दूर होता जायेगा।

रामदरश मिश्र अपनी दो सौ अस्सी पंक्तियों की इस लम्बी कविता को एक व्यापक फलक के तौर पर इस्तेमाल करते हैं और उस पर समकालीन जीवन-यथार्थ के भयावह परिदृश्यों को बिखेरते चले जाते हैं। कुछ इस तरह कि कविता में दो परस्पर विरोधी संसार स्वतः परिलक्षित हो उठें। इस प्रकार, प्रस्तुत कविता में जहां एक तरफ हांफती हुई जख्मी चिड़िया, लौटती बाढ़ में मरी हुई मछलियां, लाख-लाख गुलामों की रक्त-पिच्छल पीठ, झोंपड़ियों की आंखों में जगमगाते सपने, अन्धकार का गिरता हुआ एक भारी टुकड़ा, चट्टान के नीचे दबे हुए बिरवे, अपना सब कुछ देकर भी जहां की तहां पड़ी रहने वाली जनता, उसकी छतों पर उगने वाली भूख तथा रोती हुई रातें, सभ्याचरण विहीन अंग्रेजी विहीन और मूर्ख करार दिये जाने वाले उनके गंवई बच्चे, ओला, पाला, सूखा के मारे हुए खेत तथा चौरस्ते पर खड़ी हुई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मजबूरियां आदि हैं तो दूसरी तरफ आरोपित देवत्व, खेतों में पसीने के फूलों को निगलने वाली बाढ़, नदियों के अजगर, बौरों के सिर फोड़ने, कोयलों के पंख तोड़ने तथा दुलहिन-सी सँवरती फसलों की अस्मत लूटने वाले पथरीले तूफान, गरीब बस्तियो को कीड़े की तरह मारने वाली महामारियाँ, साम्प्रदायिक दंगे, शौक के लिये लड़ाई में देश के नंगे भूखे युवकों को झोंक देने वाले बादशाह या नेता, समय-देवता के न्याय पर भरोसा दिलाने वाले शास्त्र, दुखती रगों को रौंदने वाले दिग्विजय के अश्व, छायाओं के पिरामिड, मीनार, मकबरे, मठ, धर्म, भगवान की खोखली मूर्ति में पैसे भरकर रखने वाले पूजाघरों, संकटकालीन स्थिति का ऐलान कर गरीबों की पीठ पर महँगाई और करों की सड़कें बिछाने वाले ताकि समय-देवता के प्रभुओं के घोड़े जूथ बांधकर जा सकें सुरक्षित हिनहिनाते हुए, मरने के लिये नहीं मरने वालों को तमगा बांटने श्मशानों पर जाते रहनुमा, भीतर की सड़ांध पर सात्विक कपड़े सिल कर सजातियों को गद्दी लुटाने वाले, शिक्षा का रस निचोड़ कर शराब की तरह पीने वाले शिक्षा-शास्त्री तथा राजपथों पर बदबू छोड़तीं हुई कारों से उड़ जाने'वाली चिकनी जिंदगियाँ अपने पूरे ताम-झाम के साथ कविता में उकेरी गयी हैं । इस प्रकार कवि इन दोनों संसारों के कार्यकारण सम्बन्धों का तार्किक विश्लेषण करता है और इन सब विडम्बनाओं के लिये समय-देवता को जिम्मेदार ठहराता हैं :—

"तुम्हारा न्याय बड़ा निर्मम है देवता !
···तुम्हारे काँपते हाथों ने तराजू का पलड़ा
झुका दिया है उस ओर
जिस ओर गेहुंअन साँपों का समूह
कुंडली मारे बैठा है गड़े रत्नों पर
आराम से चूहों को पान की तरह चुभलाता हुआ ।"

स्पष्ट है कि रामदरश मिश्र की आँखें काल-साक्षात से डरी हुई आँखें नहीं हैं। वह इस व्यवस्था की सारी चालों को बारीकी से न केवल देख रही है बल्कि कुछ पौराणिक मिथकों के आधार पर समय की सर्वोपरि सत्ता की लोकोक्तियां को काटती हैं। इतना ही नहीं इन दोनों प्रकार के जीवित परिदृश्यों में उनकी नजर एक नयी विद्रोह चेतना की हलचल भी देख रही है :—

कुछ शरारती लड़कों ने तमाम लकीरें
खींच दी हैं कोयले से
और इश्तहारों पर इश्तहार चिपका दिये गये हैं
—जिसमें भीतरी शक्ति होती है
वह जीता है इस गति में योग देते हुए ।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निश्चय ही "ये शरारती लड़के" और यह "गीत" बोर्जुआ मान्यताओं और यथास्थिति को तोड़ने वाली विद्रोह-चेतना के जीवित प्रतीक हैं। कवि इन दोनों की संघर्षोन्मुख सम्भावना को साफतसाफ देख रहा है। इस सम्भावना के प्रति कवि का दृढ़ विश्वास उसकी ज्ञानात्मक संवेदना में ढल कर पाठक के सामने पारदर्शी ही उठता है :—

"सूर्य का उगना दिन नहीं है
उस उगे हुए को शिराओं की गीत में पाना दिन है
सूर्य का बुझना रात नहीं है
उस बुझे हुए को मन के अनकहे सन्नाटे के बीच
पहचान लेना रात है।"

रामदरश मिश्र इस कविता में समय की रचनात्मक अनुभूति को पहचानने का प्रश्न उठाते हैं। यदि यह अनुभूति बहुसंख्यक जन-समाज की पक्षधरता से जुड़कर गतिमान है तभी कवि उस अनुभूति को सार्थक मानने के लिये तैयार है। कवि इस विडम्बना को भी बखूबी पहचानता है कि कभी—"जब असत्य दर्प घड़ा भर जाने पर फूटे हैं या सत्य की शक्तियों ने उन्हें मिल कर फोड़ा है तब ऐसे ही बिके हुए शास्त्रज्ञ, बुद्धिजीवी, कलाकार और राजनेता इसे समय-देवता का विधान कह कर इसके वास्तविक प्रगतिशील कारकों पर पर्दा डाल देते हैं। वे सारे संसाधनों और पौराणिक लोकोक्तियों के माध्यम से अल्पशिक्षित गरीब बहुसंख्य जन-समाज की जेहन पर अन्धविश्वास की छायाओं का एक दार्शनिक सिलसिला चालू कर देते हैं और पुरस्कारस्वरूप व्यवस्था के हाथों जहाँ-तहाँ पद और प्रतिष्ठा का लाभ लूट लेते हैं। अधिकतर यह सारा षडयंत्र देश पर खतरे के नाम पर रचा जाता है और इससे अपनी सत्ता और शक्ति बढ़ायी जाती है। लेकिन कविता सवाल उठाती है :—

"देश कौन है प्रवंचक !
खतरा किसे होता है छली
खतरा होता है उन तिजोरियों को
संकट के समय भी जो मुँह बन्द किए सोयी रहती हैं
खतरा उन रहनुमाओं को होता है
जिनका कोई भी भाई-भतीजा मोरचे पर नहीं जाता
खतरा उन्हें होता है
जो भगवान की खोखली मूर्ति में पैसा भर कर रखते हैं।"

दरअसल कवि इस सच्चाई को महसूस करता है कि विपिन्न और टूटे हुओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को कभी कोई खतरा नहीं होता क्योंकि उनके पास यदि कुछ खेती-बाड़ी या छोटे-मोटे रोजगार हैं तो उस पर ओला-पाला, सूखा-बाढ़ जैसी प्राकृतिक विभीषिकाएँ तो सरकारी उदासीनता या भ्रष्टाचार में लिप्त नौकरशाही के चलते बराबर आती रहती हैं। उनके बच्चे सदा भूख से तड़पते रहते हैं और उनकी शिक्षा के लिये वह गँवई छप्परों वाले स्कूल हैं। वे कहीं भी रहेंगे अपने परिश्रम पर ही उन्हें निर्भर रहना है। शायद सच ही है कि प्रजा का कोई देश नहीं होता। कवि यह बात स्पष्ट करना चाहता है कि देश पर खतरा यदि है तो वह खतरा पूंजीपति वर्ग पर है न कि श्रमजीवी वर्ग पर। फिर भी खतरे से बचाव के लिये लड़ता-मरता कटता है श्रमजीवी समाज ही :—

"जनता को क्या
वह तो अपना सब कुछ देकर भी जहाँ की तहाँ रहती है"

इस प्रकार कवि पुनः समय-देवता के षडयंत्रों और इसकी परिणतियों को रेखांकित करते हुए इस वस्तुसत्य पर पहुंचता है कि इस जड़ और क्रूर व्यवस्था में न्याय की पक्षधर वास्तविक प्रतिभा की मूर्तियां अक्सर खींच-तान में टूट जाती हैं और वे लौट कर घृणित परिवेश में जीने को मजबूर हो जाती हैं जबकि उनके स्थान पर प्रमाण-पत्रों का सफेद लबादा पहने जड़ प्रतिभाओं को स्थापित कर दिया जाता है।

निश्चय ही आज के यथार्थ का सांगोपांग और प्रामाणिक चित्र कवि ने अपनी इस कविता में उकेरा है लेकिन यहीं पर एक प्रश्न खड़ा होता है कि अमानवीय यथार्थ का चीरहरण करने के बावजूद कवि यह क्यों भूल जाता है कि असत्य से भरे घड़े को फोड़ने के लिये जब सत्य की शक्तियाँ मिल कर कोशिश करती हैं तो इसमें काव्य नायक की भी कोई रचनात्मक भूमिका होती है ? खास कर ऐसे समय जबकि कवि इसी कविता में कुछ शरारती लड़कों की नयी विद्रोह-चेतना की हलचल भी महसूस करता है। इतनी गर्हित परिस्थितियों से गुजारते हुए और उन्हें अनुभूति के स्तर पर ग्रहण करते हुए उसका कोई तट अपना क्यों नहीं हो जाता ? बिना किसी तट के आधार के, अकेले बहते रहना और कुछ शब्द फेंकने के अतिरिक्त कुछ न कर पाना वहाँ की समझदारी है ? तो फिर वह आगे की मुनासिब कार्यवाही के प्रति इस पुण्यकार्य से अपने को अलग क्यों कर लेता है ?

"मेरा क्या
मेरा तो कोई भी तट अपना नहीं हुआ
मैं तो वह जल हूं
जो भँवर बन कर क्षण भर के लिये कहीं ठहरा भी
तो दूसरे क्षण फिर बह निकला।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ पाठकों को लग सकता है कि यह कवि का पलायनवाद या परिस्थितियों से मुँह मोड़ना है। यदि सारी रचनाशीलता आज की चुनौतीपूर्ण परिस्थितियों में "मेरा क्या" कह कर किनाराकशी कर ले तो देश के बहुसंख्यक जन-समाज के हाथों में जन-चेतना का मशाल भला कौन देगा ? पूरी कविता में क्रूर यथार्थ के जिस घटाटोप अंधेरे का वर्णन किया गया है उससे निकलने का कोई दरवाज़ा नहीं दिखता। वह समय-देवता को बिकाऊ बुद्धिजीवियों को प्रतिष्ठापित करने की अनुमति देकर ख़ुद को जल का प्रतीक मान लेता है और घोषित करता है कि मेरा तो कोई भी तट अपना नहीं हुआ।

यह बात तब और समझ में नहीं आती है जब कवि स्वयं स्वीकार करता है कि "जो भोगा हुआ हमारा सत्य है वह तो क्वार की धूप-सा हमारी नंगी त्वचा में चिनचिना रहा है युगों से।" यह चिनचिनाहट असत्य दर्प से भरे हुए घड़े को तोड़ने वाले हाथों से अपना हाथ क्यों नहीं मिला पा रही है ?

ऐसे पाठकवर्ग जो चाहें सोचें लेकिन सच यह है कि उनमें इधर एक बौद्धिकता-विरोधी संस्कृति पनपी है जहाँ मात्र कर्म को ही प्रधान मानकर शब्द पर थूका जाता है, जो गलत है क्योंकि दुनिया खड्गहस्त होने, या गुस्से में दाँत किटकिटाने से ही नहीं, बल्कि संवेदना और ज्ञान के यौगिक रचना-विधान से भी बदली जाती है। सांस्कृतिक स्तर पर लेखक और कवि यही करते हैं। इसीलिये कविता को शब्द के लिये शब्द न मानकर कवि का संघर्ष माना गया है। यह संघर्ष वस्तुतः इतिहास के प्रति एक जीवंत हस्तक्षेप होता है। कविता और सामाजिक परिवर्तन कभी-कभी एक दूसरे के खिलाफ जाकर भी जीवन-दृष्टि के मुताबिक परिवर्तनकारी होते हैं। इस प्रकार की कविता यदि प्रचलित के प्रति सवाल के रूप में हस्तक्षेप है तो वही सार्थक और महत्वपूर्ण है कहा जाय कि जब हम तात्कालिक सवालों से जूझते हैं तो उन्हें समय के पीछे फेंक कर पौराणिक मिथकों में उसका साक्ष्य करते हैं। रामदरश मिश्र ने अपने समाज की जीवन स्थिति की आलोचना करते हुए अपनी कविता में इसी प्रक्रिया को अपनाया है। इतना तो जाहिर ही है कि वह वर्तमान 'सिस्टम बिल्डिंग' के विरुद्ध हैं फिर, जरूरी नहीं कि कविता में उनका विचार-दर्शन किसी एक विचार-दर्शन से न जुड़ने के कारण अपनी पहचान खो दे।

इतना जरूर है कि यथार्थ की अतिरंजना और 'रेहटरिक' के तुर्रों-तूमारों के इस्तेमाल के बजाय इस कविता में रामदश मिश्र यथार्थ की अवधारणा और बुनियादों का आनुपातिक इस्तेमाल करते हैं ताकि यथार्थ अयथार्थ में बदलने न पाये बल्कि वह यथार्थ का विस्तार बन सके। यहाँ सामाज़िक, सांस्कृतिक उपकरण के बतौर उनकी काव्य-भाषा बहुत हद तक मदद करती है। वह काव्य-कथ्य और काव्य-शिल्प का मिश्रण तथा कभीं कभी दोनों के बीच का पुल बनकर भाव-ध्वनियों को अभिव्यक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करती है। इस कविता में शब्दों का चुनाव पद और वाक्यों का विन्यास तथा मुहावरों का इस्तेमाल कवि के आक्रोश और आक्रमण को ओज से भरता चला जाता है तो इसका कारण यह है कि वे कवि के संवेदनात्मक उद्देश्य से ही परिचालित हैं। इसका दूसरा कारण वस्तुतः यह है कि रामदरश सामाजिक विचार-व्यवहार में बाह्यांतरिक रूप से इतने जुड़े हुए हैं कि उनकी कविता के पास कहने को बहुत कुछ होता है। इसलिये भाषा उनके लिये अपने आप में कोई साध्य नहीं बनती, वह भावों-विचारों के वहन का एक सांस्कृतिक उपकरण ही बनती है। यही कारण है कि इस कविता की भाषा "मौन" या "महामौन' की भाषा नहीं है, न ही यहाँ काव्य-पंक्तियो में चुने हुए शब्दों की कलात्मक पच्चीकारी है। कविता अपने बातूनीपन के बावजूद जब 'नंगे पाँवों में जलती सिगरेट का धँसना' 'शीशे का साँस की आँच से बिदकना', 'फ्लिट बिछी मक्खियो की तरह ऐंठ कर गिरना', 'प्रकाश का हाँफना', 'बरसाती पौधों की तरह भूख का उगना', 'खाली दिशाओं का झाँकना', 'गाज सा गंदे जीवन का बजबजाना' तथा 'छत पर चढ़कर रात का रोना' आदि काव्य-बिम्बों का इस्तेमाल करते हैं तो वे बिम्ब काव्य-पंक्तियों में चुने हुए बिम्बों और प्रतीकों की कलात्मक पच्चीकारी नहीं लगते, हिन्दुस्तान के सजीव जीवन-यथार्थ का बयान लगते हैं।

बहरहाल, इस कविता के माध्यम से अपने समय और जीवन का जो यथार्थ दर्पण कवि ने हमारे हाथों में दिया है उससे समकालीन चेतना-सम्पन्न पाठक को अपना पक्ष चुन लेने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये। यदि यह सच है कि रचना, रचनाकार के व्यक्तित्व का आभ्यांतरिक अंश होती है तो निश्चय ही 'समय-देवता' कवि की प्रतिनिधि-रचना स्वीकार की जाए। रामदरश मिश्र की प्रवृत्ति कभी टकराव की नहीं रही है। मेल-जोल, सौहार्द और उदारता उनके स्वभाव के अद्भुत गुण हैं जो उन्हें जीवन और रचना दोनों में प्रिय बनाते हैं। अतः यह लम्बी कविता उनके गहरे आत्मविश्वास का प्रतीक भी लग सकती है क्योंकि स्वतंत्र प्रतिभा तो कहीं भी जायेगी, पूजित ही होगी। जीवन-यथार्थ तो अपना युयुत्सु पैदा ही कर लेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुप्पियों की दहशत : बसन्त

डॉ० पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु

कोयल से मैंने कहा—गाओ
कुछ सन्नाटा कटे
वह चुप रही
मैंने कहा—
मेरे पास आओ
कुछ सन्नाटा कटे
वह डाल पर बैठी रही
मेंने कहा--
अच्छा सुनो मैं ही गाता हूं
उसने सहमी निगाहों से चारों ओर देखा—
और एकाएक उड़ गई···

इस छोटी-सी कविता पर ध्यान देते ही जो कथ्यांश सबसे पहले आकृष्ट करता है, वह इशका अन्तिम चरण है, प्रोक्ति-स्तर पर यह अन्तिम अंश विपथित है, पहले के दो चरणों में कोयल से जब सक्रिय होने के लिये वाचक कहता है तब कोयल निष्क्रिय रहती हैं, इस प्रकार पहले के दो चरणों में वाचक का कोयल को सक्रियता के लिए अभिप्रेरित करना और कोयल का प्रत्युत्तर में निष्क्रिय रह जाना कवि द्वारा प्रस्थापित प्रोक्ति-स्तर का मानक है, किन्तु अन्तिम चरण में वह इस मानक का अतिक्रमण उपस्थित करता है, जब वाचक उसे सक्रिय नहीं रहने को कह विधेयात्मक मात्र रहने को कहता है और स्वयं को सक्रिय भूमिका में ले आता है. पर अब कोयल उसकी सक्रियता के सामने विधेयात्मक भर होने में भी असमर्थ हो जाती है, बल्कि अब अलग प्रकार की सक्रियता दिखलाती है और उड़ जाती है इस प्रकार ये पंक्तियाँ विपथित रूप में अग्र प्रस्तुत होती है।

१. रामदरश मिश्र : कंधे पर सूरज काव्य संग्रह में संकलित कविता बसंत पृ०, ६२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोयल' इस कविता का उन्मीलक शब्द है, जिसका गान बसन्त की पहचान है और जो स्वयं वसन्त का अग्रदूत है। कविता में 'कोयल' और 'मैं' दो भिन्न भूमिकाओं में आए हैं। 'मैं' कोयल के माध्यम से बसन्त का आह्वान करना चाहता है, किन्तु समसामयिक परिस्थितियों के कारण 'कोयल' त्रस्त, फलतः खामोश है। वह 'गाओ' कहने पर चुप हो जाती है, पास बुलाने पर अपनी जगह डाल पर बैठी रहती है। 'मैं' द्वारा अपना गाना सुनने का आग्रह करने पर सहमती-भयभीत होती है और उड़ जाती है। यहाँ 'मैं' नेतृत्व दे सकने वाले का और कोयल ऐसे कवि रचनाकार का प्रतीक है, जो समसामयिक परिस्थितियों से त्रस्त और खामोश है। इसीलिए 'कोयल' के गाने की बात तो दूर हैं, वह सुनने भर का भी साझीदार नहीं बनना चाहती। वस्तुतः यह एक ऐसे बसन्त की कविता है. जो आ नहीं पाता। साहस की कमी के कारण 'कोयल' गा नही पाती। 'बोलना' और 'गाना सुनना' दोनों को ही यहाँ जोखिम-भरे काम के रूप में प्रस्तुत किया गया है सच तो यह है कि समसामयिक परिस्थितियों का खौफ इतना गहरा उठा है कि व्यंग्य भी शाणित हो उठता है, ऐसे हालात में अगर मनुष्य गाना 'गाना और 'सुनना' नहीं चाहता तो क्या ताज्जुब ! 'चिड़िया' तक भी गाना गाने और सुनने से घबराती है।

इस कविता में कथन को प्रस्तुत करने के लिए कवि ने दो प्रकार की समांतरित अग्रप्रस्तुति का आश्रय लिया है—समतामूलक और विरोधी। 'मैंने कहा' वाक्यांश पूरी कविता मे तीन बार आया है। 'कुछ सन्नाटा कटे' जैसा वाक्य दो बार आया है। इन आवृत्तियों से समतामूलक समान्तरता उपस्थित होती है। यह समता वाक्यांश और वाक्य-स्तरीय है। पहले चरण की दूसरी पंक्ति में व्यवहृत क्रिया 'गाओ' आग्रहमूलक क्रिया है, तो दूसरे चरण की दूसरी पंक्ति में क्रिया 'आओ' भी आग्रहमूलक क्रिया है। इसी प्रकार पहले चरण की अन्तिम पंक्ति 'वह चुप रही' की संरचना से मिलती-जुलती संरचना दूसरे चरण की अन्तिम पंक्ति की संरचना है। 'वह डाल पर बैठी रही'। यहाँ अतीतकालीन स्थितिमूलकता को संरचनात्मक स्तर पर समांतरित रूप में उजागर किया गया है।

अर्थ-स्तर पर विरोधी समान्तरताएं भी इस कविता की सार्थकता को गहराने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती हैं। पहले चरण में वाचक द्वारा गाने के लिए कहने और 'कोयल' के चुप रहने में विरोधी समांतरता है। इसी प्रकार दूसरे चरण में वाचक द्वारा पास आने के लिये कहने और उसके डाल पर बैठे रहने में विरोधी समांतरता है। तीसरे चरण में वाचक द्वारा अपना गाना सुनने के लिए आग्रह करने और उसके उड जाने में भी विरोधी समांतरता है। 'गाना' एक शाब्दिक व्यापार है। इसके लिए उच्चार और मधुर स्वर में सुर उठाने की आवश्यकता होती है। चुप रहकर गाया नहीं जा सकता और कोयल चुप रहती है। यहां विरोधी समांतरता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दता बनाम निःशब्दता की विरोधिता में रखांकित हो रही है। आने के लिए गतिशील होने, चलने, उड़ने की आवश्यकता पड़ती है। मूलतः यह एक 'चल' और 'गतिशील' व्यापार है जबकि बैठा रहना एक स्थिर व्यापार। यहाँ विरोधी समान्तरता में विरोधिता 'चलता' बनाम 'स्थिरता' की है। इसी प्रकार गाना सुनने के लिए तीसरे चरण में कोयल की उपस्थिति अपेक्षित है, किन्तु कोयल उड़कर अनुपस्थित हो जाती है। इस प्रकार यहां विरोधिता उपस्थिति बनाम अनुपस्थिति की है।

अन्तिम चरण का विपथन एक और दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। पहले दो चरणों में वाचक कोयल से सक्रियता की अपेक्षा रखता है। कविता की अभिव्यक्ति में इसका एक मानक बनता है कि तीसरे चरण में भी वाचक कुछ कोयल से ही सक्रिय होने को कहेगा, किन्तु इस चरण तक आते आते इस मानक के विरुद्ध प्रोक्ति-स्तर पर वाचक स्वयं सक्रिय हो जाता है। इस प्रकार यह विरोधी समान्तरता ही है, जो विपथन को प्रस्तुत करती है। कहना न होगा कि विपथन इस रूप में विरोधी समान्तरता से ही उत्सृजित हो उड़ता है।

इस कविता से प्रत्येक चरण की तीसरी पंक्ति भी विचारणीय है। पहले चरण और दूसरे चरण की तीसरी पंक्ति एक ही है : 'कुछ सन्नाटा कटे', किन्तु तीसरे चरण की तीसरी पंक्ति है—'उसने सहमी निगाहों से चारों ओर देखा'। यह पंक्ति गहन-संरचना की दृष्टि से अत्यन्त साभिप्राय है। पहले चरण और दूसरे चरण की तीसरी पंक्ति कीं तुलना में तीसरे चरण की यह तीसरी पंक्ति विरोधी समान्तरता प्रस्तुत करती है। यहां विरोधिता अर्थ-स्तर की है। पहले दो चरणों की पंक्ति में जहाँ सन्नाटा के कट सकने की अभिव्यक्ति है, वहाँ तीसरे चरण की तीसरी पंक्ति में सन्नाटा बढ़ा देने की अभिव्यक्ति है। अपनी साभिप्रायता में यह पंक्ति जैसे अभिव्यक्ति देती है कि जिससे सन्नाटा छांटने का आग्रह किया जा रहा है, परिवेश और वातावरण के सन्नाटे के छाँटने का आग्रह, उसके भीतर स्वयं ही सन्नाटा भरा हुआ है। इसीलिए उसकी निगाहें सहमी हुई हैं, उसके भीतर एक खौफ छाया हुआ है, जिसके कारण वह सहमी नजर से चारों ओर देखती है। इस बिन्दु पर आकर विरोधिता काफी गहरी हो जाती है। यहां आकर कारण स्पष्ट हो जाता है कि जिससे सन्नाटा काटने का आग्रह किया गया है वह स्वयं सन्नाटे से जकड़ी हुई है। इसलिए वह सन्नाटा को नहीं काट सकती। यह विरोधिता और भी कई-कई अर्थ-वत्ताओं को निर्दिष्ट करती है। अपने भीतरी सन्नाटे से भरे होने के कारण वह उड़ जाती है और इस प्रकार अपनी अनुपस्थिति से एक गहरा सन्नाटा पैदा कर जाती है। साथ ही वाचक की—'अच्छा, सुनो मैं ही गाता हूं' की पहल को भी पूर्ण नहीं होने देती। इस प्रकार यह परिवेश और भी सन्नाटे से भर उठता है। कविता का मन्तव्य सन्नाटा छांटना है, लेकिन विडम्बना यह है कि पूरा सन्दर्भ सन्नाटे से सहम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है। यहीं यह साभिप्रायता भी स्पष्ट होती है कि यह कविता सम्वादहीनता को उजागर करने वाली कविता है। 'मैं'—'तुम' स्थिति की यह सम्वादहीनता 'वाचक' और 'कोयल' के बीच की सम्वादहीनता, समाजसेवी नेता और रचनाकार-कलाकार के बीच की सम्वादहीनता को अच्छी तरह उजागर कर देती है। (निष्क्रिय 'कोयल' अन्त में अपनी सक्रियता दिखाती है—उड़ने की सक्रियता)। इस सन्नाटे को गहराने और सम्वादहीनता को उपस्थित करने के लिए कविता की अन्तिम पंक्ति 'और एकाएक उड़ गई' के बाद कवि ने बिन्दुक के प्रयोग किये हैं। यह लेखिम के स्तर का विचलन है। यहां बिन्दुक-प्रयोग खामोशी, सन्नाटा और सम्वादहीनता की गंरतपरक और आकर्षक बना जाता है। प्रत्येक चरण में 'कोयल से मैंने कहा' के बाद लेखिम के स्तर पर जिस संकेतक (—) का प्रयोग किया गया है, वह भी साभिप्राय है, जिससे 'मैं' (वाचक) के साथ अगला कथन-मात्र नहीं जुड़ता, बल्कि कोयल को भी जोड़ने की, उससे सम्वाद बनाने की स्थिति स्पष्ट होती है।

प्रत्येक चरण की तीसरी पक्ति में कवि ने 'थीम' का स्थलीकरण (लोकेलाइ-जेशन) किया है, रूप-स्तर पर क्रिया रूपों में 'गा-ओ,' 'आ-ओ,' 'सु-नो,' जैसी आग्रह-मूलक क्रिया की समान्तरता उभरी है तो 'रही', 'रही' और 'गई' में इसी स्वर की सामान्य भूतकालिक, एकवचनी, स्त्रीलिंगी समान्तरता व्यापारित हुई है।

विरोधी समान्तरता के तेवर को आग्रहमूलक क्रिया और स्थितिमूलक क्रिया के विरोधी कथ्य के सन्दर्भ में —'गाओ' और 'चुप रही', 'आओ' और 'बैठी रही,' 'सुनो' और 'उड़ गई,' में देखा जा सकता है।

तीसरे चरण की तीसरी पंक्ति में प्रयुक्त तीन शब्द अत्यन्त संसक्त हैं: 'सहमी', 'निगाह' और 'देखा' इन तीनों शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध सहवर्गीयता (को-मेम्बर-शिप) का है, जिससे यह भाषिक कौशल कथ्य को सघन बनाने के सन्दर्भ में अत्यन्त उपयोगी और सार्थक हो उठा है।

इस प्रकार के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण रचना के अर्थ को खोलने, उसकी साभिप्रायता और सार्थकता को उजागर करने की दृष्टि से अत्यन्त सार्थक है। कहना न होगा कि प्रस्तुत कविता, जो सहसा व्यक्ति-शैली में लिखी हुई कविता प्रतीत होती है, उसकी मूल्यवत्ता समाज-राजनीतिक मूल्यवत्ता है। पूरी कविता उस सन्दर्भ को प्रस्तुत करती है, जहाँ 'सन्नाटा' समाज-राजनीतिक सन्दर्भ का सन्नाटा बन जाता है और उस आतंक के कारण समाज में सम्वादहीनता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। एक कलात्मक कविता एक समाज-राजनीतिक सन्दर्भ को गहराई में जाकर कलात्मक कौशल के साथ उपस्थित करती है। वह बयान और नारेबाजी के रूप में इसे उपस्थित नहीं करती. यहीं यह तथ्य भी उपस्थित होता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि कविता का अर्थ कितना अनुभूत है अहसास कितना गहरा है और संवेदना कितनी संहनित है। एक बयानमूलक नारे वाली कविता में इसी संवेदना का अभाव होता है। कहना न होगा कि 'बसन्त' कविता में यह संवेदना घनीभूत है।

इस कविता का एक और दृष्टि से भी विश्लेषण किया जा सकता है। यह दृष्टि अन्तर्पाठीयता की विरोधी समांतरता की है। 'वसन्त' और 'कोयल' हिन्दी कविता में पूर्व पाठों में भी कई जगहों पर आए है। माखन लाल चतुर्वेदी की 'कैदी और कोकिल' इस सन्दर्भ में स्मरणीय है। वहाँ कैदी और कोकिल के बीच संवादशीलता की स्थिति है वहां कोकिल लगातार गाती जाती है, किन्तु यहाँ कोकिल गाना नहीं चाहती। चतुर्वेदीजी लिखते हैं—"इस शांत समय में अन्धकार को वेध ही रही क्यों हो ? कोकिल बोली तो ? चुपचाप मधुर विद्रोह बीज इस भांति बो रही क्यों हो ? कोकिल बोली तो ?" इससे स्पष्ट हो जाता है कि उस पाठ के विरोध में प्रस्तुत कविता का पाठ खड़ा है। वहां सम्वादशीलता है, यहाँ सम्वादहीनता है। वहाँ 'मैं' वाचक कैदी है, जो व्यवस्था को उलटना चाहता है और यहां कोयल 'रवि किरणों से खेल जगत् को रोज जगाने वाली' है. वहां कवि कोयल का गाना बंद करवाना चाहता है—कहूं, अरे क्या बन्द न होगा गाना ?" यहाँ सन्नाटा मिटाने के लिए कवि कोयल से गाना गाने का आग्रह करता है। पर वहाँ सन्नाटा लाने के लिए कवि कोयल से मौन रहने का आग्रह करता है. वहाँ रात्रि में थोड़ा एकान्त चाहिए, क्योंकि 'लौह-सीखचों की कठोर पाशों में क्या भर दोगी ? बोलो निद्रित लाशों में?" कवि का प्रश्न गूंजता है।

इस प्रकार अन्तर्पाठीय विरोधी समांतरता के सहारे भी रामदरश मिश्र की उक्त कविता को नई अर्थवत्ता प्राप्त होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने समय की समीक्षा है : साक्षात्कार[1]

डॉ ललित शुक्ल

अपने परिवेश के प्रति सजग रहने वाले कवियों में रामदरश मिश्र का नाम अग्रणी है। प्रकृति और प्रेम के शुरुआती दौर की उनकी कविताओं में भी यह प्रवृत्ति हमें देखने को मिलती है, जब कि उमंग और ललक की आवेगमयी यात्रा में परिवेश को देखने, समझने और रचने का उतना अवकाश नहीं होता। किसी भी कवि की रचना का प्रारंभिक काल मन की सतरंगी चित्र छवियों का चित्राधार होता है। कम रचनाकार ऐसे होते हैं जो अपने प्रेम के फलक को विस्तार देते हैं। इस प्रकार की विस्तृति वहां अधिक दीखती है, जहां कवि का प्रारंभिक जीवन संघर्षमय होता है। वह समाज की गिरावट को, पिछड़ेपन को, विसंगति को, शोषण को केवल जानता-पहचानता ही नहीं, उसका सहभागी भी होता है। मिश्रजी का सम्पूर्ण लेखन ही मुझे परिवेशगत दबाव के कारण का परिणाम लगता है। कविता, उपन्यास, कहानी आदि की रचना में उन्होंने अपने आसपास के माहौल को ही रचा है। समाज के साथ संपृक्ति, जन-जन के साथ लगाव रचना के उद्देश्य को दूर-दूर तक ले जाता है। कवि की शक्ति जहाँ उसके शिल्प और भाषा में होती है, वहीं वस्तु-विधान का महत्त्व भी कम नहीं होता। और मैं तो कहूंगा, कुछ अधिक ही होता है। मिश्रजी की कविता-यात्रा गीतों से प्रारंभ होती है। एक समय था जब चिट्ठियां बेनाम लिखी जाती थीं, किन्तु बाद में कवि का प्रत्येक खत बापता होने लगा। इस सिलसिले में मैं 'साक्षात्कार' कविता की ओर संकेत करना चाहूंगा।

यह कविता उनके काव्य-संकलन 'कंधे पर सूरज' में है। कविता न तो छोटी है और न बहुत लम्बी है पर वह सब कुछ कह देती है, जो कवि कहना चाहता है। अति व्यक्तिवादिता की जो लहर नयी कविता द्वारा जानबूझ कर उठायी गयी थी वह अपना विस्तृत प्रभाव रचनाकारों पर नहीं डाल सकी। मिश्र जी की 'साक्षात्कार' कविता का रचनाकाल सन् उनहत्तर है। यह समय ऐसा था जब सामाजिक परिवेश में बहुत उथल पुथल थी और साहित्यिक परिवेश में आंदोलनों के झोंके चल रहे थे। ऐसी स्थिति में मिश्रजी का काव्य-सृजन समाजोन्मुख ही रहा। वे कभी अतिव्यक्तिवादिता के भवंर में नहीं पड़े। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में काल को

---

१. रामदरश मिश्र : कंधे पर सूरज काव्य संग्रह में संकलित कविता साक्षात्कार पृ० १३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लांघने की ऊर्जा कवि के आत्म विश्वास और कथ्य के प्रति उसकी ईमानदारी की उपज है। उसकी लोक दृष्टि के फैलाव में ही उसका व्यक्तित्व भी झलकता है।

नक्सल बाड़ी का किसान आन्दोलन, अपराधियों का राजनीति से तालमेल, सामाजिक उथल-पुथल और आतंक अपने-अपने दायरे में क्षेत्र के अनुसार जनता को प्रभावित कर रहे थे। प्रभाव की इस भूमिका से रचनाकार अछूता नहीं था। वातावरण की विषाक्तता 'साक्षात्कार' की प्रारंभिक पंक्तियों में इतिहास और तात्कालिकता की गवाह बन कर उभरी है। कवि के शब्दों में— 'चंदन वनो को बंद कर लिया गया है/संगमरमरी मकानों में/डाल-डाल पर लिपटे हुए सांप/हवाओं को/अपने फेफड़ों में कैद करते रहते हैं/और सुबह होते ही/उन्हें छोड़ देते हैं और ज़हर से दाग कर/सारे शहर पर/शहर से गांव पर... ।' मैंने विषाक्तता की गवाही की बात इसलिए कही है कि जब ज़हर के न्यायालय में ज़हर ही, वकील, जज, वादी-प्रतिवादी और पेशकार सभी कुछ हो तो निर्णय में ज़हर के वर्चस्व के पूरी तरह बने रहने की पूरी संभावना रहती है। ऐसे माहौल में अमंगल के निशान बहुत स्पष्ट दीख जाते हैं। क्योंकि कवि युगद्रष्टा होने के साथ-साथ भविष्य द्रष्टा भी होता है इसलिए उस निशान की पहचान कवि को अधिक होती है। कवि की 'साक्षात्कार' कविता उसका अन्तर्दर्शन है। इस अन्तदर्शन को साक्षात्कार में बदलने के लिए रचनाकार ने कई प्रतीक और बिम्ब ऐसे उभारे हैं जो कथन की भंगिमा को और चमका देते हैं। सांप हिन्दी कविता का एक सुपरिचित प्रतीक है। फ्रायड ने तो अपने अध्ययन में सांप को महत्त्व दिया है। सांप ने अपनी अनेक विशेषताओं के कारण कवियों के ध्यान को अपनी ओर खींचा है। यह कोई आज की नयीं बात नहीं है। प्राचीन काल से सांप कल्पना विहारियों का आकर्षण रहा है। और अब तो यथार्थ की प्रस्तुति में सांप विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हो गया है। 'साक्षात्कार' कविता की कुछ पंक्तियां हैं— 'अपनी धरती की सांसों को/पी लिया है सांपों ने/उसे समुदों पार से आक्सीजन दिया जा रहा है।' और इतना ही नहीं, अपनी-अपनी औक़ात की भिन्नता लिए इन सांपों का वैविध्य देखा जा सकता है। कवि के अनुसार—'बड़े सांप/छोटे सांप/पतले सांप मोटे सांप/लाल सांप/नीले सांप/काले सांप/पीले सांप/सांपों की इतनी विविधता के कारण इनसे बिना अभिभूत हुए कौन निकल पायेगा ? साथ ही यह बात भी स्पष्ट है कि इन तमाम ज़हरीले सांपों से ज़हर ही बाहर आयेगा, जो शहर और गांव को झुलसा देगा। भविष्य में नहीं, अपितु इन सांपों द्वारा हमारा वर्तमान भी प्रताड़ित और दंशित किया जा रहा है।

'साक्षात्कार' कविता संकेत करती है कि ज़हर की शुरूआत पहले शहर से होती है। अज्ञेय का सांप तो कभी शहर में रहा नहीं, फिर भी उसने डसना सीख लिया था। मिश्र जी का सांप रहने के लिए कहीं भी रह सकता है पर उसका ज़हर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शहर या गांव में कोई भेद नहीं करता। विसंगति यह है कि फूत्कार के विष का मान लोगों को होना ही नहीं। वे मलयानिल समझ कर खुश होते हैं। और परिणाम में ऐंठे हुए कंठ आंखों के सामने होते हैं। 'साक्षात्कार' का मूलाधार समाज की विसंगति है। ऐसी विसंगति जो हमारे मूल्यक्षय का कारण बनी हुई है। मिश्र जी के लेखक का सोच गांव की मूल्यवत्ता का पक्षधर है। उनके लेखन की मनोभूमि वहीं की है। कवि अपने यथार्थ को भोगते हुए सपने देखता है और नये-नये सपने संजोता भी है। अपने सपनों की प्रामाणिकता को वह प्रश्नवाचक चिह्नों से घेर देता है जब उसे दीख पड़ता है कि मंत्रालय और फैक्टरियों में तैयार होते सपने जाने कहां फुर्र हो जाते हैं—'और झुंड के झुंड लोग/गंदे नाले के किनारे पास-पास बैठे हुए/नंगे यथार्थ का साक्षात्कार करते हैं/और समझते हैं/कि सुबह हो गयी/कोई नहीं जानता/कि मंत्रालयों और फैक्टरियों में/गढ़ जाते हुए इतने सपने कहां जाते हैं ?'

मिश्रजी के हृदय का अन्तर्वेग मानववादी है। मौलिकता और रचना की चेतना की समीकृति उनकी इस कविता की शक्ति को बढ़ाती है। कहना असंगत न होगा कि यह बात उनकी समग्र कविता पर लागू होती है। समकालीन लफ्फाजी की वह गंध यहां नहीं मिलेगी जो यौन-क्रांति की धुंध बन कर उस समय रचना के क्षेत्र में छायी थी। अन्तर्दर्शन और मननशीलता के तालमेल से जीवन का यथार्थ 'साक्षात्कार' में समेकित रूप में विद्यमान है। कवि ने बड़ी सावधानी से युग के सत्य को आस्तीन, डाल, संगमरमरी मकान, मलयानिल, दिन, शहर, गांव, फसल, धूप, लकवा जुबान, कबूतर, प्लेग, गद्दी और तहखाना आदि के माध्यम से पुनर्नियोजित किया है। कविता का पाठक सारे माहौल से परिचित है। इस परिचित से उसे लाभ यह होता है कि कविता पढ़ते समय प्रभावित करने वाले अंश स्वयं रेखांकित होते हुए चलते हैं। अन्य कविताओं की भांति मिश्रजी की 'साक्षात्कार' कविता में कोई ऐसा अजनबी प्रयोग नहीं मिलता, जो हमें चौंकाए या अर्थ सम्प्रेषण में उलझा हुआ लगे। कदाचित् इसका कारण कवि का अपना व्यक्तित्व है जिसका आधार सहजता और ऋजुता है। यह सीधा और सरल मार्ग है। यहां बाहर-भीतर एक सा है। कवि को मनुष्य की शक्ति पर विश्वास है पर उसे अचंभा है कि लोग अब वहां भी क्रोध नहीं करते, आस्तीनें नहीं चढ़ाते, जहां कि वह काम्य है। उसके अनुसार क्रियाशीलता की दुनिया में हलचल तो है पर मानव मूल्यों की आदर्शीकृत भूमिका बनाने के लिए कोई तैयार नहीं है, मनुष्य अपने को बदलने के स्थान पर समाज बदल रहा है। इतना ही नहीं, वह दुनिया बदलने के लिए भी तत्पर है। उसकी इस तत्परता का छन्द हमारे सामने तब और स्पष्ट होता है जब व्यक्तिगत स्वार्थों के आगे घुटने टेकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'साक्षात्कार' में जिन सन्दर्भों की ओर संकेत है, वे मनुष्य से बहुत गहरे जुड़े हैं। कविता के रचना-समय के बाद बीस साल का लंबा समय बीत गया है। और बदलाव की कोई दशा दीख नहीं रही है। कवि का काम संकेत करना है। उसने कहा न कि, 'हिजड़ों के हाथों में/कामशास्त्र की पोथियां है/भेड़ियों के गले में टंगा है/वैष्णव संगीत/बंदूकों पर पंचशील की मुहर है/इन दिनों बाजार में सेंट की खपत/बहुत बढ़ गयी है/मछलियां तब से बहुत डरी हुई हैं'। व्यंग्य कवि का शिल्पीय हथियार है। हथियार के स्थान पर औजार कहना ज्यादा उपयुक्त होगा। सुनियोजित व्यंग्य के माध्यम से आये हुए कविता-खण्ड अपनी पूरी अर्थवत्ता संजोये हुए हैं। यह अर्थवत्ता अपनी गहराई में कविता की शक्ति बन गयी है।

गिरावट के इस धूमिल माहौल में सूर्य भी अपनी अस्मिता को बचा नहीं पाया है। जो ऊर्जा और ऊष्मा उसमें होनी चाहिए, वह ग़ायब है। हादसा तो यह भी हुआ कि सूर्य के कलारास घोड़े भी मरियल दीख रहे हैं—'रात/फूटे परनाले के काले जल की तरह/बिखर जाती है/जिसमें सूरज का भटका हुआ रथ/कहीं फंसा होता है/वह बड़ी मुश्किल से/हांफते मरियल घोड़ों को लिए हुए/बाहर निकलता है/ तो सुबह हो जाती है'। थके हुए सूर्य के आने पर जो सुबह आयेगी, उसका चेहरा कैसा होगा ? अनुमान लगाना बहुत कठिन नहीं है। समाज का विरुपीकरण प्रकृति को भी प्रभावित कर रहा है। जो प्रकृति अभी तक अपनी ताज़गी के लिए प्रसिद्ध थी, वही अपने धूमायित रूप में अपना मुंह लटकाए हुए है। जो जहां है, अपने अतिचार से केवल अपना भला कर रहा है।

यह कविता सूक्ष्मदर्शी चिन्तन बिन्दुओं को न उभार कर हमारे दैनंदिन जीवन की कैफियत प्रस्तुत करती है। बौद्धिकता के गवेषणापूर्ण संकेतों की भी यहां कोई गुंजाइश नहीं है। यहां तो कवि का सोच कविता के साथ-साथ विस्तार पाता गया है। सोच के उस विस्तार को बांधने के लिए 'साक्षात्कार' का कलेवर बड़ा नहीं है। हां, इसकी संश्लिष्टता भी एक विशेषता है। यह भी स्पष्ट है कि यह कलात्मक रचना नहीं है। यदि ऐसा होता तो रचनाकार एक-एक शब्द का प्रयोग बहुत संभल कर करता। क्योंकि 'साक्षात्कार' एक बहुत बड़े सत्य से टकराती है, उसकी ओर आदि से अंत तक उन्मुख रहती है, इसलिए इसे हम दृश्य धर्मी रचना कहेंगे। कविता में आये दृश्य-सन्दर्भ ऐसे नहीं हैं जो अपनी जड़ीभूत स्थिति में मूक बने रहते हों। वे उन बातों की ओर उंगली उठाते हैं जो मनुष्य के जीवन से बहुत गहराई तक जुड़ी हैं। संसार के सारे चमत्कारों का कर्ता मनुष्य है मनुष्य ही मनुष्य को डंस रहा है। यह विडम्बना 'साक्षात्कार' में बखूबी उभारी गयी है। मनुष्य अपने द्वारा ही छला गया है। जो जहरबाद उसके शरीर को बदरंग विस्फोटों से नष्ट कर रहा है, उसका कर्ता वह स्वयं है। अपने अन्तर्जगत की मजबूरियों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीता हुआ रचनाकार एक असहाय सी मुद्रा में सोचता है, कि 'हमारी धूप को लकवा मार गया है/उसके लिए/विदेशों में बैसाखियां तैयार की जा रही है।' और भी कि 'धरती का रस पीती हुई बालियां फसलों के कंधों पर/ लाशों की तरह लटक जाती हैं।' यह सारा दृश्य बाहरी संसार का है जो अब कवि के अन्तस् का हिस्सा बन गया है। 'साक्षात्कार' सन्तुलित अनुभूतियों की चेतना से उत्पन्न कविता है। जो विषय कवि ने रचना के लिए चुना है, वह वर्णनात्मक होते हुए भी वैसा नहीं हुआ। इसके लिए प्रस्तुति की शैली की प्रशंसा की जानी चाहिए।

'साक्षात्कार' कविता कवि का देखा हुआ कोई स्वप्निल संसार नहीं है। यह उसका जिया हुआ जगत है। यह किसी आकल्पक की फंतासी की दुनिया नहीं है। इसमें जो कुछ जैसा है, वह न तो असामान्य है और न ऐसा है जिसके लिए कहीं प्रमाण खोजने जाना पड़े। क्यों कि सामान्य रूप से इस लम्बी रचना का आधार कोई कथा नहीं है इसलिए इस बात की पूरी गुंजाइश है कि रचनाकार का कैमरा उन्हीं सन्दर्भों को फोकस करे जहां उसे कुछ असामान्य दीखता है। सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य की जय-यात्रा शुरू हुई थी। अभी वह यात्रा पूरी नहीं हुई है। सफर जारी है। फिर बीच में ही नाव के पाल क्यों उड़े जा रहे हैं। नाव पर बैठे हुए लोगों ने ही नाव में छेद क्यों कर दिया है। और ऐसा होने पर बाकी लोग मूक दर्शक क्यों बने हुए हैं ? ये सवाल हमेशा अनुत्तरित रहेंगे, यह तो मैं नहीं कहता पर इनका उत्तर पाना बहुत आसान नहीं। मिश्रजो की 'साक्षात्कार' कविता अपने समय की एक प्रामाणिक समीक्षा है। ऐसी समीक्षा जिसमें कविता के तत्त्व बहुत मुखर हैं। यह मुखरता रचना को हमेशा प्राणवान बनाये रहेगी।

———————

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शेष रास्ते की चुभन : खो गयीं सब यात्रायें साथ की[1]

डॉ० कृपाशंकर सिंह

"खो गयी सब यात्रायें साथ की
रास्ता ही रास्ता अब रह गया।
सुबह टूटी पड़ी है निःशब्द हो
रेत पर प्रक्षिप्त सागर-शंख सी
हांफती है शाम अपने से कटी
किसी आंधी बीच टूटे पंख-सी
छोड़ सूखे तट नदी-सा दिन कहां
किघर अनजाना अकेला बह गया ?"

रामदरश मिश्र की यह छोटी सी कविता है। पहली निगाह में कविता जिन बातों को हमारे सामने रख रही है, वे कुछ इस तरह हैं कि जैसे कोई अपने अतीत को फैलाये हुए सोच रहा हो, और उसमें से कुछ चुनने की कोशिश कर रहा हो, पर हाथ कुछ न आता हो। कविता का वह 'कोई' अतीत में हाथ डाल कर मुट्ठी बन्द करता है, लेकिन अतीत से निकाल कर जब मुट्ठी खोलता है तो बन्द मुट्ठी के बीच से कुछ निकलता नहीं। मुट्ठी के बीच कुछ न कुछ जरूर होगा, ऐसा आभास और अहसास उसे था, पर आज खुली हुई मुट्ठी एकदम खाली दिखाई दे रही है। मुट्ठी में कुछ भी तो नहीं है। सब कुछ जैसे विस्मरण के गर्त में ग़र्क़ हो गया है। नदी सा दिन बह गया है, बिवाई फटे सूखे तट छूट गये हैं। कुछ इस तरह की मानसिकता कविता को पढ़ कर सहज रूप से बनती है। पर कविता वास्तव में क्या सम्प्रेषित करती है, इसे सिलसिलेवार देखने पर जाना जा सकेगा।

इस कविता की वाह्यसंरचना के चार घटक हैं। प्रत्येक घटक दो-दो पंक्तियों का है, और हर घटक में एक ऐसी स्थिति का चित्र है जो अपने में पूर्ण स्थिति है। ये सभी घटक और स्थितियां कविता की गहनस्तलीय संरचना में ऊपर से नीचे तक

---

१. रामदरश मिश्र : कंधे पर सूरज काव्य संग्रह कविता में संकलित खो गई सब यात्रायें साथ कीं, पृष्ठ ३३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक दूसरे में अनुस्यूत हैं। पहले घटक में यह कहा गया है कि साथ-साथ की सभी यात्रायें न जाने कहां खो गयीं और अब केवल 'रास्ता ही रास्ता' रह गया है। 'रास्ता ही रास्ता' यहां ध्यान देने लायक है। इसका मतलब यह है कि (किसी के) साथ-साथ की यात्रायें जो पहले कभी की गई थी, वे यात्रायें आज कहीं खो गई हैं। उनका कोई चिह्न आज नहीं है, लेकिन रास्ते आज भी हैं। आज भी मुझे रास्तों पर चलना है। 'रास्ता ही रास्ता' अब रह गया है, यानि कि रास्तों से नजात नहीं है। रास्तों पर अब भी चल रहा हूँ पर ये रास्ते अब केवल रास्ते हैं, तुम्हारे साथ-साथ की यात्राओं के निशान उन पर से मिट गये हैं। 'खो गयी सब यात्रायें साथ की' 'खो गयी' क्रिया पदबंध महत्वपूर्ण है। यात्रायें खत्म हो गयी, नहीं कहा गया हैं, कहा गया है कि वे 'खो गयी' है। यात्रायें, साथ की यात्रायें यदि खत्म हो जाती तो भी उतनी बड़ी बात नहीं थी, आज वर्तमान में मन में उन्हें फिर से जिया जा सकता। फिर से सायों के रूप में उन्हें देखा जा सकता, अतीत में रास्तों पर साथ-साथ चलने को आज अहसास में उतारा जा सकता, उसे पुनः पुनः जीवित किया जा सकता और उसे मन में जीवित करके अतीतोन्मुख होकर आज की ज़िन्दगी की, जो आज केवल रास्ते हैं उन पर अकेले चलते हुए, जीया जा सकता था, पर ऐसा भी न हो पाया। क्योंकि यात्रायें केवल खत्म ही नहीं हुई हैं, वे खो भी गयी हैं। विस्मरण के गर्त में चली गयीं। साथ-साथ चलने की यादें भी आज पुनर्जीवित नहीं हो पातीं। इस 'खो गयीं' से ये सारी बातें प्रकट होती हैं। यदि 'खो गयीं' की जगह 'खत्म हो गयी' होता तो ऊपर की इन दो पंक्तियों में कोई खास बात नहीं रह जाती। लेकिन इससे यह अन्दाज नहीं लगाना चाहिए कि कवि ने ढूंढ कर या माथापच्ची करके और इस रहस्य को जान समझ कर ऐसा किया होगा। नहीं, ऐसा नहीं हुआ होगा। फिर 'खो गयीं' कैसे आया। इसका जवाब यह है कि कवि बहुत अधिक तीव्रता के साथ उस अहसास को महसूस कर रहा है। अहसास की तीव्रता की अत्यधिक सघनता की वजह से 'खत्म हो गयी' की जगह 'खो गयीं' आया है। इसका मतलब यह भी नहीं है कि यह स्वतः उद्भूत (स्पान्टेनियस ओवरफ़्लो) हो गया होगा। स्वतः उद्भूत नहीं हुआ, अहसास की सघनता के दबाव से पैदा हुआ।

ग़ौर करने लायक दूसरा अंश है 'रास्ता ही रास्ता'। 'रास्ता ही रास्ता अब रह गया'। इस पुनरुक्ति से यह ज़ाहिर होता है कि अब फ़क़त रास्ता रह गया है। अतीत में उन पर की जाने वाली यात्रायें जो (किसी के) साथ-साथ की यात्रायें थीं, वे सब यात्रायें विस्मृति में खो गयी हैं, लेकिन रास्ता अब भी बरकरार है, यानी अब भी (मुझे) चलते रहना है। मेरी यात्रा खत्म नहीं हुई, पर वह रास्ता अब मात्र रास्ता है, उस पर चलने का सुख नहीं रहा। अब तो रास्ते को काटने की मजबूरी में चलना है। सूनेपन की उदास दहशत को सीने में दबाये उस पर चलते रहना भर है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक और शब्द ध्यान देने लायक है···सब। 'खो गयी सब यात्रायें साथ की'। मतलब यह कि (तुम्हारे) साथ-साथ की जितनी यात्रायें थी, सब की सब खो गयी हैं। यदि यह स्थिति होती कि उनमें से कुछ यादों में अभी बसी रह गयी हैं तो कसक उतनी नहीं होती। बची यादों का कुछ तो सहारा होता। पर उनमें से कुछ भी बची नहीं रह गयी हैं, सब की सब खो गयी हैं। कुछ भी शेष नहीं रहा है। यह सारा कुछ 'सब' हमें बताताहै।

अब यहां एक बात यह भी कि जो लोग यह कहते हैं कि कविता में बहुत कुछ ऐसा रह जाता है, जिसे हम केवल (उसकी) भाषा से जान नहीं पाते, या खोल नहीं पाते। उसे खोलने के लिये भाषेतर तत्वों और साधनों की जरूरत रहती है, वे लोग एक भूल करते हैं। उनकी भूल भाषिक संरचना और सामर्थ्य से सम्बन्धित है। वे यह भूल जाते हैं कि कविता का वह 'बहुत कुछ' उसमें कहां से टपक पड़ा है। कहां से आया वह, और कैसे आया। आखिर आप केवल अटकल पर तो नहीं लाते उस 'बहुत कुछ' को। होता यह है कि जिसे हम कविता में भाषा से इतर 'बहुत कुछ' कहते समझते हैं, दरअसल वह भी भाषा की संरचना और सामर्थ्य का ही हिस्सा होता है। भाषा ही है वह। वह भी कविता में प्रयुक्त शब्द की अवधारणा की सीमा से बाहर की चीज़ नहीं है। कविता का विश्लेषण करते हुए या उसे पढ़कर समझते हुए ऐसी किसी चीज़ से होकर हम नहीं गुजरते जिसको बताने के लिये शब्द के पार जाने की जरूरत पड़ती हो। शब्द ही में हम उन सारी स्थितियों, हालात, व्यवस्थाओं या जो कुछ भी कविता में है, का संधान करते हैं। शब्द के अवधारणात्मक आयामों के बाहर न तो हम जाते हैं और न ही जाने की ज़रूरत है। कविता में कवि की सम्पूर्ण सर्जनात्मक ऊर्जा, जटिल समस्याओं का संग्रथित रूप, प्रेम की गरमाहट और विलग हो जाने की हताशा और जिंदगी के ऊबड़खाबड़ रास्तों का नैराश्य, इस सभी कुछ का अहसास पाठक को कविता के शब्द ही कराते हैं। और इस अहसास को शब्द केवल संकेतित नहीं करते यह अहसास उनके अन्दर समाहित रहता है, अलग अलग शब्दों की अवधारणा है यह। जहां शब्द किसी भाव या विचार की ओर संकेत मात्र करते हुए से जान पड़ते हैं वहां भी वास्तव में उन शब्दों की अवधारणात्मकता के साथ वे भाव और विचार जुड़े होते हैं। कविता में कुछ भी नहीं है जो शब्द की अवधारणा से बाहर पड़ता हो। ये बातें मैं इसलिये कह रहा हूँ कि यहां जिस कविता का विश्लेषण किया जा रहा है उससे यह बात भी चरितार्थ होती है।

खैर, अब हमें कविता पर फिर से लौट आना चाहिए। शुरू की इन दो पंक्तियों में जो कि कविता की संरचना का पहला घटक है, इसमें एक शब्द और रह गया है, जिसे खोलने की ज़रूरत है। यह शब्द है 'यात्रायें।' 'यात्रायें साथ की,' मानक भाषा में यात्रा शब्द का सामान्य अर्थ है 'जाने की क्रिया' या 'तीर्थ यात्रा' साथ ही 'जीवन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्वाह' और 'कालयापन' भी इसका अर्थ है। यहां पर कविता की 'यात्रा' में कौन सी अवधारणा है, सवाल यह है। सतह पर एक अवधारणा जाने की क्रिया से भी जुड़ती है, क्योंकि साथ-साथ जाने की बात कही गयी है। पर गहन स्तलीय संरचना में दूसरी अवधारणायें जुड़ जाती हैं—जीवन निर्वाह की। ज़िन्दगी की यात्रा साथ-साथ करने की। मतलब यह कि हमने-मैंने और तुमने—साथ-साथ जो ज़िन्दगी गुजारी थी, ज़िन्दगी के जो दिन साथ रहते हुए व्यतीत हुए थे, वे दिन, ज़िन्दगी के उन लम्हों की यादें तक कहीं खो गयी हैं। अब ज़िन्दगी एक सपाट रास्ता है, फ़क़त रास्ता। चलना अब भी है, पर अब ज़िन्दगी जीना नहीं है, ज़िन्दगी के दिन जैसे-तैसे काटने हैं। तुम्हारे बग़ैर ज़िन्दगी से आनन्द धीरे से कहीं खिसक गया है। जैसे मेले में मग्न बच्चे को एकाएक पता चले कि जिस हाथ को उसने पकड़ रखा था वह हाथ ही कहीं खो गया है।

दूसरी दो पंक्तियों में सुबह का चित्र है। सुबह टूटी हुई पड़ी है, शांत। टूटने की कोई आवाज नहीं आई। फ़िर यह बताया गया है कि यह टूटी हुई सुबह कैसी दिखाई देती है। लगता है जैसे सागर से कोई शंख रेतीले तट पर फिंक गया हो। मतलब यह कि सारा कुछ 'सुबह' पर है। सुबह पड़ी हुई है, टूटी हुई पड़ी है, निःशब्द टूटी पड़ी है। फिर सुबह इस तरह पड़ी दिखाई देती है, जैसे रेत पर फिंका हुआ सागर का शंख।

अब इस घटक की आन्तरिक संरचना पर ग़ौर करते हैं। इसमें केन्द्रीय शब्द है 'सुबह', क्योंकि इस घटक में जो कुछ भी घटित होता है यह सुबह पर होता है। निःशब्द टूटने वाली भी वही है और फिंके हुए शंख जैसी भी वही है। 'सुबह' वैसे भी अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्वपूर्ण शब्द है, इसकी अवधारणाओं में अनेक बातें जुड़ी हुई हैं। जैसे, एक नई उत्फुल्लता, नयी स्फूर्ति, आराम के बाद काम शुरू करने का उत्साह, सब कुछ में ताज़गी भर जाने का समय जैसी बहुत-सी बातें इसमें सिमटी हुई हैं। अर्थात् शुभारम्भ और जिन्दगी की नयी ताज़गी को रखने वाला शब्द है यह। लेकिन यहां यह शब्द अपनी सभी मूल अवधारणाओं से उखड़ गया है। इनमें से कोई बात यह यहां नहीं बता रहा है। यहां कुछ दूसरे ही तरह की बात जाहिर हो रही है। वह सुबह स्फूर्ति और नई ताज़गी देने की बजाय खुद ही टूटी हुई पड़ी है। टूटी भी ऐसी कि चिटखने की आवाज तक न हुई। अवहेलना का पात्र बनी बस फिंकी हुई पड़ी है, कोई उधर ध्यान नहीं दे रहा है। ज़िन्दगी में जिसके आने का इतना इन्तजार रहता है वह अनाकर्षक पड़ी है। जो हमारे मन के तार को नये सिरे से जोड़ती और झंकृत करती है, वह स्वयं टूटी पड़ी है। क़ैसी विडम्बना है। पर यह विडम्बना क्यों है ? इसका जवाब ऊपर की दो पंक्तियों में है, जहां साथ की सारी यात्रायें खो गयीं हैं। जिन्दगी जीते भर रहना है, जीने का आनन्द तो चला गया है। इसीलिये सुबह,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो वैसे यात्रा पर चल पड़ने का उपयुक्त समय है, कविता का जो 'कोई' है उसके लिये बेमानी हो गयी है। सुबह अपने में आज भी सुबह है पर 'कोई' की सुबह टूटन लेकर आई है। रास्तों पर चल पड़ने का उत्साह नहीं दे पाती अब।

दूसरों को जोड़ने वाली खुद ही टूट गई है, उसकी दुख की अवस्था दयनीय है। दयनीयता और अवहेलना का शिकार है वह उसे देखकर याद आता है वह शंख जिसे सागर ने अपने अन्दर से उलीच कर बाहर रेत पर फेंक दिया है। 'शंख' भी 'सुबह' ही की तरह एक बहुत महत्वपूर्ण शब्द है। यह सागर के जीव का खोल मात्र नहीं है, भारतीय जन-मानस में इसकी एक खास जगह है। अधिकांश जन-मानस इसकी ध्वनि को पवित्रता का सूचक मानता है। धार्मिक अनुष्ठानों का आरम्भ और समापन इनके उद्घोष द्वारा किया जा रहा है, आज भी किया जाता है। यह शब्द हर तरह की पवित्रता और शुभ को अपने अन्दर रखता है। वही शंख यहां रेत पर प्रक्षिप्त पड़ा है। महत्वहीन, उपक्षेपित, जैसी पवित्रता की ऊंचाइयों से नीचे गिर पड़ा हो। सागर ने उसे अपने अन्दर से फेंक दिया है। अब सवाल यह है कि यह जो सुबह टूटी हुई, और रेत पर शंख-सी पड़ी है उससे कवि हमें कहना क्या चाहता है। दूसकी बात यह है कि जो सुबह कविता के 'कोई' को टूटी हुई ओर फिकी हुई दिखाई देती है, वह क्या सभी की सुबह है या केवल 'कोई' की, तो जाहिर है कि यह केवल 'कोई' की सुबह है। श्याम और घनश्याम की सुबहें और हैं जो 'कोई' की सुबह से भिन्न हो सकती हैं। इसे यों समझा जा सकता है कि एक मूल सुवह है जो प्राकृतिक सुहावना ऊषा-काल का दृश्य हैं। जिसमें वे तमाम गुण हैं जिन्हें अभी ऊपर बताया गया है। अब इस मूल सुबह के साथ हर व्यक्ति की अपनी सुबह है, कि किसी की मूल सुबह से भी अधिक सुहावनी, और ताजगी देने वाली, और किसी की टूटी हुई उदास। इसी तरह असंख्य लोगों की असंख्य सुबहें हैं। असंख्य शेड्स हैं सुबह के। ये असंख्य शेड्स सुबह के ओवरटोन्स हैं जो हर व्यक्ति की मनःस्थिति के साथ उससे जुड़ते हैं। यहां कविता का जो 'व्यक्ति' है उसकी सुबह टूटी हुई, रेत पर फिंकी हुई सी है। 'व्यक्ति' की मनःस्थिति का परावर्तन (रेफ्लेक्शन) है यह। कविता का 'कोई' खुद ही टूट गया है, उपेक्षित है। उसे सब कुछ टूटा-टूटा उपेक्षित दिखाई दे रहा है।

लेकिन कवि ने यहां कविता के 'व्यक्ति' की मनःस्थिति का कविता पर आरोपण नहीं किया है। यह आरोपण नहीं है, यह तो कविता की आन्तरिक संरचना का हिस्सा है। एक बात यह भी है कि जरूरी नहीं कि कवि ने इसे लिखते हुए कुछ इसी तरह की बात सोची हो, जो बातें यहां कही जा रही हैं। यह कतई जरूरी नहीं है। हो सकता है कि कवि ने इन्हें और ढंग से सोचा हो या उसकी मनःस्थिति ठीक वही न हो जैसी मनःस्थिति को हम मान कर चल रहे हैं। इसमें अन्तर हो सकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। यही तो कविता की सम्भाव्यता है। कविता के शब्द की बहुआयामी अवधारणा है। इसलिये यह सम्भावना तो हमेशा रहेगी ही। और इससे कविता की समझ और उसके विश्लेषण की प्रामाणिकता प्रभावित नहीं होती। कवि ने जो कुछ सोचा और महसूस किया वह तो आधिकारिक और प्रमाणिक है ही, वह भी उतना ही आधिकारिक और प्रमाणिक है जिसे सहृदय पाठक और विश्लेषक ने सोचा और महसूस किया। भले ही (कवि और पाठक-विश्लेषक) दोनों के सोचने और महसूस करने के दरम्यान काफ़ी फ़ासला हो। या उसी कविता के अनेक विश्लेषकों में धरातल की ही भिन्नता हो। अपनी बत को फिर मैं दुहराऊंगा कि यही कविता की सम्भाव्यता है।

टूटी पड़ी सुबह के बाद आगे तीसरे घटक में हांफती हुई शाम का जिक्र है। शाम अपने से कटीं हांफ रही है। यह अपने से कटकर शाम का हांफना इस तरह लग रहा है, जेसे टूटा हुआ कोई पंख आंधी के बीच में आ गया हो;

जिस तरह 'सुबह' में कुछ अवधारणायें जुड़ी हुई हैं उसी तरह 'शाम' शब्द में भी कुछ अवधारणायें निहित हैं। जिन्दगी के सन्दर्भ में भी यह शब्द प्रयुक्त होता है, उसके आखिरी पड़ाव को बताने के लिए। शाम दिन का भी आखिरी पड़ाव है। सुवह दिन की शुरुआत थी जो टूटी पड़ी है। शाम अपने से कट गई है, सुबह और दिन से उसकी तारतम्यता कट गई है। शाम शान्त और स्थिर हो, इसके लिए जरूरी है सुबह और दिन से उसकी निरन्तरता का जुड़ना-सहज और स्वाभाविक हो। सुबह टूटी पड़ी है और दिन सूखे तटों को छोड़ नदी-सा कहीं बह गया है। फिर शाम शान्त और स्थिर कैसे होती। वह तो इस तरह से कट कर उखड़ गई है जैसे पक्षी का पंख पक्षी को छोड़ उखड़ जाये और किसी आंधी के बीच पड़ जाये। शाम की जड़ें दिन में होती है, दिन से उसकी जड़े कट गई है। वह अधर में लटक रही है, और अधर में लटकी हुई वेचैन हांफ रही है। कविता के 'व्यक्ति' की तरह। कविता का 'कोई' भी अपनी जड़ों से कट गया है, उसकी जड़ें (प्रिय के) साथ-साथ की जीवन यात्राओं में हैं, जो यात्रायें खो गई हैं, साथ छूट गया है। नदी सा तरल दिन कहीं वह गया है, सुबहें टूटी हुई उदास हैं। फिर शामों से क्या अपेक्षा हो सकती है। जिन्दगी की यह शाम भी अपने सभी संजीवनी-स्रोतों से कटी हुई आकुल व्याकुल हांफ रही है। उखड़कर अधर में लटकी हुई। कहीं भी टिकने की जगह नहीं। टिक पाने में असमर्थ हांफ रही है। टूटे हुए पंख की भी यह गति होती है, उसके जुड़े रहने का सहारा पक्षी है, पक्षी का अंग है वह। पक्षी से बिलग होकर उसकी अधोगति तो होनी ही है। और ऊपर से आँधी से घिर जाय तो भटकने से उसे कौन बचा सकता है। इसी तरह 'कोई' की नियति भी भटकन से जुड़ गई है। सभी सहारे टूट गये हैं, बह कर दूर निकल गये हैं। 'कोई' अवश सा पड़ा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'शाम' के साथ दो चीजें घटित होती हैं। वह अपने से कटी हुई है, और अपने से कटी होकर हांफ रही है। यह बात ग़ौर करने लाइक़ है कि 'शाम' के साथ जो ये दो बातें—कटना और हांफना—जुड़ी हैं इसमें 'हांफना' स्वतंत्र रूप से उससे नहीं जुड़ा हुआ है। 'शाम' कटी हुई है और हांफ रही है, हांफना कट जाने की वजह से है। मतलब यह कि हांफने के क.रण-बीज अपने से कट जाने में निहित हैं। उसी तरह से जैसे पंख यदि पक्षी से विलग न होता तो आंधी उसका कुछ बिगाड़ नहीं पाती। आंधी के बीच में वह भटक रहा है, क्योंकि पक्षी से टूट कर अलग हो चुका है। इसी तरह कविता का 'कोई' जिसके साथ की उसकी यात्रायें खो गयी हैं, उससे विलग हो चुका है। और विलग होकर अपनी अनुरागात्मक या भावनात्मक जड़ों से वह कट गया है। जड़ें उसके साथ छूट गयीं जिसके साथ की यात्रायें खो गयी हैं। वह जड़ों से कटा, अनुराग-सत्वहीन, अपने अस्तित्व के लिए हांफ रहा है। उसका अस्तित्व सुस्थिर नहीं रहा, डगमगा रहा है, एकदम अनिश्चित, अनियत-कालीन। टूटा पंख कहां टिकेगा, कौन कह सकता है, और यदि वह आंधी से पड़ जाय तो निश्चय ही उसके टिकने की सारी उम्मीदें ख़त्म हो जाती हैं।

कविता की आखिरी दो पंक्तियां उसकी बाह्य संरचना का अंतिम घटक हैं। इसमें दिन के बारे में कहा गया है। दिन नदी जैसा है जो अपने सूखे तटों को छोड़-कर अकेले कहीं बह गया है। नदी और तट का चोली-दामन का साथ है पर यह साथ भी छूट गया है। तट जिनकी आर्द्रता नदी की बदौलत है, नदी न हो तो वे तो सूख ही जायेंगे। उन्हें सूखने से कौन बचा सकता है।

इसमें पहला महत्वपूर्ण अंश है—'नदी सा दिन'। दिन नदी के समान। ऊपर, टूटी हुई सुबह और हांफती हुई शाम का ज़िक्र है, अर्थात् दोनों बेचैन, बेहाल हैं। दिन भी बेचैन, बेहाल है। तभी तो वह अनजाने रूप में अकेले ही न जाने किधर चला गया है। उसे इस बात की भी चिन्ता नहीं रही कि उसके बग़ैर उससे जुड़े तट सूख जायेंगे। उनकी सम्पूर्ण आर्द्रता ही ख़त्म हो जायेगी। दिन नदी के समान है। नदी की तरलता और निरन्तर चलते रहने का गुण दिन उससे लेता है। जिन दिनों के बारे में यहां कहा गया है वे दिन अपनी तरलता और निरन्तरता को लेकर कहीं अदृश्य में खो गये हैं। जैसे तटों के बीच से नदी कहीं बह जाय, और तटों को सूखा छोड़ जाये। यहां इस ओर संकेत करना भी ज़रुरी जान पड़ता है कि सुबह, शाम और दिन सभी का प्रयोग एक वचन में हुआ है। मानो किसी एक सुबह, या शाम या दिन की बात की जा रही हो। पर कविता की आंतरिक संरचना से स्पष्ट है कि यहां सुबह, शाम और दिन का ज़िक्र नहीं है, बल्कि सुबहों, शामों और दिनों की बात है। सो नदी के समान कहीं अकेले ही बह जाने वाला दिन हर रोज़ का घटित होने वाला दिन है। कविता के कालखण्ड में हर रोज़ दिन के साथ यही होता हैं। हर रोज़ जैसे वह किसी अनजाने लोक में चला जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब सवाल है कि यह दिन अनजाने गह्वरों में क्यों चला जा रहा है। दिन तो आखिर दिन है और जो बात अभी ऊपर सुबह (और शाम) के बारे में कही गयी है, वही बात दिन के बारे में भी है कि दिन अपनी जगह पर दिन है, उसमें वास्तव में कोई परिवर्तन नहीं आ रहा है, परिवर्तन कविता के 'कोई' के दिनों में आ रहा है। जो उसके साथ था, अब उसके साथ नहीं है। वह अपने साथ सुबह की रौनक़ को, शाम के सुकून को और दिन की तरलता को भी लेता गया है। वह अनजाना होकर अकेले अकेले ही न जाने कहां और किधर को चला गया है। उसके जाने के बाद, उसके साथ की यात्राओं के खो जाने के बाद, सुबह और शाम के साथ दिन भी अब उसका नहीं रहा। दिन अब उसे तरल नहीं बना पाता, कार्यरत होने को प्रेरित नहीं कर पाता। वह सूखा सूखा सा रह जाता है।

'अनजाना अकेला' भी क़ाबिले ग़ौर है। अनजाना यहां अनजानी राहों के लिए नहीं है, उसके लिए है जो चला गया है। 'वह' अनजाने रूपमें अनजाना होकर चला गया है, साथ ही अकेले चला गया है। साथ की यात्रायें उसने अपने पास से झटक दी हैं और अकेले ही कहीं ग़ायब हो गया है। इसी तरह 'कहां किधर' है। नदी सा दिन कहां चला गया। किधर चला गया। 'वह' कहां गया होगा। यह 'कहां' और किधर गया होगा। किधर' कविता के 'व्यक्ति' के मन में जिज्ञासा जगाने वाले शब्द नहीं है, उसकी बेचैनी को बताने वाले शब्द है। इस 'कहां' ओर 'किधर' की बेचैनी में उसकी सांस जैसे घुट रही है, वह व्यग्र, उद्विग्न है। इन शब्दों में स्थान और दिशा की बात तो है ही, पर इन शब्दों की अवधारणा में कविता के 'व्यक्ति' की व्यग्रता भी शामिल है। आखिर ये उद्‌गार तो उसी 'व्यक्ति' के हैं। वही व्यक्ति है जिसके दिन नदी के समान न जाने किधर बह गये हैं, और वह सूखे तटों के समान सत्वहीन बेमानी ज़िन्दगी को ढो रहा है।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परजीवी अपसंस्कृति । राजधानी एक्सप्रेस[1]

डॉ० हरदयाल

अगर कोई पूछे कि स्वतन्त्र भारत की क्या उपलब्धियाँ हैं, तो तरह-तरह के उत्तर मिलेंगे। कोई कहेगा-भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी भाई-भतीजावाद, बेईमानी, गुण्डागर्दी, वेशर्मी आदि स्वतन्त्र भारत की उपलब्धियाँ हैं। ये हमारे देश का यथार्थ है और स्वतन्त्र भारत में इन्होंने बडी उन्नति की है। लेकिन सरकारी तन्त्र इन्हें स्वीकार नहीं करेगा; और यदि करेगा भी तो दबी जबान से। वह तो औद्योगिक प्रगति, कृषि और विज्ञान के क्षेत्र की उन्नति, सैनिक शक्ति आदि के आँकड़े प्रस्तुत करके कहेगा कि अमुक प्रधान मंत्री के शासनकाल में देश इतना उन्नत हो गया है कि आकाश को चूमने लगा है और विश्व-शक्ति बन गया है। आजकल सरकारी प्रचार-तन्त्र अपनी इन क्षेत्रों की उपलविधयों का ढिढ़ोरा कुछ ज्यादा ही पीट रहा है और उसका स्वर प्रखर से प्रखरतर होता जा रहा है। बावजूद इसके इस बात को सभी स्वीकार करेंगे कि स्वतन्त्र भारत में गरीब और अमीर के बीच की खाई खूब चौड़ी हुई है और भविष्य में इसके और चौड़ी होने की सम्भावना है। इस विषमता को और कोई अनुभव करे या न करे लेकिन साहित्यकार अवश्य अनुभव करता है। और अनुभव ही नहीं करता है, अपनी रचनाओं में प्रखरता के साथ अभिव्यक्त भी करता है। इसके कारण उसका स्वर प्रतिपक्ष का स्वर है। यहाँ यह ध्यान रहे कि चारणों को साहित्यकारों में सम्मिलित न किया जाये। डॉ० रामदरश मिश्र की कविता 'राजधानी एक्सप्रेस' ('दिन एक नदी बन गया' में संगृहीत) गरीब और अमीर के बीच की उक्त विषमता को रेखांकित करती है। उनकी सहानुभूति अमीरों के साथ न होकर गरीबों के साथ है। इसीलिए उनकी यह कविता व्यवस्था-विरोधी कविता है, प्रतिपक्ष का स्वर है।

स्वतन्त्र भारत में गरीबी का प्रतीक झुग्गी-झोपड़ियाँ और फुटपाथ पर सोते लोग हैं तो अमीरी के प्रतीक अनेक हैं। राजधानी एक्सप्रेस इनमें से एक है। नयी

---

१. रामदरश मिश्र : दिन एक नदी बन गया में संकलित कविता राजधानी एक्सप्रेस पृ० ८०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिल्ली और बम्बई, तथा नयी दिल्ली और कलकत्ता को जोड़नेवाली पूर्णत: वातानुकूलित दो रेलगाड़ियाँ राजधानी एक्सप्रेस कहलाती हैं। राजधानी एक्सप्रेस की निराली ही शान है। अत्यधिक तीव्र गति और बहुत अधिक किराये वाली यह एक्सप्रेस आम आदमी की पहुँच के बाहर है। इसमें विशिष्ट लोग यात्रा करते हैं और जो लोग विशिष्ट नहीं भी हैं वे भी इसमें यात्रा का अवसर पाकर अपने को विशिष्ट अनुभव करने लगते हैं। जब यह गाड़ी चलती है तो इसको साफ रास्ता देने के लिए अन्य गाड़ियों को रोक दिया जाता हैं। साधारण यात्री गाड़ियों की तो बात ही क्या है, अन्य एक्सप्रेस गाड़ियाँ भी इसके सामने हेय हैं। यह छोटे-मोटे स्टेशनों पर। तो रुकती ही नहीं है। रुकती है तो गिने-चुने विशेष स्टेशनों पर यह दो राजधानियों के बीच के विस्तार में फैले खेतों, खलिहानों, जंगलों, मैदानों, नदियों, पहाडों आदि को अपनी दहशत भरने वाली आवाज के साथ ऐसे पार कर जाती है जैसे उनसे इसका कुछ लेना-देना नहीं है। गर्मी, सर्दी, बरसात-कोई ऋतु हो, यह प्रभावित नहीं होती। इसके अपारदर्शी बन्द शीशे इसे बाहर की दुनिया से काट देते हैं। रामदरश जी ने राजधानी एक्सप्रेस को प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया है। यह शासक वर्ग, सम्पन्न वर्ग का प्रतीक है। इस वर्ग के और भी अनेक प्रतीक हैं जैसे पंचतारा होटल, हिल स्टेशन, वातानुकूलित आयातित कारें, चलते-फिरते टेलीफोन, महलनुमा भवन आदि। ये सब परजीवी अपसंस्कृति के प्रतीक हैं। संस्कृति स्वतन्त्र भारत में खूब पनपी है। १९४७ में जब देश आजाद हुआ तो सत्ता जनता के हाथ में नहीं आई, बल्कि उनके हाथ में आई, जो तन से तो भारतीय थे किन्तु मन से अँग्रेज थे और अब अमरीकी हैं। इनके जीवन-मूल्य विदेशों से आयातित हैं। इनका आदर्श अमरीका है। इनकी जड़ें इस देश में नहीं हैं। ये इस देश को प्यार नहीं करते हैं। इसलिए इनके और बहुसंख्यक देशवासियों के बीच अपारदर्शी शीशा लगा हुआ है। शीशे के एक ओर स्वर्ग है और दूसरी ओर नरक। स्वर्ग और नरक के बीच का विभाजन दिल्ली में भी विद्यमान है तथा अन्यत्र पूरे देश में भी। इस विभाजन ने तरह-तरह की विकृतियों को जन्म दिया है। हमारी सरकार ने कार आदि खरीदने के लिए तो ऋण की व्यवस्था की है लेकिन गेहूँ, चावल, दाल, वस्त्र, आदि खरीदने के लिए ऋण की कोई व्यवस्था नहीं की है। हमारी सरकार चाहती है कि लोग चाहे भूखे-नंगे रहें, फुटपाथों पर सोयें लेकिन यात्रा करें वातानुकूलित रेलगाड़ियों और कारों में। इस देश में परजीवी अपसंस्कृति को प्रश्रय देने वाला वर्ग देश से विच्छिन्त है।

'राजधानी एक्सप्रेस' कविता में स्वतन्त्र भारत में पनप रही परजीविता और अपसंस्कृति को सशक्त अभिव्यक्ति देने के लिए सन्निधि (जक्स्टापोजीशन) के शिल्प को अपनाया गया है। कवि ने दो चीजों को आमने-सामने रख दिया है जिससे एक विरोधात्मक तनाव उत्पन्न हुआ है और नाटकीयता की सृष्टि हुई है :—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनता गाड़ियाँ रोक दी गयी हैं—
यहाँ···वहाँ···
पसीने से लथपथ वे खड़ी-खड़ी बुदबुदाती हैं
साँस रोक कर खड़े हैं तमाम छोटे-छोटे स्टेशन
हाँ, राजधानी एक्सप्रेस जा रही है राजरानी की तरह
यह राजधानी से राजधानी को जाती है
उन तमाम स्टेशनों को निर्ममता से कुचलती हुई
जहाँ छोटी-छोटी देहाती गठरियाँ
अपने अनन्त सुख-दुख बाँधे हुए
किसी देसी गाड़ी के इन्तजार में पड़ी होती हैं।

इन पंक्तियों को ध्यानपूर्वक पढ़ने से स्पष्ट होता है कि सारा द्वन्द्व जनता गाड़ी और राजधानी एक्सप्रेस के बीच है; दूसरे शब्दों में जनता और शासक के बीच। जनता और शासक एक-दूसरे के पूरक नहीं हैं, विरोधी हैं। जनता गाड़ी का मानवीकरण उसकी प्रतीकात्मकता को स्पष्ट कर देता है। जनता गाड़ी वस्तुतः जनता है। पसीने से जनता गाड़ी लथपथ नहीं है बल्कि जनता लथपथ है। जनता पसीने से लथपथ नहीं होगी तो और क्या होगी ? वह परजीवी नहीं है, मेहनतकश है। वह यहाँ के मिट्टी-पानी से, यहाँ के मौसम से एकाकार है। वह यहाँ की सर्दी, गर्मी, बरसात को निरन्तर झेलती हैं। इनसे बचने के लिए उसके पास वातानुकूलित घर, रेलगाडियाँ, कारें आदि नहीं हैं। पहले तो जनता के पास अवकाश नहीं है, और यदि हो भी तो वह आराम करने के लिए शिमला-मसूरी या स्विटजरलैण्ड तो नहीं जा सकती। वह इस विषमता को अनुभव करती है, लेकिन स्वयं को लाचार भी पाती है। इसलिए विद्रोह नहीं करती, खड़ी-खड़ी केवल बुदबुदाती है। यह बुदबुदाना भी जनता गाड़ियों का नहीं, जनता का है। कवि ने 'जनता गाड़ियाँ' में 'जनता' शब्द सचेत भाव से प्रयुक्त किया है। शासक वर्ग के पास जो वैभव है, जो अधिकार है वह आम आदमी को आतंकित करता है। तमाम छोटे-छोटे स्टेशनों का साँस रोक कर खड़ा होना इसी आतंक का द्योतक है। इसके विपरीत राजधानी एक्सप्रेस है—'राजरानी की तरह' जा रही है। 'राजरानी की तरह' क्या, राजरानी ही समझिये। उसमें राजरानी होने का दर्प है, निर्ममता है। वह छोटे स्टेशनों को—छोटे या आम आदमियों को कुचलती हुई जा रही है। राजधानी एक्सप्रेस के लिए लाया गया उपमान 'राजरानी' सटीक और व्यंजक है। जिन स्टेशनों को राजधानी एक्सप्रेस छोड़ती चली जा रही है वहाँ 'किसी देसी गाड़ी' की प्रतीक्षा कर रही हैं छोटी-छोटी देहाती गठरियाँ यानी छोटे गिने जाने वाले देहाती लोग। ये लोग अपने सुख-दुख साथ लेकर चलते हैं। 'देहाती गठरियाँ' और 'देसी गाड़ी' के विशेषणों के बीच खूब ताल-मेल है। भारत देहात है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिल्ली नहीं। इसलिए देहाती ही देसी है। जिसमें देहाती भावबोध नहीं है, वह देसी नहीं है। लेकिन दिल्ली के समक्ष देहात बहुत लाचार है। अतः अपने सुख-दुख को अपनी गठरियों में बाँधकर प्रतीक्षा करना,' आतंकित होना आज उसकी नियति बन गया है। क्या यह विडम्बना नहीं है कि दिल्ली देहात के बलबूते पर पल-पुस रही है, फिर भी अपने को उससे अलग किये हुए है। राजधानी एक्सप्रेस इस देश की फिज़ा में नहा कर भी इससे असम्पृक्त है :—

"राज़धानी एक्सप्रेस जा रही है
दो राजधानियों के बीच के अनन्त विस्तार में फैले
खेतों, खलिहानों, जंगलों, मैदानों, नदियों, पहाड़ों,
बरसातों, गर्मियों और जाड़ों
से होती हुई
उनके बीच अपनी दहशत भरी आवाज बोती हुई
राजधानी एक्सप्रेस जा रही है
अपने अपारदर्शी शीशों के भीतर
अपने को बन्द किये हुए
वह देश की फिजा में नहा रही है।"

ऊपर से अत्यन्त सरल और सामान्य दिखने वाली रामदरश जी की यह कविता वर्तमान भारत की विडम्बनात्मक स्थिति को गहरी अन्तर्दृष्टि के साथ व्यक्त करती है। सटीक प्रतीकात्मकता, व्यंजक विशेषणों, सार्थक उपमानों और उपयोगी लाक्षणिक प्रयोगों ने इस कविता को कलात्मक उत्कर्ष प्रदान किया है। इस कविता में कथ्य और शिल्प का, वस्तु और रूप का आकर्षक सन्तुलन है। यह कविता न तो इतनी सपाट है कि कविता ही न रहे, और न ही इतनीं सूक्ष्म और जटिल है कि पहेली बन जाये। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'राजधानी एक्सप्रेस' रामदरश मिश्र की एक श्रेष्ठ, प्रतिनिधि और विशिष्ट कविता, है। इसमें एक ओर हमारा समकालीन यथार्थ प्रतिबिम्बित हो रहा है तो दूसरी ओर कवि का व्यक्तित्व !

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औरत का चेहरा : एक औरत के बहाने[1]

डॉ० प्रताप सहगल

किसी देश के चरित्र को परखने का एक तरीका यह है कि उस देश का औरतों के प्रति क्या नज़रिया है, बच्चों को वे किस नज़र से देखते हैं, पालते हैं, संस्कृति की अन्तःधारा की पहचान भी इससे होती है कि उस संस्कृति के पोषक नारी के प्रति किस नज़र से सोचते हैं, विकास के लम्बे दौर में नारी के प्रति नज़रों में बदलाव आया है कहीं कम, कहीं ज्यादा, शायद विकास के जिस सोपान पर हम हैं, इस बात को तय करने की यह एक कुंजी भी है। मनु की नारी, शंकर की नारी से अलग है, प्रसाद की नारी मैंथिलीशरण गुप्त की नारी से अलग है तो ओथेलो की डेसडियोना डा० ज़िवागों की लाश से अलग पड़ती है। बर्नाड था के पिगमेलियन की लीज़ा के माध्यम से नारी के प्रति अलग दृष्टिकोण उभरा है। पश्चिमी समाज हो या भारतीय —दोनों ही समाजों में एक बड़ा वर्ग नारी को भोग्या या एक भोग्य-वस्तु के रूप में देखता रहा है, अभी भी देखता है। कहने का अर्थ यह कि नारी को लेकर कोई एक निश्चित धारणा विश्व में नहीं है। सिमन द बाउ 'सैकन्ड सैक्स' में जब शरीर विज्ञान और नारी की बनावट के आधार पर उसे पुरुष के समकक्ष खड़ा करने की कोशिश करता है तो लगता है उसकी अपनी कुंठा ही कहीं मुखरित हो रही है।

नारी के प्रति इन तथा दूसरे दृष्टिकोणों के आलोक में रामदरश मिश्र की कविता 'औरत' का विश्लेषण किया जा सकता हैं। विश्लेषण की इस प्रक्रिया में स्वयं कवि का व्यक्तित्व तो आएगा ही, कविता में लक्षित औरत का चेहरा भी नजर आएगा। रामदरश मिश्र का व्यक्तित्व ठहरा हुआ व्यक्तित्व नहीं है। समय और समय में अर्जित अनुभवों के साथ उनकी सोच बदली है, उनका व्यक्तित्व बदला है। पंडित परिवार में पैदा मिश्र जी को परम्परा से जो संस्कार मिले, वे वही थे, जो आमतौर पर किसी भी ऐसे भारतीय को मिलते हैं, लेकिन अपने व्यक्तित्व की विकास-यात्रा में उन्होंने इन संस्कारां से धीरे-धीरे मुक्ति पाई है, क्योंकि यह संस्कार

---

१. रामदरश मिश्र : जुलूस कहाँ जा रहा है ? में संकलित कविता औरत, पृ० १८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदमी को आदमी से दूर करते हैं और इस सारी प्रक्रिया में उन्होंते व्यवस्था के तन्त्र और चरित्र को समझा है तथा अपनी रचनाओं में उसे उघाड़ा है रेखांकित किया है। तन्त्र की बनावट में पिसते कमज़ोर आदमी के दंश को महसूसा है और वे उस आदमी के पक्षधर हो गए। यह उनके लेखन से साफ ज़ाहिर होता है। धर्म, जाति, वर्ग आदि का विभाजन वे स्वीकार नहीं करते। तो ऐसा रचनाकार जब औरत के बारे में सोचता है, लिखता है तो कुछ अलग होना चाहिए।

रामदरश मिश्र की औरत न तो प्रसाद की श्रद्धा है; न गुप्तजी की अबला, न वह ईर्ष्या की प्रतिमूर्ति हैं, न नारी-स्वातन्त्र्य की झंडा बरदार। वह शक्ति का प्रलयंकारी रूप भी नहीं है, न मात्र भोग्या। तो फिर मिश्रजी नारी का कौन सा चेहरा तराश रहे हैं ? यही वह प्रश्न है, जहाँ से विश्लेषण की शुरूआत की जा सकती है।

कविता को किसी खेमे में बन्द न करने के पक्षधर रामदरश मिश्र की 'औरत' ऊपरी तौर पर एकदम सपाट सी कविता लगती है पर दूसरी, तीसरी बार पढ़ने पर लगता है कि कविता इतनी सपाट या सरल नहीं है, जितनी सहज। इस कविता के केन्द्र में उनकी अपनी पत्नी ही लगती हैं। मेरी व्यक्तिगत पहचान इस विश्लेषण की दिशा को बदल सकती हैं। हो सकता है यह अवरोध हो, हो सकता है यह मददगार हो मैं इसे एक 'असैट' के रूप में ही लेकर चल रहा हूँ। हाँ तो कविता सहजता से अपनी बात कहती है और इसमें दो राय नहीं कि किसी बड़ी बात को सहजता से कहना बड़ा मुश्किल होता है। यह भी सच है कि सहजता से की गयी बात धीरे-धीरे हमारे मानस-लोक का हिस्सा बन जाती है। थोड़ा आसानी से।

यह औरत वह औरत है, जिसे कवि ने अपने जीवन के लम्बे समय में रोज देखा है। उसके साथ दुःख-सुख बांटा है। 'कहि मत भिन्न न भिन्न' जैसी स्थिति में होते हुए भी कहीं तीसरी आंख से उसे देखता रहा है। असल में कवि के अनुभवों को वहीं तक केन्द्रित करना भी ठीक नहीं, क्योंकि इसी तरह के अनुभव कवि ने दूसरे घरों की औरतों को देखकर भी अर्जित किए होंगे। इसी रूप में कभी अपनी माँ को, कभी बहन को, कभी किसी मित्र की पत्नी को या भाभी, साली को भी देखा होगा कि इन सबकी दिनचर्या क्या है। वे सारे अनुभव केन्द्रित होते रहे और उनका केन्द्र बनी कवि की अपनी पत्नी, तो एक औरत के बहाने कवि औरतों की एक बड़ी जमात के संघर्ष को पकड़ लेता है। इस तरह से यह कविता सबकी होकर एक की और फिर एक की हो कर सबकी हो जाती है। कविता में निहित 'आत्मगतता' इस कविता की बड़ी शक्ति है, पर यह आत्मगतता आत्मकेन्द्रित नहीं, बाहर की ओर भी झांकती है।

कविता की शुरूआत एक औरत के दिन की शुरूआत से होती है—'सर्दी हो बरसात (सोते हुए) या उनींदी बीती हो रात (तुम चार बजे उठ जाती हो) और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता दिनचर्या के मोटे बिन्दुओं को लेकर आगे बढ़ती है। सबके लिए अलग-अलग चाय नाश्ता बनाना, हँसना, झल्लाना, दाल ला चावल चढ़ाना आदि ऐसी क्रियाएं हैं जो किसी भी भारतीय परिवार में औरत करती मिल जाएगी। यह भी सही है कि यह ब्यौरे मात्र कविता को कविता नहीं बनाते, लेकिन कविता के इसी खण्ड की अंतिम चार पंक्तियाँ इन ब्यौरों को अर्थ दे देती है जब कवि कहता है :—

"यानी अन्नपूर्णा का सुगंधित साज
तुम्हारे हाथ से बजता रहता है
और रात का बिखरा हुआ घर
तुम्हारी लय पर सजता रहता है"

कविता के बढ़ने के साथ ही लगता है, जैसे औरत अपनी दिनचर्या जी रही है। बरतन धो रही है, कपड़े सी रही है यानि फिर ब्यौरे आ जाते हैं और बीच में ही घर की घण्टी बजने से उनींद जागना संकेत है इस बात का कि घर की 'अन्नपूर्णा' को पूरी नींद भी नहीं मिल पाती। इससे भी अधिक संवेदना का बिन्दु इससे आगे आता है, जब औरत की दिनचर्या में ही एक बात यह जुड़ती है :—

"(या) चली जाती हो मोहल्ले के किसी घर में'
जहाँ कोई वेदना पसरी होती है"

संवेदना का यह बिन्दु विचलित करने वाला है। विचलित इस दृष्टि से कि आम तौर पर पुरुष वर्ग आस-पास रह रहे लोगों की वेदना से बेखबर रहता है कहीं वह 'स्वकेन्द्रित' भी होता है और उसे आस-पास के दुःख सुख की खबरें प्रायः औरत के माध्यम से ही मिलती है। यों यह बात कभी अनचाही दिशा में भी मुड़ जाती है, लेकिन कविता का सन्दर्भ किसी घर में किसी के दुःखी होने का है। यह बिन्दु इसलिए भी विचलित करता है कि कहीं हमें अपने सामने नंगा खड़ा करता है। मुझे तो इसलिए भी कि यह पंक्तियाँ मुझे अपनी माँ के चरित्र के इसी पक्ष के साथ जोड़ देती हैं। और यहीं पर कविता एक की होते हुए भी बहुतों की हो जाती है, जो किसी भी कविता का समर्थ पक्ष है।

'फिर सिलसिला शुरू होता है' कह कर कविता औरत की दिनचर्या को आगे बढ़ाती है। शाम, चाय-नाश्ता, टी० वी०, मेहमान और देर रात, खाना-पकाने में इतनी फुर्सत कहाँ कि वह टी० वी० देख सके तो वह अपने मनोरंजन के लिए खुद ही गुनगुनाती है। ऐसे ही तो उपजे होंगे हमारे समर्थ लोक-गीत, जो कहीं दूर तक हमारे अन्दर उतर जाते हैं। ऐसे ही रखी गयी होगी लोक संगीत की आधारशिला, जब आत्माभिव्यक्ति के लिए औरत ने कुछ गुनगुनाया होगा, कुछ बजाया होगा, लोक-संस्कृति की बुनियादें रसोई घरों में ही पड़ी होंगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औरत की कभी इस दिनचर्या से मुक्ति नहीं होती। मज़ाक में भी नहीं। वह भले ही मज़ाक करे कि उसकी भी छुट्टी हो, लेकिन मज़ाक-मज़ाक में भी यह बात सच नहीं होती और वह भी कि घर के किसी कोने में खड़ा रोता रहता है। मजाक का मानवीकरण करके कवि ने औरत की अनाम पीड़ा के एहसास को गहरा दिया है।

इससे आगे कविता में एक पक्ष और जुड़ता है। यह पक्ष चिन्तन का, कवि के आत्मविश्लेषण का पक्ष है। यहाँ कविता संवेदनात्मक स्तर पर आत्मचिन्तन की ओर मुड़ती है। आत्मविश्लेषण की इस प्रक्रिया मे कवि सोचता है 'पति कागज़ कलम लेकर। बड़े-बड़े संवेदना और मूल्यों की रचना करते रहे। और खुद बड़ा बनते रहे' कविता की यह पंक्ति दो सन्दर्भों को पकड़ने में भी मदद करती हैं। कवि की रचना सारा लेखकीय जीवन किसी भी संघर्षरत रचनाकार की तरह से हमारे सामने है। उनके अब तक प्रकाशित 'आत्मकथा' के खण्ड भी इस बात की गवाही देते हैं कि कैसे-कैसे लेखक स्थितियों से जूझता रहा, लड़ता रहा। मूल्यों से स्खलित हो जाने की प्रक्रिया से बचता रहा। आत्मकथा में तो औरत के पक्ष और भी सफाई से सामने आए हैं। बहरहाल कविता की बात करें तो इन पंक्तियों में कवि खुद पर एक टिप्पणी कर रहा है और यह टिप्पणी मात्र एक कवि पर हुई टिप्पणी नहीं, बल्कि अलग-अलग सन्दर्भों में यह टिप्पणी कई लेखकों पर हो सकती है। और इस औरत के विपक्ष में एक औरत वह भी है जो अपनी पहचान अलग बनाने के लिए संघर्षशील रहती है, या वह पति के ऊपर उठने की प्रक्रिया में निमित्त मात्र बनने से इन्कार कर देती है और वे सारी स्थितियाँ बदल जाती हैं। एक औरत वह भी है, जो न तो संघर्ष कर सकती है, न सृजन की प्रक्रिया में मददगार साबित होती है। ऐसी औरत सिर्फ एक झुंझलाहट भर होती है, 'औरत' कविता की औरत इनसे अलग हैं। यहाँ यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि क्या यह औरत संघर्षशील औरत नहीं है ? नारी स्वातन्त्र्य का झंडा बुलन्द करके देखा जाए तो यह औरत वह नहीं, जो अपनी पहचान बनाने के लिए परिवार को तोड़ने में ज़रा भी नहीं हिचकिचाती। इस औरत के संघर्ष का स्तर दूसरा है। कहना चाहिए कि वह आत्मसंघर्ष करती हुई पूरे परिवार को एक पहचान देती है और पहचान देने में ही अपने संघर्ष की सार्थकता को पहचानती है। इसके लिए अनाम होते चले जाने की भी चिन्ता वह नहीं करती है। 'बच्चे खिलते महकते रहे। नए-नए क्षितिजों की ओर। उनके चरण बढ़ते रहे। और तुम। चरखे की तरह घर के भीतर चलती रही। पति और बच्चों की खुशी में ढलती रही। अनाम जीती रही !' इन पंक्तियों में 'चरखे की तरह' की जगह कहीं 'कोल्हू के बैल की तरह' प्रयोग हो गया होता तो सारा अर्थ ही बदल जाता। 'कोल्हू का बैल' का श्रय जहाँ निरर्थकता और समय के ठहरे होने की ध्वनि देता है, वहीं 'चरखा' हमारी लोक संस्कृति का ऐसा शब्द है, जो पूरी-की-पूरी एक परम्परा को अलोकित करता है और श्रम की सार्थकता को ध्वनित करता है। चरखे की घूमने में सफलता नहीं हैं। सफलता तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मशीन के घूमने में है, लेकिन चरखे की घूमने में श्रम की सार्थकता है, अपनी पहचान है। कहा जा सकता है कि प्रतीकों के चुनाव में कवि ने सतर्कता बरती है।

पति और बच्चे, यानि परिवार रूपी इकाई के अपरिहार्य घटक। उन्हीं घटकों के यश के अर्जन में संघर्षरत 'औरत' की कहानी आगे बढ़ती हुई इस बिन्दु पर रुकती है—'और उनकी जय जयकार होगी। तो कोई नहीं देखेगा कि एक औरत थी। जो चूल्हे चक्की। बरतन भाड़ें की लय पर। जीवन के मन्त्र पढ़ती रही है। जो खुद को अंधेरे में रखकर। ज़िन्दगी भर। रोशनी की मूर्ति गढ़ती रही है।'

यानि वह स्वयं मीनार नही, मीनार की नींव है, वह स्वयं प्रकाश नहीं, प्रकाश की लौ पैदा करने वाला दिया है, वह स्वयं नदी नहीं, परिवार रूपी बहती हुई नदी का स्रोत है, वह स्वयं रचना नहीं, रचना की तामीर करने के काम आने वाला एक सार्थक शब्द है, वह स्वयं मूर्ति नहीं, बल्कि मूर्ति को बनाने वाला एक अनाम शिल्पकार है। इसी कविता को मिश्रजी की 'कब तक' और 'लड़की' कविता को मिलाकर देखा जाए तो बातें और भी साफ होंगी।

'औरत' कविता का समग्र प्रभाव एक ऐसी औरत का चेहरा तैयार करता है, जो हमारे आसपास की लगती है, उसे हम अच्छी तरह से पहचानते हैं। इस चेहरे को तराशने में कवि ने अपने मार्क्सवादी चिन्तन को आरोपित नहीं किया और न ही संस्कारबद्ध मानसिकता को आड़े आने दिया है। यह ज़रूर हुआ है भारतीय परिवेश की गन्ध ने इस कविता को जकड़ा हुआ है। 'अन्नपूर्णा', 'चूल्हे-चक्की', 'चरखा', 'गृहस्थी का जुआ' आदि ऐसे प्रतीक इसी बात का संकेत हैं। इसी तरह से कविता की अनेक पंक्तियाँ भी ठेठ अपने परिवेश की लगती हैं। कपड़े फींचती हो, दाल का बदकना, चावल का खदकना, बरतन भाड़े की लय पर या चरखे की तरह घर के भीतर चलती रही, ऐसे भी प्रयोग हैं। इन पंक्तियों में आए शब्द कहीं-कहीं ध्वनि के स्तर पर घरेलू वातावरण का निर्माण कर देते हैं, जैसे दाल का बदकना। चावल का खदकना या फिर कपड़े फींचना आदि।

औरत कविता के रचनात्मक विश्लेषण के साथ एक बड़ा प्रश्नचिह्न भी लगाया जा सकता है और वह यह कि क्या औरत की इस भूमिका को सही माना जा सकता है? क्या औरत को अपनी पहचान बनाए रखने का हक है या नहीं? और कहीं ऐसा तो नहीं कि सारी उम्र तो कवि औरत की सेवाओं को इस्तेमाल करता रहा और फिर एक दिन औरत की ओर उसका ध्यान गया तो श्रद्धांजलि देने के लिए एक कविता लिख दी। वाहवाही लूट ली और कहा कि तुम जहाँ हो, जैसी हो, वैसी ही बनी रहो। हमारे और बच्चों के काम आती रहो, आज कविता लिखी है तो कल महाकाव्य लिखेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह एक ख़तरा है, जो इस कविता के साथ जुड़ा हुआ है और इस नज़रिए से पूरी की पूरी कविता को इस कविता में फैली औरत समेत ख़ारिज किया जा सकता है।

इस सवाल पर ग़ौर किया जाए तो कहा जा सकता है कि इस तरह की स्थिति के पीछे जो द्वन्द्वात्मकता होनी चाहिए, वह इस कविता का आधार नहीं है, बल्कि इसका आधार द्वन्द्वात्मकता से आगे की कड़ी है, यानि वियोजन (रिज़ोल्यूशन) की स्थिति है।

यह भी साफ है कि कवि के सामने प्रश्न सार्थकता का है और जो मूल्य या जो सामाजिक स्थिति उसे अपने परिवेश में सार्थक लगती है उसे वह खुले मन से स्वीकार करता है। वह औरत का जो चेहरा तराशता है, वह 'अबला' का चेहरा नहीं है जिसका अस्तित्त्व आंचल के दूध और आँखों के पानी के बीच ही लटका हुआ है। न कवि का दृष्टिकोण 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' वाला ही है और न ही 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' कहकर इतिश्री मान लेने वाला अपने अधिकारों के लिए संघर्षशील नारी का चेहरा भी इस कविता में नहीं झांकता, बल्कि एक ऐसी औरत का चेहरा जो मानवीय सम्बन्धों की ऊष्मा के महत्व को पहचानती हैं एक ऐसी औरत जो परिवार रूपी चक्के की केन्द्रीय धुरी है, एक ऐसी औरत जिसका संसार राजनीति नहीं है, एक ऐसी औरत जो परिवार को समर्पित है, पर अस्तित्त्वहीन नहीं। एक ऐसी औरत जो सूक्ष्मता से हमारे अन्दर उतरती चली जाती है और हम उसका प्रतिरोध भी नहीं करते। कवि ने अश्रु-विगलित चेहरा नहीं तराशा, औरत की अहम् भूमिका की सार्थकता को रेखांकित किया है। यही इस कविता की भी सार्थकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यास
परिवर्तन और प्रतिबद्धता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिबद्धता का सर्जनात्मक रूप

डॉ० महावीर सिंह चौहान

मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण और दमन पर आयोजित वर्तमान व्यवस्था के अमानवीय रूप की, उसके दुश्चक्र में फँसे आदमी की करुण विवशता और असन्तोष को, उसको लेकर निहित स्वार्थो और परिवर्तन कामी शक्तियों के बीच चलने वाले संघर्ष को, आज की ठोस सामाजिक, आर्थिक और राजनातिक सच्चाइयों के बीच रखकर परिभाषित करने वाले रामदरश मिश्र के उपन्यास साक्षात्कार के एक निज़ी और आत्मीय संसार की पहचान कराते हैं। समकालीन कथा सारित्य में रामदरश मिश्र ने मूलतः एक आँचलिक उपन्यासकार के रूप में अपनी पहचान बनाई है। लेकिन आंचनिकता उनके अनुभव और अन्वेषण की मर्यादा नहीं, दिशा है। 'बीच का समय और 'रात का सफर' में आँचलिकता का अग्रह नहीं है। 'आकाश की छत' में शहर और गाँव के जीवन अनुभव की दूरियाँ समाप्त हो गई हैं। लेकिन मिश्रजी अपनी यात्रा जीवन के किसी भी बिन्दु से क्यों न शुरू करें वह चाहे व्यक्ति मन की नितान्त निजी सम्बन्धों की अंतरंग दुनिया हो या मनुष्यता के न्याय के लिए चलने वाला समष्टिगत संघर्ष हो—उनके पैर हमेशा अपने अनुभव की जमीन पर ही रहते हैं और उनके अनुभव की जमींन है गाँव का वह जीवन जिससे रस कण खींचकर उनका रचनाकार अपनी कथाकृतियों की अन्तर्वस्तु का निर्माण करता है, अपनी अभिव्यक्ति के आवश्नक उपकरण जुटाता है।

'पानी के प्राचीर' 'जल टूटता हुआ' और 'सूखता हुआ तालाब' में तो मुख्यतः गाँव के यथार्थ का चित्रण हुआ ही है, लेकिन उनके जिन उनन्यासों का सीधा संबंध शहरी जीवन से है। उनके मुख्य पात्र भीं अनुभव और सोच के धरातल पर हलके या गहरे रूप में गाँव से जुड़ें होते हैं। उनमें या तो गाँव की धरती से कटजाने की पीड़ा है या फ़िर गाँव की जड़ता और रुढ़िवादिता से मुक्त होने की छटपटाहट। ये शहर में रहकर भी शहर से नहीं जुड़ पाते। उनकी आन्तरिक जरूरत के रूप में गाँव उनकी स्मृतियों में बार-बार उभरता रहता है। यह नहीं कि गाँव की ये स्मृतियों मधुर और आह्लादक ही हो, उनमें भावना की अन्तरंगता और मार्मिक सम्बन्धों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की उष्मा ही हो, वे वहाँ की जिन्दगी की अत्यधिक क्रूर और अमानवीय स्थितियों की पीड़ा-जनक यादें भी हो सकती हैं। लेकिन हर हालत में गाँव के जीवन की मिठास या कटुता उनके अनुभव का अग बनी रहती है। वह उनके विचार और कर्म को, स्वप्न और संघर्ष को दूर तक प्रभावित करती हैं मिश्रजी की रचना शीलता और उनके विवेक की जडें उनके इसी अनुभव की ज़मीन में हैं।

'बीच का समय' मूलत: रूमानी संवेदना का उपन्यास है। इसमें स्त्री-पुरुष के उस आदिम आकर्षण का वर्णन है, जिसमें स्वप्न और भावना के हलके गहरे रंग आपस में घुल मिलकर एक सप्तरंगी संसार की रचना करते हैं। कथानायक जो एक स्थानीय कॉलेज में अँग्रेजी का अध्यापक है, जो अब तक अपने इसी मधुर स्वप्न की चरितार्थता के लिए बेचैनी से भटकता रहा था, उसके जीवन में रीता आती है। "यह अपनी असफल शादी की पीड़ा लिए बहुत दिनों से यह चाहता रहा कि रीता जैसी कोई लड़की उसके जीवन में आए। चाहे वह रीता हो या सीता हो या गीता हो और उसकी इस कसी हुई उजाड़ जिन्दगी में जीने की चाह पैदा करे।"[1] लेकिन गाँव से एक पत्र आता है, और कथानायक शील के सोच की दिशा बदल जाता है। यह इस रंगीन स्वप्निल दुनिया को छोड़कर गाँव की उसी बदरंग दुनिया में लौट जाता है—इस संकल्प के साथ कि "वह घर जाएगा और परिवार लाएगा। चाहे जैसा भी है, अपना परिवार है।"[2] गाँव की बदसूरती पर जिसमें उसकी पत्नी की बदसूरती और फूहड़पन भी शामिल है—वह कुढ़ता है, वहाँ से 'दो दिन में ही भाग खड़ा होता है।"[3] लेकिन वहाँ की 'एक मासूम आर्द्रता से कम्पित झुकती हुई शाम"[4] उसकी चेतना में जैसे सदा सर्वदा के लिए अटकी रह जाती है। गाँव के यथार्थ की यह विचलनकारी चेतना जो व्यंजना के स्तर पर कथानायक की स्मृतियों में बार-बार उभरती रहती है उसकी भोगवादी सौन्दर्य लालसा और भावुकतापूर्ण निर्णयों के लिए कोई अवकाश नहीं छोड़ती।

'रात का सफर' में नारी जीवन की विडम्बनापूर्ण स्थिति का जिस संवेदनात्मक उद्देश्य को लेकर निरूपण हुआ है, उसके रहते कथाकृति में जैसे एक ही अनुभव बिन्दु अपनी रचनात्मक व्याप्ति और विस्तार ग्रहण करता चलता है। उसमें ऋतु की जिन्दगी से गहरे रूप में जुड़े उसकी आंतरिक पीड़ा को उजागर करने वाली वस्तुस्थितियों के सिवा अन्य बातों की ओर लेखक का ध्यान नहीं गया, लेकिन फिर

---

१. बीच का समय, पृ० ६७।
२. वही, पृ० ११७।
३. वही, पृ० ४८।
४. वही, पृ० ४६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी ऋतु की जीवन यात्रा की पृष्ठभूमि के रूप में गाँव आ गया है। वह कभी रेलगाड़ी की खिड़की से झाँककर देहाती स्टेशन के सन्नाटे के साथ अपने जीवन की अकेलेपन की पीड़ा का तादात्म्य स्थापित करती हैं : या फिर गाँव से आने वाले लोगों को देखकर उनके साथ गहरी आत्मीयता का अनुभव करती हुई कुछ क्षणों के लिए ही सही अपनी पीड़ा से निजात पा लेती है। "सबेरे सबेरे सड़क के सिर पर तरह-तरह की चीजों का बोझा लादे औरतें और मर्द शहर की ओर भागते नजर आते, इसमें छोटे-छोटे बच्चे भी होते, पसीने से लथपथ हाँफते हुए लोग, और उन्हें देखकर मुझे बड़ा अपनापा महसूस होता।"[1]

'अपने लोग' प्रत्यक्षतः कस्बाई जिंदगी की उन भीतरी पर्तों को खोलता है, जिनमें से उसकी टुच्ची राजनीति, अन्धी स्वार्थपरता, घिनौनी अवसरवादिता, धन और प्रतिष्ठा के लिए एक-दूसरे का गला काटकर आगे बढ़ जाने की प्रतिद्वन्द्विता, निहित स्वार्थों का अपने हितों की रक्षा के लिए अनैतिक और नाजायज तरीके अपनाने की पैंतरेबाजी और जिसे मुक्तिबोध ने 'मारो खाओ, हाथ न आओ' वाली उक्ति से चरितार्थ किया है—उससे जन्मी सामाजिक क्रूरता और आन्तरिक रिक्तता का अत्यधिक भयावह रूप उभर कर सामने आता है। लेकिन इस उपन्यास की केन्द्रीय संवेदना गाँव की उस टूटी-बिखरी जिंदगी की पीड़ा से उद्भूत है, जिसके साथ लेखक की गहरी रचनात्मक सम्पृक्ति तो है ही, साथ ही उस जिंदगी के यथार्थ को पहचानने वाली वह निर्मम तटस्थता भी है जो गहरे आत्मालोचन एवं विचार तथा संवेदन की गहरी संसक्ति से जन्म लेती है। 'अपने लोग' के कथानायक प्रमोद की अंतः चेतना में गाँव के विविध स्तरीय जीवन की छवि अपनी समग्र ताजगी और जीवन्तता के साथ अंकित है। "उसने इस गाँव को इतनी गहराई से और इतने अधिक रूपों में जिया है कि इतने दिन तक शहर में रहने के बाद भी वह गाँव उसके भीतर बड़ी तड़प के साथ जिन्दा है। या हो सकता है कि बाहर रहने की वजह से ही जिन्दा है। पहर भर रात रहते ही हलचल शुरू हो जाती है—कुएँ पर पानी भरे जाने की आहट नाद में मुँह डालकर बैलो के सानी-पानी सुकड़ने की आवाजें हलवाहों के आने-जाने की आवाजें, फिर बैलों की घंटियों की आवाजें, खेतों में हलों की धड़कनें, बीया और हेंगा के लिए पुकार लगाती आवाजें और एक घण्टा दिन चढ़ने के साथ किसी खेत के जुत बो जाने की सूचना देने वाली हर हर महादेव की आवाजें। मिट्टी की तरह-तरह की गंध उसके भीतर की पर्तों में बसी है।"[2]

'आकाश की छत' में दिल्ली की अप्रत्याशित बाढ़ में फंसे एक ऐसे व्यक्ति की पीड़ा की व्यंजना है जिसे बड़ी सहजता से अस्तित्ववादियों के संत्रास, अलगाव या

१. रात का सफर, पृ० ८१।
२. अपने-लोग, पृ० १४८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मृत्युबोध की पीड़ा से जोड़ा जा सकता था। कथानायक के पास अज्ञेय का 'अपने-अपने अजनबी' उपन्यास भी है, जिसके पात्र लगभग उसी प्रकार की परिस्थितियों में फँसे हैं, जिस प्रकार की परिस्थितियों में 'आकाश की छत' का कथानायक यश घिरा हुआ है। लेकिन यश अकेला होकर भी अकेला नहीं है। उसके पास अस्तित्व के लिए चलने वाले अन्धे संघर्ष की कुछ बहुत ही जीवंत स्मृतियाँ हैं। वे स्मृतियाँ उस भाई की हैं जो अन्याय का विरोध करते हुए अपने प्राणों की आहुति दे देता है। अतः आकाश की छत के नीचे अपने प्राण बचाने की चिन्ता के साथ यश के सामने गाँव के उन लोगों की एक पूरी-की-पूरी दुनिया उभर आती है जो उसी प्रकार की अत्यधिक भयावह परिस्थितियों में फँसे—हालांकि वे परिस्थितियाँ मानव निर्मित हैं—आत्म रक्षा के लिए संघर्ष कर रहे हैं। यहाँ दिल्ली की बाढ़ तो एक युक्ति के रूप में प्रायोजित स्थिति भर है, वह एक ऐसा बहाना है जिसके सहारे यश अपने गाँव पहुंच जाता है। उपन्यास में शहरी जीवन की विडम्बना के भी एक-दो कोण उभरे हैं लेकिन जैसे उनके साथ उलझना लेखकीय चिन्ता का विषय नहीं है। लेखक की दृष्टि और संवेदना के केन्द्र में गाँव ही हैं।

भ्रम यह है कि आखिर लेखक क्यों उलझता है गाँव की जिंदगी से ? क्यों इस प्रकार की तड़प और बेचैनी का अनुभव करता है वह उसके लिये ? शहर की आवाजों के बीच घिर कर भी उसकी स्मृतियों में गाँव की आवाजें क्यों गूँज-गूँज उठती हैं ? क्यों ऐसा होता है कि शहर में रहकर भी गाँव की ओर जाने वाली पगडंडी को देखकर वह भावुक हो उठता है ? क्यों गाँव के फटेहाल लोगों को शहर की सडकों पर पसीने से लथपथ दौड़ते देखकर उसके हृदय की धड़कनें तीव्र हो जाती हैं ? गाँव के जीवन के प्रति रचनाकार के इस असाधारण आकर्षण को आलोचकों ने आशंका की दृष्टि से देखा है। आशंका को शब्द देते हुए डा० चन्द्रकांत बान्दिवडेकर लिखते हैं—"नगर जीवन की मानसिकता से ऊबे हुए लेखकों ने अपने बचपन के जीवन में, ग्राम्य जीवन की जो हरियाली भोगी थी उसका वास्तविक वर्णन आंचलिक साहित्य के नाम पर करना आरम्भ किया।"[1] प्रखर मार्क्सवादी समीक्षक डा० शिवकुमार की भी आँचलिक कहे जाने वाले उपन्यासों से शिकायत है कि इनके रचनाकारों के लिए प्रायः मानवीय यथार्थ की तुलना में परिवेश से जुड़ी हकीकतें अधिक महत्वपूर्ण बन जाती हैं। अतः प्रश्न यह है कि गाँव की जिन्दगी के प्रति रामदरश मिश्र की यह ललक और यह आकर्षण, क्या उनकी वैचारिक या संवेदनात्मक पिछड़ की ओर संकेत करते हैं ? या वे उनकी किसी गहरी रचनात्मक

१. उपन्यास : स्थिति और गति, पृ० २२।
२. आलोचना अंक ५१-५२ (प्रेमचंद और परवर्ती कथा साहित्य)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यकता को पूरा करने वाले उनके सोच और संवेदन की गति और दिशा प्रदान करने वाले जरूरी उपकरण हैं।

कहना न होगा कि रामदरश मिश्र के रचनात्मक अनुभव के लिए गाँव की जिन्दगी कोई सुविधा का विषय न होकर एक चुनौती है। उसमें जीवन और रचना दोनों ही स्तरों पर संघर्ष की स्वीकृति है। हर हालत में यह उस मनुष्य की पक्ष धरता है जो हड्डियाँ जला देने वाला कठोर परिश्रम करके भी उतना नहीं पाता जितने से अपना और अपने परिवार का पेट भर सके—

'नीरू ने आज सुबह ही सुबह माँ के हाथों पर हफ्ते भर की तनख्वाह रख दी थी इसलिये खाने का इन्तजाम हो गया था। नीरू ने खाना खाते समय कपड़ा निकाला तो माँ स्तब्ध रह गई। हड्डियाँ निकल आयीं थीं, नसें उभर गई थीं। माँ ने एक बार हफ्ते भर की तनख्वाह का हिसाब लगाया, फिर नीरू की हड्डियों को गिना, कुछ कह नहीं पा रही थी।

'नीरू तुम्हें कितनी तनख्वाह मिलती है ? माँ का स्वर था।'

'आठ आने रोज माँ।'

'तीन रुपये तो तुमने घर को दे दिये। आठ आने में एक हफ्ता कैसे काम चला होगा।' गीले स्वर में माँ ने पूछा।

'चल जाता है माँ, चल जाता है। तुम काहे को चिंता करती हो। मिल में सामान सस्ते में मिल जाता है।'[1]

माँ ने नंगी वास्तविकता के अधिक अनावृत होने के भय से बात अधिक नहीं बढ़ाई।''

मिश्रजी का कथासार अपनी सर्जना में इसी नंगी वास्तविकता से जूझता है बड़े निर्मम भाव से उसे अनावृत करता चलता है। 'जल टूटता हुआ' का सतीश अनुभव करता है ''गरीबी सबसे बड़ा अपमान है—वह तेज, विद्या बुद्धि सब छीन लेती है।''[2] और कि ''इस इलाके के बड़े बाभन, हरिजन, मध्यवर्ग, निम्नवर्ग, सभी भूख और गरीबी के चक्के में बुरी तरह पिस रहे हैं।''[3]

गरीबी में पिसने वालों की यह व्यथा-कथा ही मिश्रजी की चेतना को बार-बार कुरेदती है। उन्हें बेचैन बनाती है और उन्हें उन ऊबड़-खाबड़ वीरान इलाकों में ले जाती हैं जहां घायल सामधारी इलाज के अभाव में दम तोड़ देता है, जहाँ सुगन मास्टर पग-पग पर समझौता करने के बावजूद सिर पीटकर रह जाते हैं;

---

१. पानी के प्राचीर, पृ० १५७।
२. जल टूटता हुआ, पृ० १०२।
३. वही, पृ० १६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिनैया की मजबूती उसे वेश्या बनाकर छोड़ देती है। फुलवा का सर्वस्व चला जाता है और मँगरू को उसके खेत से बेदखल कर दिया जाता है। वस्तुतः मिश्रजी का कथा साहित्य इस सामाजिक अन्याय के विरुद्ध और प्रकृति तथा व्यवस्था की दुहरी मार खाने वाले लोगों के पक्ष में की गई जरूरी कार्यवाही है। यहो वह कसौटी है जिस पर वे आज की राजनीति और दर्शन को, धर्म और संस्कृति को, अनुभव और विचार को, कला और जीवन मूल्यों को परखते हैं। इनमें से जो भी गाँव की इस शोषित मनुष्यता के हित में है, वही मानवीय और मूल्यवान है, और जो इसकी पक्षधरता नहीं करता, उसके आस-पास चका-चौंध कर देने वाला कितना ही तेजस्वी प्रभा मण्डल क्यों न हो, वह मानव विरोधी है—त्याज्य है।

लेकिन इस सम्बन्ध में एक बात जो कभी भुलाई नहीं जानी चाहिए वह यह कि एक रचनाकार की मानवीय पक्षधरता विचार और व्यवहारगत न होकर अनुभवात्मक होती है। यह जरूरी है कि उसकी पक्षधरता आरोपित न हो। रचना में यह पात्र परिस्थिति के संघर्ष और सामंजस्य की तार्किक परिणति के रूप में आए। उसमें आने वाले विचार अनुभव प्रसूत हों, संयोग से "अपने लोग" का कथानायक प्रमोद एक रचनाकार के रूप में मनुष्यता का पक्षधर है लेकिन वह अपनी इस पक्षधरता से पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हो पाता—"कभी-कभी तड़प होती रही है कि काश में इस मिट्टी में उतर कर इस मिट्टी की गरीबी के विरुद्ध सक्रिय संघर्ष कर पाता। साहित्य के माध्यम से तो यह संघर्ष उभारने की कोशिश करता रहा हुँ, लेकिन साहित्य का संघर्ष काफी नहीं है।"[1] 'जल टूटता हुआ' के अमलेशजी अपनी उच्चकोटि की साहित्यिक साँस्कृतिक अभिरुचि के बावजूद अपने आपको दीनदयाल की धूर्तता से नहीं बचा पाते। अमलेशजी यह कहते ही रह जाते हैं—"हिम्मत हो तो आ जाओ किसी भी मैदान में—साहित्य पर बहस कर लो…।"[2] लेकिन इससे उनकी स्थिति में कोई फर्क नहीं पड़ता। इसका अर्थ यह नहीं कि रामदरश मिश्र सामाजिक संघर्ष में साहित्य की कोई भूमिका ही स्वीकार नहीं करते। यहां उनका संकेत इस तथ्य की ओर है कि बड़ी से बड़ी क्रांतिकारी कलाकृति भी क्रांति की समानार्थ नहीं हो सकती। उसकी भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण होती है। लेकिन उसका प्रभाव सीधा न होकर परोक्ष होता है। इस परोक्षता का सम्बन्ध सीधें-सीधे साहित्य की रूपगत मर्यादा से है। यही वह सीमा रेखा है जहां कभी-कभी रचनाकार के अन्वेषण की दिशा और आलोचक के आग्रहों के बीच टकराहट की स्थिति पैदा हो जाती है।

---

१. अपने लोग, पृ० ३६०।
२. जल टूटता हुआ, पृ० १०१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक रचना रूप के कुछ सामान्य लक्षण होते हैं। संवेदनात्मक दृष्टि और तदनुरूप शिल्प संधान की कुछ निश्चित दिशाएँ होती हैं। एक श्रेष्ठ रचनाकार अनुभव और शिल्प की इन मर्यादाओं में बँधकर नहीं रह जाता। एक स्तर पर जहाँ वह इनसे जुड़ा होता है, वहीं दूसरे स्तर पर यह इनके अतिक्रमण के द्वारा अपनी विशिष्ट पहचान बनाता। हम यहाँ रामदरश मिश्र के उपन्यासों के इन रचनात्मक बिन्दुओं को तलाश करेंगे जो उन्हें यथार्थ बोध और मानवीय अर्थवत्ता की पहचान के स्तर पर वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं। आंचलिकता के चालू मुहावरे से हटकर एक रचनात्मक के रूप में उनकी अलग से पहचान बनाते हैं।

मिश्र जी के उपन्यासों में आने वाला गाँव सामान्य न होकर विशिष्ट है। वह पूर्वी उत्तर प्रदेश के ऐसे भू-भाग से सम्बन्धित है जो अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण नदियों से घिरा हुआ है। इन नदियों का पानी इस भू-भाग के लिए जीवनदायी तत्व बन सकता था, लेकिन हुआ यह है कि वह बाढ़ बनकर आता है और खेतों में खड़ी फसलों को अपने साथ बहा ले जाता है। वहाँ के लोगों को बेघर और बेसहारा बना जाता है। जो समस्या 'पानी के प्राचीर' की है, लगभग वही समस्या 'जल टूटता हुआ' की है। इन दोनों उपन्यासों की समस्या और उसके समाधान की खोज की दिशा में जो अन्तर दिखाई देता है वह समय के साथ बनते बिगड़ते नए सामाजिक, राजनीतिक, समीकरणों ने उपस्थित किया है। दोनों ही उपन्यासों के केन्द्र में कछार के अभावग्रस्त जीवन की करुण स्थितियों के बीच से उभरकर लेखक की चेतना पर बार-बार एक ही सवाल दस्तक देता है। वह यह कि इस शोषित और वंचित मनुष्यता को इस घोर लज्जाजनक गरीबी से मुक्ति कैसे मिलेगी? कब मिलेगी?

व्यवस्था का नागपाश और अमानवीयकरण की प्रक्रिया :—इस स्तर पर उनका पहला उपन्यास 'पानी के प्राचीर' हमें एकदम आश्वस्त नहीं करता। उसमें शोषित समाज की पीड़ा का मर्म तो है लेकिन "पांडे पुरवा के लोग उन ताकतों को पहचानने की प्रतीति नहीं कराते जो उनका शोषण करती हैं। इस पहचान के अभाव में ही लोगों के मन में उनके प्रति तीव्र घृणा या आक्रोश का भाव पैदा नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में उन शक्तियों के प्रतिकार की प्रभावशाली भूमिका भी निर्मित नहीं हो पाती।"[1] उपन्यास में संघर्ष तो है लेकिन वह लगभग गँवई लड़ाई के स्तर पर ही चित्रित हुआ है। कथानायक नीरू के पिता सुमेश पांडे के लिए कहा गया है—"वह मजबूरियों से घिरा होने के नाते वर्तमान को ही देख पाता था। भविष्य के प्रति उसकी दृष्टि हमेशा सजग नहीं रह पाती थी। हर बार वर्तमान की छोटी उपलब्धियां भविष्य की बड़ी संभावनाओं का तिरस्कार कर देतीं।"[2] यह कथन जैसे

---

१. उपन्यासकार रामदरश मिश्र : संपादक डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ एवं डा० प्रेमकुमार, पृ० ५७।
२. पानी के प्राचीर, पृ० २४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गाँव के सभी लोगों के लिए सही ठहरता है। नेता गनपति को इस बात की जानकारी है कि "अंगरेज सरकार ने भाई-भाई के बीच फूट डाल रखा है, यह जमींदार-आसामी का फर्क बना रखा है···इस अँगरेज सरकार ने हमारी जिन्दगी पायमाल कर दी है।"[1] लेकिन उनकी यह जानकारी विचार के धरातल पर ही रहती है, वह जीवन-व्यापारों के बीच से फूटकर अनुभव के धरातल पर नहीं आ पाती।

लेकिन शायद आलोचकीय दृष्टि की एक मर्यादा यह भी होती है कि वह व्यक्ति या समाज-जीवन की किसी सच्चाई को, उसके किसी अंश को उसी रूप में चित्रित देखना चाहती है जिस रूप में उसने उनकी धारणा बना ली है। यदि रचनाकार का कोई विचार उसकी रचना में अनुभव के स्तर पर व्यक्त न हो सके तो इस असंगति को आसानी से पहचाना जा सकता है। लेकिन उसके रचनात्मक अनुभवों में अन्तर्निहित दृष्टि को, रचनाकार के संवेदनात्मक उद्देश्य को पहचान पाना उतना आसान नहीं हो पाता। 'पानी के प्राचीर' में व्यवस्था के खिलाफ सीधी कार्यवाही के रूप संघर्ष का चित्रण लेखक को अभिप्रेत नहीं है। उसका संवेदनात्मक उद्देश्य कुछ दूसरा ही है—कहना न होगा कि वह अधिक गहरा है और उसकी व्यंजना भी अधिक सांकेतिक रूप में हुई है। उपन्यास का कथानायक नीरू "सोच रहा है मगर उसके सोचने से क्या होता है? प्रवाह तो अपने रास्ते चले जा रहा है। वह सोचता है—इसे रोकना है।"[2] इस आतंककारी अमानवीय प्रवाह ने नीरू के जीवन को तबाह कर दिया है—"उसके मन में सत्य और कल्पनाओं की एक भीड़ खड़ी हो गई है। खेत सब मुखिया के पेट में चले गए। घर के सामान कस्बे के बनिए ने खा डाले। चारों ओर से क़र्ज दहाड़ रहा है।"[3] हर स्तर पर अन्याय और शोषण की यातनाओं को झेलने वाला नीरू जमींदार गजेन्द्रसिंह की नौकरी करते हुए अपनी और अपने साथ ही अपने वर्ग की यातनाओं के मूल तक पहुंच जाता है। वह देखता है "गुलाब के फूलों की लाली हवेली के पीछे मुस्करा रही थी, रंग रही बगीचे के आँचल को··· और···और हवेली के सामने किसानों की पीठ पर रक्त की चिपचिपाहट धूप में चिलचिला रही थी।"[4] नीरू देखता है कि किसानों की पीठ पर कोड़े बरसाने वाले गजेन्द्रसिंह के सिपाही भी किसानों के ही बेटे हैं। "वह सोच रहा था ये सिपाही भी कितने जानवर हो गए हैं? घर के गरीब मजदूर किन्तु जैसे जमींदारी प्रथा ने इन पर जादू करके इन्हें अपना बना लिया है। और ये नहीं सोचते कि गरीब किसानों

---

१. वही, पृ० १=४।
२. वही. पृ० ३।
३. वही, पृ० ७४।
४. वही, पृ० २००।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की बहू-बेटियों या खुद किसानों पर जो अत्याचार करते हैं वह खुद अपने पर कर रहे हैं।"[1]

आपत्तिजनक बात तो यह है कि इतने गहरे सामाजिक विवेक और यथार्थ की इतनी सही पहचान के बावजूद एक क्षण ऐसा आता है जब जमींदारी की नौकरी करते हुए नीरू भी शोषण के उस यंत्र का पुर्जा बन जाता है। 'पानी के प्राचीर' में जिस भूभाग की व्यथा-कथा मिश्र जी कह रहे हैं, उसमें पहले तो ऐसे लोग हैं ही नहीं जो अपनी यातनाओं को जन्म देने वाली व्यवस्था के असली चेहरे को पहचानते हों और जो हैं भी—जैसे कि नीरू—उन्हें वह सत्ता और सम्पत्ति के नागपाश में बाँधकर एक ओर डाल देती है। उनके अन्दर की मानवीय संवेदनशीलता के स्रोत को सोख लेती है। यह बात नहीं कि नीरू अपने आपको इस पकड़ से मुक्त न कर लेता हो, लेकिन यह होता है बहुत बड़े आत्मसंघर्ष के बाद। उसके बाद नीरू के प्रयत्नों का एक ही लक्ष्य हो सकता था और वह था व्यवस्था के आमूल बदलाव के लिए संघर्ष की नयी दिशा का संधान। लेकिन शताब्दियों की परतन्त्रता के बाद मिलने वाली आजादी लोगों में नयी चेतना पैदा करती है, नई उमंग जगाती है। ऐसी परिस्थिति में नीरू की दृष्टि से वह प्रश्न कुछ समय के लिए ओझल हो जाता है जिसे लेकर वह अब तक अपने आपसे और व्यवस्था से जूझता रहा। देश की आजादी एक विराम है, उस संघर्ष के लिए जिसका चित्रण रचनाकार अपनी अगली कथाकृति 'जल टूटता हुआ' में करता है।

व्यवस्था के आमूल बदलाव के लिए संघर्ष और व्यक्ति मन के अन्तर्निषेध:—बदलाव की कामना एक बात है लेकिन भीतरी तथा बाहरी अवरोधों से जूझते हुए आगे के पथ का संधान करना दूसरी बात है। मिश्रजी उन लोगों में से नहीं हैं जो समस्या का सरलीकरण करके अपने अन्तर्द्वंद्व और बाह्य संघर्ष से मुक्ति पा लेते हैं। वे समस्या को बढ़ा-चढ़ा कर या अकारण उलझाकर भी प्रस्तुत नहीं करते। वे अनुभव और विचार दोनों ही स्तरों पर अपने सृजन के दायित्व की गम्भीरता का निर्वाह करते हैं। वे गाँव के (और भारत गाँवों का देश तो है ही) ऐसे लोगों की मानवीय चिन्ता और उनके मानवीय संघर्ष को रूपायित कर रहे हैं जिनके पास अपनी एक परम्परागत दृष्टि भी है। वे भले ही चिन्तन के स्तर पर उस परम्परा से जुड़े न हों, लेकिन उनके संस्कार बड़ी दूर तक उनकी समझ और सोच की दिशा का निर्धारण करते हैं। मनुष्यता के हित में चलने वाला संघर्ष अनेक स्तरों पर लड़ा जा रहा है, वह अनेक दृष्टियों से अपने आपको संवर्धित कर रहा है। हमारे यहाँ कम-से-कम दो दृष्टियाँ तो क्रियाशील हैं ही—गाँधीवादी और मार्क्सवादी। हम एक को आध्यात्म-

१. वही, पृ० २२२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वादी कह सकते हैं और दूसरी को भौतिकवादी। 'जल टूटता हुआ' का कथानायक अपने संघर्ष की दिशा निर्धारण में एक गहरे अन्तर्विरोध में फँसा दिखाई देता है। एक स्तर पर वह आत्म पीड़ा और आत्मदान के पथ पर चलकर अपने लक्ष्य तक पहुंचने की बात सोचता है। "नहीं वह सत्य का पक्ष नहीं छोड़ेगा, चाहे कितने ही खतरे उठाने पड़ें, उसे टूट ही क्यों न जाने पड़े, देश में और लोग भी हैं जो इस पथ से चल रहे हैं, वह परगना हाकिम, कलक्टर साहब सभी तो इस तथ्य पर हैं।[1] लेकिन दूसरे स्तर पर वह बड़ी बेचैनी के साथ अनुभव करता है कि सामाजिक न्याय की इस समस्या को नीति या निष्ठा के स्तर पर नहीं सुलझाया जा सकता। यह बात नहीं कि ऐसे परगना हाकिम या ऐसे कलक्टर हमारे बीच हैं ही नहीं जो सतीश की तरह ही प्रलोभनों और आकर्षणों से दूर रहकर अपनी ईमानदारी की बड़ी-से-बड़ी कीमत चुकाने को तैयार रहते हैं लेकिन कानून और कर्त्तव्य परायणता से उस सच्चाई को कैसे झुठलाया जा सकता है, जिसके रहते सतीश अनुभव करता है कि "कागजी न्याय, पुलिस वगैरह झूठे झमेले हैं, जो कभी भी सत्य का पक्ष नहीं ले सकते, सब उलझाकर छोड़ देते हैं।"[2] सतीश यह समझ चुका है कि न्याय की लड़ाई अदालत में नहीं लड़ी जा सकती और न उसको लड़ने का वह तरीका हो सकता है जो उसका अपना है। इस लड़ाई का अन्तिम फैसला जनता की अदालत में होगा और इसका कारगर तरीका वह होगा जो महीपसिंह के विरुद्ध जगपतिया ने अख्तियार किया था। यानी इसके लिए समानधर्मा लोगों को संगठित करना होगा और शोषण तथा दमन करने वाली ताकतों के विरुद्ध सीधी कार्यवाही करनी होगी। महीपसिंह और उस वर्ग के लोग उसी भाषा को समझते हैं जो जगपतिया की है। लेकिन फिर भी सतीश रचनात्मक स्तर पर पूरी तरह जगपतिया के साथ जुड़ नहीं पाता। यह नहीं कि वह वर्ग-संघर्ष की सच्चाई और उसकी क्रांतिकारी भूमिका से अपरिचित हो। उसमें उसके जुड़ने की गहरी चाह भी है। लेकिन जैसे कोई भीतरी दबाव उसे उस दिशा में आगे बढ़ने से रोक देता है। यह दबाव उसके अपने संस्कारों का है जो उसे अपनी परम्परा से या कहें कि अपने पिता से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुआ था। विरोधाभास यह है कि अपने पिता के परम्परागत दाय को भी वह पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाता। संघर्ष की दिशा में आगे बढ़ने की बेचैनी और अन्तर्निषेधों से ग्रस्त होकर अपने आत्मबद्ध चिंतन के घेर से बाहर न निकल पाना सतीश के जीवन की एक बहुत बड़ी विडम्बना है। क्या यह आत्म-संघर्ष प्रकारान्तर के समग्र भारतीय जन-मानस के आत्म-संघर्ष का परिचायक नहीं है।

१. जल टूटता हुआ, पृ० ५१४।
२. वही, पृ० ४४६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीतिक विवेक—समाजवाद के प्रति आस्था :—'अपने लोग' में जो सामाजिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य उभर कर सामने आया है वह हर स्तर पर नैतिक विघटन की सूचना देता है। जैसे पूरी की पूरी व्यवस्था कुछ चालाक और अवसरवादी लोगों के इशारे पर नाच रही है। चारों ओर फैली मूल्यगत अराजकता के इस माहौल में वे लोग ही फूल-फल रहे हैं जो दूसरों का खून चूसकर मोटे होते रहने में माहिर हैं या दूसरों की झोंपड़ी उजाड़ कर अपना महल बना लेने में किसी प्रकार की नैतिक बेचैनी का अनुभव नहीं करते। ये सारी स्थितियाँ कथानायक प्रमोद को न केवल मानसिक स्तर पर बेचैन बनाती हैं, बल्कि कर्म और चिन्तन के धरातल पर गहरे संघर्ष के बाद उसे इस आत्मस्वीकार की ओर ले जाती हैं कि व्यक्ति और समाज को इन स्थितियों से बाहर निकालने का एक मात्र रास्ता समाजवाद है। संयोग से प्रमोद एक रचनाकार भी है और अपनी रचनाओं में वह उन्हीं मूल्यों की स्थापना के लिए संघर्षशील है जो शोषित मनुष्यता की पक्षधरता करते हैं। उसके प्रगतिशील चिन्तन का आदर्श ऐसे सामाजिक संघर्ष की भूमिका का निर्माण करना है जो मानव-मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर सके। प्रमोद जानता है कि यह लड़ाई अकेले हाथों नहीं लड़ी जा सकती। इसके लिए एक सामाजिक राजनीतिक संगठन का होना निहायत जरूरी है। लेकिन संगठन के साथ जुड़ने के सवाल पर एक रचनाकार के रूप में उसका मन द्विधाग्रस्त दिखाई देता है। उसे डर है कि राजनीतिक संगठन कहीं उसकी लेखकीय स्वतंत्रता को मर्यादित न कर दे। उसका यह संदेह सम्भवतः उन कठमुल्ले साम्यवादियों की बहसों से जन्मा है जिन्हें न जिन्दगी का अनुभव है, न मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की पहचान। लेकिन एक लम्बे अन्तर्द्वंद्व के बाद एक व्यावहारिक शर्त के साथ वह अपने आपको साम्यवादी पक्ष के साथ जोड़ लेने को तैयार हो जाता है। शर्त यह है कि वह साम्यवादी पक्ष उन लोगों का नहीं होगा जिनके लिए मार्क्सवाद केवल एक फैशन है जो शहर के कॉफी हाउसों में बैठकर केवल शाब्दिक बहस ही कर सकते हैं और कुछ भी नहीं कर सकते। वह पक्ष कामरेड जनार्दन जैसे लोगों का होगा जो मार्क्सवाद को जनता में जीवित करना चाहते हैं। जो किसानों और मजदूरों के बीच रहते हैं। उनके अधिकारों के लिए लड़ते हैं, उन्हें जगाते हैं, पढ़ाते हैं, लिखाते हैं।"[1] इसलिये अपने पुत्र पवन को साम्यवादी पक्ष के साथ जुड़ते देखकर प्रमोद उससे कहता है—"कभी-कभी तड़प होती है कि काश मैं इस मिट्टी की गरीबी के विरुद्ध सक्रिय संघर्ष कर पाता। मैं सक्रिय संघर्ष नहीं कर सकता। यह मेरी सीमा है, इसलिये वह चाह लिए मैं बराबर तड़पता रहा हूं। वह चाह तुम्हारे माध्यम से अभिव्यक्ति पा ले, तो मुझे परम तृप्ति होगी।[2]"

१. अपने लोग, पृ० ३७३।
२. वही, पृ० ३६१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हालांकि किसी पात्र की मान्यताओं को ज्यों की त्यों रचनाकार की मान्यताओं के रूप में स्वीकार कर लेना उचित नहीं माना जा सकता, लेकिन प्रमोद की उपर्युक्त मन: स्थिति और उसमें उदभूत चिंतन में लेखक की अपनी मान्यताओं और आस्था की अनुगूंज आसानी से सुनी जा सकती है। "आकाश की छत" में रचनाकार का यह चिंतन कर्म के रूप में अपनी सक्रियता ग्रहण करता है। 'अपने लोग' में जिस आदर्श की कल्पना की गई थी, वह 'आकाश की छत' में एक अमूर्त्त वास्तविकता बन कर आई है। यहाँ कामरेड जगत जनता के वीच रहकर उसकी इच्छा, आकाँक्षा और सपनों से अपने आपको जोड़कर मानवीय अधिकारों के लिए चलने वाले जन-संघर्ष को उसकी तर्किक परिणतियों तक ले जाने के लिए जन शक्ति को संगठित और संचालित कर रहे हैं।

'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ' में गजेन्द्रसिंह और महीपसिंह जैसे क्रूर जमींदारों के यहाँ नौकरी करते हुए नीरू और सतीश किसानों के साथ अपेक्षाकृत रहमदिली का व्यवहार करते हैं। उनके इस मानवीय व्यवहार के कारण हम उनके प्रति अन्दर ही अन्दर कृतज्ञता से भर उठते हैं। उन दोनों का यह बड़ा संवेदनशील और मानवोय रूप हमें दूर तक प्रभावित करता है। 'आकाश की छत' के बिरजू भैया भी सेठ की नौकरी करते हुए सेठ के कर्जदारों के प्रति बड़ी नरमी से काम लेते हैं। अपनी इसी मानवीय उदारता के कारण वे मजदूर वर्ग में सम्मान के अधिकारी बन जाते हैं। लेकिन कामरेड जगत को बिरजू का यह मानवतावाद बिलकुल प्रभावित नहीं करता। इस सन्दर्भ में वे कुछ-कुछ निराशामिश्रित रूखेपन से कहते हैं—"हाँ लेकिन इस प्रकार की उदारता भी सामन्ती है।"[1] हालांकि यह कटु सत्य है, लेकिन इसे झुठलाया नहीं जा सकता कि इस प्रकार की करुणा और मानववाद से गरीबों और शोषितों की स्थिति नहीं बदली जा सकती। गरीबों और मजदूरों का खून चूसने वाले सेठ चोकरमल की हत्या से भी वस्तुस्थिति में कोई खास फर्क नहीं पड़ सकता। इस संदर्भ में कामरेड जगत की मान्यताओं में किसी प्रकार की द्विधा नहीं है। वे यश के समक्ष अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"सेठ को मारने से कुछ नहीं होगा, दूसरा सेठ पैदा होगा। हमें तो उस व्यवस्था को खत्म करना होगा जिसमें सेठ पैदा होते रहते हैं।"[2] 'आकाश की छत' में प्रकट होने वाली ये धारणाएँ मिश्र जी की राजनीतिक प्रतिबद्धता के संबंध में संदिग्धता के लिए अवकाश नहीं छोड़तीं। उनकी इन राजनीतिक मान्यताओं के पीछे उनके आज तक के जीवन और रचना के विवेक का बल है। यह सच है कि मिश्र जी ने अपने कुछ कुटिल और क्रूर पात्रों का हृदय

---

१. आकाश की छत, पृ० ६७।
२. वही, पृ० ६३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवर्तन कराया है। 'जल टूटता हुआ' के दीनदयाल और 'अपने लोग' के सूर्यकुमार को इस सम्बन्ध में खासतौर से याद किया जा सकता है। लेकिन इतने भर से उन्हें गांधीवादी नहीं कहा जा सकता। यहाँ जो विशेष रूप से ध्यान रखने जैसी है, वह यह कि युग की किन्हीं महत्वपूर्ण सामाजिक आर्थिक समस्याओं के समाधान की खोज के रूप में वे अपने पात्रों का हृदय परिवर्तन नहीं कराते। उनका प्रभाव-क्षेत्र बहुत सीमित होता है। मिश्रजी ने प्रायः अपने सभी उपन्यासों में समाज की वर्गीय संरचना को स्वीकार किया है। वर्ग-संघर्ष में उनके दृष्टिकोण की हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं। उनकी यह मान्यता है कि सम्पत्ति के चयन का एक मात्र आधार शोषण है, उनके प्रायः सभी उपन्यासों में एक स्थायी धारणा के रूप में व्यक्त होती रही है।

'पानी के प्राचीर' का नीरू हरदेव राय को लेकर सोचता है—"चूसना, चूसना और चूसना ही इन लोगों का काम है। इसलिए जवार के बड़े आदमी बने हुए हैं।"[1]

महीपसिंह के यहाँ नौकरी करते हुए सतीश ने भी "जैसे एक नयी दुनिया देखी···एक दुनिया जिसका रंग किसानों और मजदूरों की चीख-चिल्लाहठों के कंधों पर खड़ा था। जिसके कमल इन गरीबों के पसीने के कीचड़ में खिले थे, जिसका प्रकाश गरीब की हड्डियों की रगड़ से फूटा था।"[2]

मिश्र जी का नया उपन्यास 'दूसरा घर' लेखक के जीवन और रचनात्मक विकास के कुछ नये बिन्दुओं को छूता है। यह ऐसे लोगो की कहानी है जो अपने गाँव की जमीन से उखड़कर भी उखड़ नहीं पाते और अहमदाबाद और इस जेसे अन्य औद्योगिक नगरों की जमीन में जमकर भी जम नहीं पाते। संबंधों के अनेक सूत्र इन्हें गांव से वांधे हैं। कभी-कभी इनके घर की गरीबी की विसात की छाया इनके अहमदाबाद के जीवन पर कुछ इस कदर पड़ने लगती है कि वह उनके अस्तित्व के लिए खतरा बन जाती है। उससे बच निकलने का कोई रास्ता नहीं मिलता। औद्योगिक नगर की नई स्थितियों और खास तौर से महाजनी सम्यता से जुड़े नैतिक विघटन के साथ समझौता करने में असमर्थ वे जीवन यापन की सामान्य सुविधाएँ भी नहीं जुटा पाते ऐसे में उनका जीवन असफलता का एक अंतहीन सिलसिला बनकर रह जाता है। लेकिन कदम-कदम पर लड़खड़ाते गिरते हुए इन लोगों की विशेषता यह है कि असफल हो जाने के बावजूद ये कभी पराजय स्वीकार नहीं करते। घर और दूसरे घर के दो बिन्दुओं के बीच के तनाव के साथ आज की व्यवस्था की अनेक असंगतियाँ, वर्गीय स्वार्थों की अनेक अंधी भूल भुलैया भाषा, प्रदेश वाद, साम्प्रदायिकता और वैयक्तिक

---

१. पानी के प्राचीर, पृ० १४४।
२. जल टूटता हुआ, पृ० ११३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वार्थों की गहरी खाइयां हैं जो उन लोगों के जीवन संघर्ष को और भी अधिक जटिल और पेचीदा बनाती हैं।

प्रस्तुत उपन्यास में मिश्र जी ने इन सारी स्थितियों को अनुभव के स्तर पर उभारा है और वैदिक स्तर पर इसके मूल चरित्र को समझने का प्रयत्न किया है। लेखक की चिन्ता के केन्द्र में वंचित और अभावग्रस्त मनुष्य है लेकिन मनुष्यता की चिन्ता होना मानव अधिकारों के लिए तरह-तरह के तर्क जुटा लाना एक बात है और अपनी चिन्ता को मनुष्यता के पक्ष में दिये गये तर्कों को आधार बनाकर एक अच्छी कथाकृति की रचना एकदम अलग बात है। 'दूसरा घर' मनुष्यता की चिन्ता से निर्मित एक अच्छी कथाकृति है। यह कथाकृति भी मिश्र जी की अन्य महत्वपूर्ण कथाकृतियों की तरह ही पूरी सामाजिक विसंगति पर राजनीति के दबाव की सही पहचान करती है।

'बीच का समय' जिसकी संवेदना के केन्द्र से दो युवा हृदयों के आकर्षण से उद्भूत पीड़ा और बेचैनी का अनुभव ही है, सामाजिक सच्चाइयों के कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं का भी स्पर्श कर लेता है। देश के बहुत बड़े औद्योगिक शहर अहमदाबाद में साबरमती के तट पर बैठकर कथानायक शील सोचता है। यहाँ एक बज बजाती हुई नंगी हवा घूमती है—सड़े नाबदानों से, खुले पखानों से, संकरी गलियों से—और आकर टूटे कमरे में थमकर बैठ जाती है, और उदास आँखों से घूरती है चूल्हे की ओर······और इधर हवा थिरकती चलती है रेशमी आंचल की तरह चिकनी फर्शों पर कारों सी फिसलती चली आती है और शाम को एक रंगीन आलीशान मकबरे में बैठकर अपनी सांसों में गरमाती है बिस्तरों को।"[1]

इसी बात को 'अपने लोग' का प्रमोद अधिक सीधी शब्दावली में कुछ अधिक साफ ढंग से प्रस्तुत करता हुआ कहता है "जहाँ कहीं वैभव है, वहाँ उसके नीचे एक उजड़ा हुआ जीवन दबा पड़ा है वैभव की कल्पना गरीबों के जीवन के उजाड़ के बिना हो ही नहीं सकती।"[2]

पात्रों के चरित्र निर्माण में भी मिश्र जी ने उनके वर्गीय वैशिष्टय को विशेष रूप से रेखाँकित किया है। खास तौर से उनके नारी पात्रों में सामाजिक दायित्व के पक्ष से लेकर प्रेम के व्यक्तिगत धरातल तक श्रमिक वर्ग की नारियाँ अधिक संघर्षशील दिखाई देती हैं। वह चाहे बिंदिया हो या लवंगी, इमरतिया हो या रूपमती इस वर्ग की हर स्त्री जीवन संघर्ष के स्तर पर अधिक ऊँची नीतिमत्ता उदारता और

---

१. बीच का समय, पृ० ४६।
२. अपने लोग, पृ० २२९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानवीय संवेदनाशील का परिचय देती है। वह परिस्थितियों के सामने झुकती नहीं; उनका डटकर मुकाबला करती हैं। ये सभी श्रमिक होने के साथ ही तथाकथित छोटी जाति की नारियाँ है। लेकिन ये बड़ी जातियों के 'बड़प्पन' के खोखलेपन को बखूबी जानती हैं। बिंदिया सोचती है—"कैसे हैं ये बाभन कुत्ते। रात में बिष्टा तक खा लेंगे और दिन में ओठों पर पान की पीक पोतकर महकने की कोशिश करते है।"[1] 'जल टूटता हुआ' की बदमी चुनौती के स्वर में कहती है—"यह गिरने गिराने का काम आप लोगों के घरों को बाभनियाँ करती हैं, मुझसे किसी के घर का कुछ छिपा नहीं है।"[2] 'आकाश की छत' की रूपमती में एक गहरे आत्म-विश्वास का भाव है, जो एक श्रमिक नारी की आत्म-निर्भरता से ही जन्म ले सकता है। वह कामरेड जगत से कहती है—"मैं बकरी बनकर रहने वाली बड़ी जातियों की औरत नहीं हूं। मैं अपने हाथों के बल पर जी सकती हूं।"[3] 'सूखता हुआ तालाब' की चिनैया का संकल्प उसकी अपराजेय संघर्षशील चेतना का परिचायक है।

मिश्र जी के बड़े उपन्यासों—'पानी के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ' अपने लोग' और आकाश की छत' के पात्रों के जीवन-संघर्ष का स्वरूप बहु स्तरीय है। वह युग की सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों से प्रभावित तो होता ही है, अनेक स्तरों पर उन्हें प्रभावित भी करता है, कभी-कभी उनके प्रवाह की दिशा भी बदलता है। लेकिन उनके छोटे उपन्यासों—'बीच का समय' 'सूखता हुआ तालाब' और 'रात का सफर' का द्वन्द्व कुछ भिन्न प्रकार का है। परिस्थितियों का दबाव यहाँ भी है, लेकिन उनके प्रतिकार का रूप सामूहिक न होकर वैयक्तिक है। यहाँ भी व्यक्तिगत पीड़ा के विशिष्ट संदर्भ में भी युग की व्यापक सच्चाइयों के कुछ ऐसे महत्वपूर्ण संकेत उभर आते हैं कि वे युग जीवन की किसी असंगति या अन्तर्विरोध की समझ या समीक्षा बन जाते है। यहाँ प्रतिकार का तरीका भी अलग प्रकार है। वह जमीन की असंगतियों या अमानवीय स्थितियों का विवेक पूर्ण अस्वीकार होता है। यह जितना मूल्यागत होता है उपन्यास में उसकी उतनी ही कलागत अनिवार्यता भी होती है। 'सूखता हुआ तालाब' की चिनैया उस गाँव को छोड़कर चल देती है जिसने उसे 'वेस्सा' बनाकर छोड़ दिया था। 'रात का सफर' की ऋतु अपने भ्रष्ट और अनैतिक पति के गाल पर एक तमाचा मारकर अपनी छाती पर रखे बोझ से हमेशा के लिए मुक्ति पा लेती है। 'बीच का समय' के शील का अस्वीकार—रीता को छोड़कर गांव चले जाना जैसे एक मधुर किन्तु फिसलन वाली ढलान से अपने आपको रोककर गाँव की खुरदरी जिन्दगी की सीधी चढ़ान की ओर वापसी है। छोटे

१. पानी के प्राचीर, पृ० ५०।
२. जल टूटता हुआ, पृ० ५३१।
३. आकाश की छत, पृ० ६८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यासों के पात्रों की यह अस्वीकृति हर स्तर पर हर हालत में जीवन संघर्ष की स्वीकृति की सूचक होती है। अन्ततः उसके व्यक्तिगत संदर्भ की परिणिति किसी व्यापक सामाजिक सत्य के उद्घाटन में होती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मिश्र जी ऐसे रचनाकार हैं जिन्हें गाँव की मिट्टी से गहरा प्रेम है, जिन्हें वहाँ के नदी-तालाबों, खेत-खलिहानों, बाग-बगीचों तीज-त्यौहारों, मेलों दशहरों के प्रति गहरा आकर्षण है। लेकिन इन सबके प्रति उनके लगाव का एक मात्र कारण यह है कि ये सब उस मनुष्य के साथ जुड़े हुए हैं, जिस पर प्रकृति और व्यवस्था की दुहरी मार पड़ रही है। उनके श्रेष्ठ उपन्यासों को आंचलिक उपन्यास की श्रेणी में रखा जा सकता है, लेकिन आंचलिक तत्वों के प्रति गहरे आकर्षण के बावजूद अपनी कथा-कृतियों में मिश्र जी उस मनुष्य की केन्द्रीय स्थिति को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देते, जिसकी यातनाओं के मूल में वर्ग विभक्त समाज की सच्चाइयाँ हैं। मिश्र जी का मानना है कि सम्पत्ति का संचय शोषण से होता है। इसी से अभाव और गरीबी जन्म लेती है। लेकिन गाँव के जीवन के यथार्थ का एक छोर भारतीय समाज की वर्ण-व्यवस्था से भी जुड़ा हुआ है। इसने अछूत समझे जाने वाले मनुष्य की यातनाओं को और भी बढ़ाया है। मिश्र जी ने खास-तौर से इस तथ्य को रेखांकित किया है कि इस वर्ण-व्यवस्था के मूल में भी सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का असमान और अन्यायपूर्ण वितरण है। उसका मानना है कि शोषित और दलित मनुष्यता की मुक्ति का मात्र रास्ता वर्ग-संघर्ष है। इस संघर्ष में दलित वर्ग की भूमिका अधिक नियामक होगी। लेकिन वे यह भी मानते हैं कि वर्ग-संघर्ष और समाजवाद का रास्ता आसान नहीं है। यह एक सीधी चढ़ान है जिस पर व्यक्ति के भीतरी और व्यक्तिगत स्वार्थों की खतरनाक फिसलनें हैं। लेकिन फिर भी उनके पात्र अपने भीतरी और बाहरी अवरोधों से टकराते हुए इस रास्ते पर आगे बढ़ते हैं।

अपने अनुभव की आंतरिक जरूरत के रूप में मिश्र जी ने आंचलिक शिल्प स्वीकार किया है। यह कला रूप उन्हें जीवन के विविध स्तरीय यथार्थ को उसकी समग्रता में देखने समझने की छूट देता है। बिखराव वाले शिल्प को उन्होंने कुशलता से साधा है, क्योंकि वे जिंदगी को टुकड़ों में बाँटकर नहीं देखते। उन्हें युग के गतिशील यथार्थ के विविध तत्वों के अन्तः सम्बन्धों की गहरी पहचान है। यह पहचान ही उनके बहुस्तरीय अनुभव को रचनात्मक संयोजन प्रदान करती है। सैद्धान्तिक दुराग्रहों से बचकर जीवन के प्रगतिशील तत्वों को रचना में अनुभव के स्तर पर उद्घाटित कर सकने की अपनी उच्च-कोटि की सर्जनात्मक प्रतिभा के कारण समकालीन हिन्दी उपन्यासकारों में मिश्र जी अपनी अलग पहचान बनाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभव और मूल्य के बदलते धरातल

डा० विवेकीराय

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास-साहित्य को जिन साहित्यकारों ने समृद्ध किया है और दिशा दी है उनमें रामदरश मिश्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मूलतः उनकी कृतियों में नये मूल्यों के अन्वेषण की छटपटाहट है। जिन संस्कारों को लेकर कथाकार ने आरम्भ में लेखनी उठाई वे गांधीवादी रहे परन्तु समय के साथ उनका अर्थहीन अंश झड़ता गया है और सम्प्रति गांधीवाद, समाजवाद और आधुनिकता के योग को कथाकार रामदरश मिश्र के समकालीन उपन्यासकार की पहचान के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। वास्तव में सन् १९६० और ८० के बीच प्रकाशित कथाकार के सात उपन्यासों में बदलते समय के साथ अभिव्यक्ति के स्तर पर जो वस्तु कभी नहीं बदली है—वह है उसकी गहरी लोक-सम्पृक्ति। सम्प्रति अपने अन्तिम श्रेष्ठ उपन्यास में, इस प्रवृत्ति के दबाव से, कथाकार ने लोकभाषा तक को सीधे-सीधे स्थान देकर समादृत किया है। इस तलवर्ती जनजीवन की संसक्ति ने उपन्यासकार को जटिल, गहन और अन्तर्मुखी होने से बचाया है और कृतियों में जो जीवन्त सहजता आ गयी है वह पाठकों के पक्ष में पड़ती है।

स्वतंत्रता प्राप्ति की आशावादिता—रामदरश मिश्र का पहला उपन्यास 'पानी के प्राचीर' (१९६१) अनेक दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण और उनके सम्पूर्ण कथाकार-व्यक्तित्व की रेखाओं के साथ भविष्य की संभावनाओं को उजागर करने वाला है। इस उपन्यास का गांधीवादी प्रभावापन्न किशोर नायक नीरू अत्याचार-अन्याय का पूरी शक्ति के साथ विरोध करता चित्रित हुआ है। उसमें स्वाभिमान है और लक्ष्य के प्रति निष्ठा है। -कथाकार ने उसके चित्र को भरपूर प्रकाश देने के लिए उसके विरोधी महेश की सृष्टि की है जो आवारा है और दल बनाकर उसे परेशान करता रहता है।

सम्पूर्ण उपन्यास में ठेठ ग्रामांचल है और खेत, किसान, खलिहान और दंवरी-डांठ का वातावरण है। नीरू का बाप ही नहीं सारा गांव दरिद्र है। खेत रेहन रखकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बच्चों की शादी और पढ़ाई चलती है। जाड़े में सारा गांव बथुआ के साग पर जीता है। वस्त्र-हीन गरीबों की ठण्डी रातें कटकटाते कूं-कूं करते बीतती हैं। बाढ़, प्लेग और अकाल की छाया में जनसाधारण का जीवन सिकुड़ा-सिकुड़ा ही चुक जाता है।

स्वतंत्रता पूर्व की पोषक और प्रतिगामी शक्तियों को कथाकार ने बहुत स्पष्टता के साथ चित्रांकित किया है। गांव का मुखिया जो सुराजियों से आतंकित है सबको लड़ाता है। वह अपने को 'सरकारी आदमी' समझता है। इसी प्रकार थानेदार का आतंक भी गांव पर छाया रहता है। दो रुपये महीने तनख्वाह और खाने-कपड़े पर नीरू जमींदार राजेन्द्रसिंह के यहाँ कारिन्दागिरी की नौकरी करता है। अत्याचार-चक्र को वह कलेजे पर पत्थर रख कर देखता है। इन समस्त शक्तियों से ऊपर अँगरेजी राज है जिसके विरोध में 'पानी के प्राचीर' थरथराते हुए चित्रित हुए हैं। वास्तव में नीरू का विकास कुछ ऐसी दिशा में होता चला जाता है कि समय की ठोकरों से फिकते-फिकते वह काफी कठोर हो जाता है और स्वराज्य का स्वागत कर लेने पर ही रुकता है।

विदेशी दासता-चक्र में पिसा सांस्कृतिक गांव गरीबी में उभरते बालक को आर्थिक मोर्चों पर कभी संभाल नहीं पाता है। सामाजिक यथार्थ के इस पहलू को आलोच्य कृति में बहुत ढब से प्रस्तुत किया गया है। कच्ची उम्र में कथानायक को शहर में रोजी-रोटी की खोज में जाना पड़ता है। 'नीरू ने थोड़ा-सा सत्तू लिया और दो सेर आटा। चल पड़ा शहर की ओर।···सुमेश सिवान तक पहुंचाने आया। इधर माँ सिसक रही थी। छिः, वह क्यों सिसक रही है ? बेटा तो कमाने जा रहा है। (पृष्ठ ११२) प्रथम श्रेणी के अंक होने पर भी वह डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की मास्टरी वाले चुनाव में नहीं चुना जाता है। सड़क मेटगिरी या मिल की नौकरी मिलती जरूर है मगर वह खप नहीं पाता। कोटि-कोटि अभिशप्त जनता की कतार में खड़ा कथा-नायक बेकारी, बाढ़, प्लेग, जमींदार के अत्याचार, अंगरेजी राज की अति···सब सह रहा है। और तभी सन् १९४२ का जनान्दोलन शुरू होता है। स्टेशन फूंक दिया जाता है। दमनचक्र में नीरू पकड़ा जाता है। जेल से लौटता है तो देखता है कि उसका घर फूंक दिया गया है। फिर बढ़ते समय के साथ स्वराज्य आता है तो वह भाषण करता है···आज हमें आजादी मिली है। अब ये पानी की दीवारें टूटेंगी।··· खेतों में नये सपने खिलेंगे। कोई बच्चा पैसे के अभाव में पढ़ाई छोड़कर दर-दर नौकरी के लिए नहीं भटकेगा। (पृ० ३१३) स्पष्टतः स्वतंत्रता से उपजी गहरी आशा-वादिता इस उपन्यास का उपजीव्य है। सम्पूर्ण देश के समूह मन का प्रतिनिधि गरीबी में, अभाव-असुविधा में पला नीरू है। वह शहर से जितना विपन्न है, भीतर से उतना ही टूटा हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज की बदलती स्थितियों और मोर्चों के परिप्रेक्ष्य में कथाकार रामदरश मिश्र के इस प्रथम उपन्यास को पढ़ना एक मर्मस्पर्शी ऐतिहासिक युगबोध के बीच से गुजरना है। जब आजादी का आन्दोलन और जोर पर होता है और गांधी जवाहर की जयकारों से गाँव की गलियाँ गूंजती होती हैं। पूर्वांचल के सर्वाधिक पिछड़े गोरखपुर जिले के एक सामान्य गांव पांडेपुरवा में भी उसकी गूँज सुनाई देती है जिसे 'पानी के प्राचीर' में बखूबी सुना जा सकता है। राष्ट्रीय स्तर वाली व्यापक संभावनाओं की किरणों के अवतरण के लिए कथाकार आलोच्य कृति में बहुत उपयुक्त जमीन तैयार करता है। इसीलिए कृति में बासीपन नहीं आया है।

व्यापक मोहभंग—'जल टूटता हुआ' (१९६९) में प्रेमचंद की परम्परा उत्कर्ष पर पहुंची हुई है परन्तु उसकी मूल पकड़ आधुनिक है। उसमें यथार्थोन्मुख आदर्श है और गांधीवाद तथा समाजवाद के छोर परस्पर मिलते हुए चित्रांकित हैं। कथाकार कभी कृत्रिम अतिवाद के चक्कर में नहीं पड़ता है। फलतः वह प्रगतिशील शक्तियों को पुरस्कृत तो करता है परन्तु उसके भीतर ईश्वरीय न्याय की अनकही व्यंजना भी चुपचाप किसी कोने से उठती चलती है। कृति का मुख्य पात्र सतीश गांधीवादी ही है परन्तु उसके साथ प्रगतिशीलता का विरोधी रंग नहीं है। उसमें परम्परा का जो सहयोगी रंग है वह उसका अपना रंग है, कलाकार रामदरश मिश्र का नहीं। वह गहराई के साथ अपना निरीक्षण कर लेता है। कथाकार की कुशलता उसको पकड़ने में है। इस अनारोपित प्रमुख गांधीवादी पात्र के प्रमुख उपन्यास-केन्द्र में होते हुए भी अन्ततः गाँव की एकता का खंडित होकर बैर-विरोध और पार्टीबाजी के जंजाल में उलझ जाना ही वह तथ्य है जिसके आधार पर लेखकीय ईमानदारी की हम परख करते हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय जीवन में एक व्यापक ह्रास और गिरावट का दौर आता है। वह नगर जीवन और ग्राम जीवन को समान रूप से छूता है। ऐसा अनुभव होता है कि सरकार के सारे विकासी प्रयत्नों के बावजूद गाँव टूट रहे हैं, विकास के बाँध दरक रहे हैं। उपन्यास में यही केन्द्रीय पीड़ा है। सतीश कहता है, 'चिन्ता इस बात की है कि गाँव का क्या होगा ?' (पृ० ५७०) उसकी व्यथा एक चुनौती है जिसे कथाकार ने साहस के साथ स्वीकारा है। यह अलग बात है कि 'जल टूटता हुआ' में अंकित विद्रोह अभी धुंधुआती स्थिति में ही है। उसका आरंभ नैतिक मानदंडों और ग्राम-शील के ध्वस्त होने से होता है। गाँव में पट्टीदारी, जाति-बिरादरी और भोज-भात का अनुशासन रह नहीं जाता है। उपन्यास में तीन कुमारी कन्यायें हैं—गितवा, पारवती और सरधा। गितवा के लिए मास्टर वर ढूंढ़ने एक जगह जाते हैं तो देखते हैं कि सम्भावित जामाता 'मिडिल स्कूल में कई-कई साल से फेल हो रहा है, दरवाजे पर एक बैल है। दहेज मांगते हैं डेढ़ हजार।' (पृ० ३५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे ही कारणों से पार्वती की शादी नहीं हो पाती है और वह पूर्ण युवा ब्राह्मणी-पुत्री जब अपने चमार हलवाहे हँसिया को शरीर सौंपती है तो ब्राह्मणों का ख़ून खौल उठता है। (पृ० ४५३) शारदा अपने भीरु अध्यापक पाठक जी से उलझी है। इन सवर्ण कन्याओं के समानान्तर हीन जाति की कन्यायें बदमी, फुलवा और डलवा को कृति में इस कोण से रख छोड़ा गया है कि मूल्य-विद्रोह के आयाम स्पष्ट हो उठते हैं। परम्परित मूल्य और मान्यतायें धक्के खाकर टूट रही हैं। जात्यभिमान, अभिज़ात नैतिकता और देह-पवित्रता-बोध का नाश अर्थहीन हो चुका है।

आर्थिक और राजनीतिक विन्दुओं के साथ कृति में पुष्ट सांस्कृतिक तत्वों का चटक उभार देखकर इसके आंचलिक होने का भ्रम उत्पन्न हो सकता है। पिछड़े राप्ती-कछार के त्यौहारों में से नाग-पंचमी, विजयदशमी, रामलीला मेला और होली का उल्लास कृति में बिखरा है। पूजा-पाठ और अन्धविश्वास का रंग भी गाढ़ा है। (पृ० ३३७) धार्मिक अन्धश्रद्धा और सड़े परम्परित विश्वास गरीबी की खाद पाकर खूब पनपते हैं। सालों-साल बाढ़ अंचल के गले का सत्यानाशी हार बनी रहती है। परन्तु कुल मिलाकर आंचलिक रंगों का उभार आर्थिक समस्याओं की कीचट में डूब जाता है। अवसरवादिता की क्रूर राजनीति के प्रवेश, पंचायत राज की विफलताओं, और प्रजातांत्रिक विकृतियों की उतरती काली छाया से 'जल टूटता हुआ' नाम बहुत सार्थक हो जाता है।

कड़वी भाव सम्वेदनाओं का एक आधुनिक छोर—परिवेश के प्रभाव को नकारना असंभव है। गाँवों में जनमे और नगर में रहकर भी उसकी अन्तरानुभूत पीड़ा को निरन्तर झेलते संवेदनशील कथाकारों को उनका निजी परिवेश, प्रभावित करता है। गाँव के लिए समर्पित रहकर भी आश्चर्य नहीं कि वे नगरबोध के भटकाव और संश्लिष्ट पीड़ा को झेल रहे हैं। कथाकार रामदरस मिश्र के तीसरे उपन्यास 'बीच का समय' (१९७०) की कुछ ऐसी ही पृष्ठभूमि समझी जानी चाहिए। उसका कथानायक सौन्दर्य की आधुनिक नागरिक प्यास-भूख लिए छिछिया रहा है। वह बचपन में हुए अनमेल विवाह की मार्मिक पीड़ा को नगर में एकाकी झेल रहा है। ग्रामजीवन की विवाह-संस्थाजन्य भद्दगी उसके समूचे विकासमान उज्ज्वल भविष्य को पारहीन मलिनता में डुबो रही है और उसके लघु जीवन को किसी असंभाव्य अपवित्र ललक में तिरस्कृत कर रही है। इस प्रकार यह कथानायक भीतर ही भीतर टूट रहा है और इस टूटन को वह ईमानदारी से स्वीकार करता है। इस कृति में यह 'स्वीकार' एक उच्चकोटि की उपलब्धि बन गया है। कथाकार का शील बहुत सरलता के साथ विद्रोही बन सकता है। अपने दायित्व बोध को नकार सकता है परन्तु वह उस आरोपित और व्यावसायिक व्यक्तित्व से अपने को मुक्त रखता है।

प्रोफेसर शील और उनकी छात्रा रीता एक दूसरे के पास आना तो चाहते हैं परन्तु क्या वे स्वच्छन्द हैं ? एक के बोध का खूँटा गाँव में तो दूसरे के बोध की जंजीर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नगर में है। दोनों की परिधि भी भिन्न है। किसी मूर्त क्षण में जो अमूर्त्त स्वच्छन्दता का बोध होता है वह झूठा होता है। न जाने कितने अज्ञात सामाजिक बन्धनों में जकड़ा आदमी वास्तव में बहुत बेचारा है। इस लघु उपन्यास में कथाकार इन स्थितियों को बहुत कुशलता के साथ चित्रांकित करता है। शील के रूप में इस ग्राम-प्रधान भारत देश के उन अगणित अभागे उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों के चेहरे समाये हुए हैं जिनका जीवन घर में पड़ी बाल-विवाह की मूर्खा अर्द्धांगिनियों के कारण नरक बना हुआ है और वे न चाह कर भी आजीवन इस सामाजिक बोझ को ढोने के लिए विवश हैं, अतृप्ति की कड़वाहट और नारी-सामीप्य की अभिशप्त लालसाओं की जलन को जीने के लिए बाध्य हैं। प्रोफेसर शील की व्यथा को कथाकार इन शब्दों में व्यक्त करता है, 'शील पाता है कि वह हमेशा लड़कियों के साहचर्य में इसी तनाव से गुजरा है। वह एक चिरन्तन भूख लिये किसी भी लड़की से नहीं कह सकता कि मेरी हो जाओ।··· उसके भीतर एक धक्का-सा लगा···वह कैसे किसी से कहता कि मेरी हो जाओ, 'मेरी' होकर गांव पर एक भैंस जो बैठी है।'

कथाकार ने शील के भीतर वाले दायित्व बोध को भी उभारने का प्रयास किया है। पत्नी से बहुत अधिक सम्बंध-सम्पर्क नहीं है तो भी भीतर एक अहसास बना रहता है कि घर पर उसकी पत्नी है और उसके प्रति उसका कुछ कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य बोध के साथ हीनत्व-ग्रंथि का उभार भी जोरों पर होता है। दुर्बलता और आत्म संकोच में शील सिकुड़ा हुआ होता है। उसे बराबर लगता है. प्रेमिका के लिए अथवा पत्नी के लिए स्थान रिक्त नहीं है और इस प्रकार इस संदर्भ में वह अत्यन्त मिसफिट है। कृति में रीता के प्रति जो उसका 'प्रेम' चित्रांकित होता है वह मात्र पैंतरा है। शील को अब पत्नी नहीं, एक नारी साथी चाहिए क्योंकि 'पत्नी' तो घर बैठी है। उधर रीता को साथी और पति दोनों चाहिए। साथी के रूप में शील को पा लेना सरल था परन्तु पति के रूप में प्राप्ति की संभावनाओं की ही अनेक पहलुओं से परख के लिए वह उसे अपने गाँव ले जाती है। दुर्भाग्यवश शील की ग्राम-पत्नी बीच एक ऐसी गांठ बन जाती है कि जिसके रहते रीता और शील के सम्पूर्णतः मिलन की संभावना ही नहीं रह जाती है।

इस उपन्यास को वास्तव में एक लम्बी कहानी भी कहा जा सकता है क्योंकि इसमें आदि से अन्त तक कथात्मक एकतानता बनी रहती है और कहीं रोक, मोड़ अथवा जटिल अन्विति की परिस्थितियां पाठकों के एकावधान को अन्योपस्थापित नहीं करती हैं। गुजरात प्रदेश की संस्कृति, वहाँ के दर्शनीय प्राकृतिक दृश्य, और सांस्कृतिक स्थलों की पृष्ठभूमि पर बुनी यह वैयक्तिक अन्तर्विरोध की रोमांन गाथा नारी स्वतंत्रता के अनेक महत्त्वपूर्ण आयामों को उजागर करती है।

फिर सूखते तालाबों की ओर वापसी—कथाकार रामदरश मिश्र ने 'सूखता हुआ तालाब' (१९७२) की चुभन को नुकीला बनाने के लिए स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बिखराव वाले चालू शिल्प को जिसका बहुत सफल प्रयोग 'जल टूटता हुआ' में है, इसमें छोड़ दिया है और पूरी कहानी एक सुविचरित कथा-केन्द्र पर टिकी रहती है। कथाकार की कुशलता इसी केन्द्र के चुनाव में है और यह केन्द्र है बिरादरी का भोज-भात। इसे लेकर ही गाँव में दल बनते-बिगड़ते हैं। इसी की आड़ में फसादी अपना जाल फैलाते हैं तथा राजनीतिज्ञ अपनी गोटी बैठाते हैं। कृति में भोज-भात के मुद्दे पर जो दो दल बन गये हैं उनमें एक दल उन लोगों का है जो अच्छे-भले हैं और पीड़ा झेल रहे हैं तथा दूसरा उनका जो युग-दस्यु और परपीड़क हैं। दोनों के टकराव में गाँव की लुटती लाज की अभिव्यक्ति न चाहते हुए भी कथाकार को करनी पड़ती है। लड़कियों के अवैध गर्भ रह जाते हैं। चमारों की लड़कियों से अधिक छिनाल सवर्णों की लड़कियां सिद्ध होती हैं। शत्रुतावश छिपी चीजें उभारी जाती हैं। अनैतिक और अतिचारी लोग संगठन-बल पर दहाड़ते हैं और पीड़ित सभी लोगों का गाँव में रहना कठिन हो जाता है।

'सूखता हुआ तालाब' में गाँव की ऐसी ही गिरावट और पीड़ा को कथाकार ने कला की कलम से उकेरा है। कहानी के बीच से गुजरते पाठकीय चित्त में बारम्बार प्रश्न उठता है कि आखिर गाँव का यह रूप लोगों को कहाँ ले जाकर पटकेगा? 'जल टूटता हुआ' में सतीश के मन में जो दुश्चिन्ता उठती है कि गांव का क्या होगा, उस पर इस कृति में जैसे पक्की मुहर लग गयी है। स्थितियां नयी पीढ़ी को तोड़ रही रही हैं। उसकी मानसिकता में प्रतिक्रियात्मकता का विष प्रवेश कर गया है। प्रस्तुत कृति के प्रमुख पात्र रवीन्द्र में ऐसे विषाक्त परिणामों की मानसिक प्रक्रिया का बहुत प्रभावशाली चित्रण हुआ है। चेनइया, लीला और कलावती सभी कुमारियां भ्रष्ट होती हैं। सचाई-ईमानदारी के लिए लड़ने वाले देवप्रकाश को गांव छोड़ना पड़ता है। नगर शरणता उसकी अनिवार्य नियति है। गाँव उसे नहीं रख सकता। गाँव के इसी मर्मान्तक दुर्भाग्य को कथाकार संवेदित कर उपन्यास का अन्त करता है और पाठकों के मन पर एक जीवन्त खरोंच छोड़ देता है।

विसंगतियों का चक्रव्यूह और बुद्धिजीवी अभिमन्यु—अपने महत्त्वपूर्ण पाँचवें उपन्यास 'अपने लोग' (१९७६) में कथाकार रामदरश मिश्र ने 'जल टूटता हुआ' के उखड़े हुए प्रगतिशील गांधीवादी सतीश को एक बार फिर अपने को आजमाने का मौका दिया है मगर प्रस्तुत कृति के प्रमुख पात्र प्रमोद के रूप में उसने इस बार अंतिम रूप से दम तोड़ दिया है। सत्य और न्याय के लिए संघर्षरत प्रमोद टूक-टूक होकर निराशा के अंधकार में डूब जाता है और कृति पर यथार्थ की गहरी चोट उभर जाती है। इस प्रकार आधुनिकता, स्वातंत्र्योत्तर बदलाव और परिवर्तित मानसिकता के विविध जटिल सामाजिक स्तरों की पहचान 'अपने लोग' में बहुत स्पष्टता और सार्थकता के साथ उभरी है। कथाकार नये सामाजिक-आर्थिक बदलावों के संदर्भ में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीधे प्रश्न उठाता है, कितना बदलाव आया है ? और इसके उत्तर में प्रमोद जब गोरखपुर शहर पर दृष्टि डालता है तो बदलाव खाती व्यापक भद्दगियों की लम्बी कतारें सामने आ जाती हैं। सबसे विराट भद्दगी प्रमोद के स्वयं के परिवेश से जुड़ी है। गोरखपुर में बी० ए० तक शिक्षा पाये और वहाँ से पन्द्रह-बीस मील दूर एक गाँव में जन्मे-पले प्रमोद को माता की मृत्यु के बाद बूढ़े पिता की खेतीबाड़ी संभालने के संदर्भ में बीस वर्ष तक दिल्ली महानगर में रहने के बाद गोरखपुर स्थित शंकर कालेज में आना पड़ा। अर्थात् वह पराये महानगर से अपने नगर, अपने लोगों के बीच आया। यहीं से इस उपन्यास की कहानी शुरू होती है।

'अपने लोग' में इस सम्पूर्ण परिवेश की इकाई है। उपन्यास का संघर्ष प्रमोद बनाम सम्पूर्ण परिवेश है और समस्त कथासूत्र उसकी बौद्धिक चेतना से टकराते चित्रांकित है। इसे अधिक चोट इसलिए लगती है कि उसका व्यक्तित्व मूलतः अध्यापक व्यक्तित्व के रूप में निखारा गया है। उसे सबसे अधिक चोट कालेज की जातिवादी राजनीतिक गंदगी से पहुंचती है। अध्यापकों की उठापटक में शिक्षा पिस रही है। तटस्थ छात्र अवश हैं, दयनीय हैं। प्रमोद सही कोण से अध्यापक-जीवन जीना चाहता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि ऐसे लोगों की कोई आवाज़ नहीं होती है। कम-से-कम वह नंगों की नंगई को उघाड़ कर चौराहे पर तो रख ही देता है। ऐसे मौकों पर उसका प्रगतिशील गांधीवादी रूप निखर आता है।

साहित्य के माध्यम से संघर्ष करने वाली चर्चा उठा कर प्रमोद के माध्यम से कथाकार ने सृजन की नयी सार्थकता के प्रश्न को प्रस्तुत किया है। (पृष्ठ ३६१) इस दृष्टि से पूरी कृति में उभरे मोर्चों पर ध्यान जाना सहज-स्वाभाविक है। एक-डेढ़ दर्जन से भी ऊपर संघर्ष-क्षेत्रों में घुमाकर कथाकार पाठकों को एक व्यापक अवसाद में डुबो देता है। पाठक सोचता है, यह दायित्वबोध-अवशिष्ट बुद्धिजीवी पीढ़ी जब अपने संघर्षों में असफल होकर परिवेश की भद्दगियों में दब जाती है तो नयी पीढ़ी के पन्नों को उलटना पता नहीं कितना सार्थक होगा ? कथानायक की निराशा में उसके सृजन-संघर्ष की साहित्यिक भूमिका से नयी आशा उत्पन्न होती है और इसी उम्मीद के दस्तावेज के रूप में आलोच्य कृति की सार्थकता रेखांकित की जायेगी।

'अपने लोग' में अपनी भोजपुरी लोक-भाषा को कथाकार ने जो सीधे सम्मान दिया है वह कृति की अन्यतम विशेषता है पी० के० लाल और चमाइन इमरितिया की पूरी प्रेमलीला भोजपुरी में ही चित्रांकित हुई है। इससे अनेक स्तरीय शिल्प-चमत्कार के साथ संवेदनात्मक धरातल परिपुष्ट हुआ है।

पत्नीत्व की पीड़ा से गहन साक्षात्कार—कथाकार रामदरश मिश्र का प्रायः हर बड़ा उपन्यास अपने पीछे एक लघु उपन्यास छोड़ जाता है और यह दूसरा प्रभाव की दृष्टि से बहुत तेज और चुस्त होता है। 'अपने लोग' में अपने गोरखपुर के लोगों को देखकर कहते-कहते जो बात शायद छूट गयी थी उसे उसी वर्ष प्रकाशित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने एक लघु उपन्यास में बहुत चुस्त ढंग से कथाकार ने रख दिया है। पूर्ववर्ती कृति के डॉ० सूर्य और नर्स मंजरी को पृथक्-पृथक् बिन्दु यहाँ नियति की एक क्रूर लीला बन मिले हुए हैं। यह लीला इतनी भयानक है, तिलमिला देने वाली है कि कथाकार को सफर करना पड़ता है और गोरखपुर से बनारस वाला वह **रात का सफर** (१९७६) एक नारी की छह वर्ष की एक काली रात की पीड़ा का जीता-जागता दस्तावेज हो जाता है।

'रात का सफर' में दिल्ली के मजिस्ट्रेट राकेश जी की सुशील, शिक्षित और सुन्दरी पुत्री ऋतु है। ऊँचा देहज देकर अलीगढ़ के वकील-पुत्र विदेश से, जो एम० बी० बी० एस० का डॉक्टर हो गया है, उसकी शादी हुई। डॉक्टर का बाह्य आकर्षक व्यक्तित्व बेखकर ऋतु उस पर प्राणपण से रीझकर समर्पित हो गयी। उधर वह बहुत पहले से नर्स श्यामा की जकड़न में था और इस प्रकार ऋतु के दुर्भाग्य की दास्तान आगे बढ़ती चलती है। अलीगढ़ के नरक में बिलबिलाती देख उसका पिता उसे एक बार दिल्ली ले जाता है। दिल्ली में पत्र लिखकर डॉक्टर को बुलाया जाता है। डाक्टर जाता है और बहुत प्रेम जताता है मगर उसका सारा स्नेह एक छल होता है। यहाँ तक कि ऋतु और उसके पिता के सामने इलाहाबाद में सारा भेद खुल जाने के बाद भी यह छल छह वर्षों तक चलता रहता है। फिर एक दिन यह धूर्त लीला क्लाइमेक्स पर पहुंचती है। तब डॉक्टर गोरखपुर में नियुक्त होने के बाद त्यागपत्र देकर नर्स श्यामा के साथ प्राइवेट डिस्पेंसरी खोलकर विहार करता होता है और ऋतु एकाकी उसी नगर में तड़पती होती है। उसकी एक शुभेच्छु महिला मित्र पत्र लिख उसके पिता को बुला देती है। पिता के साथ सदा के लिए दिल्ली जाती ऋतु कुंजी देने डिस्पेंसरी पर पहुंचती है तो डॉक्टर और नर्स दोनों मिलकर उसे इस प्रकार उपेक्षा से दंशित करते हैं कि ऋतु के हाथ उठ जाते हैं और भरी सभा में डॉक्टर को चांटा लगाकर पिता के साथ चल देती है। यहीं से 'रात का सफर' शुरू होता है और गाड़ी की गति के साथ-साथ फ्लैशबैक द्वारा पिछली कहानी आगे बढ़ती जाती है।

डॉक्टर पर पड़ने वाला तमाचा समाज के ऐसे समस्त घृणित लोगों पर चोट है। एक सांस में पढ़ डालने योग्य यह उपन्यास पूर्वांचल एक्सप्रेस की गति के समान तेज है और उसी के कथात्मक स्तर पर नियंत्रित होता चलता है। आत्मकथा शैली में डॉक्टर को सम्बोधित कर प्रायः पूरी कथा ऋतु द्वारा कह डाली गई है। पिता पुत्री के सफर की यह उनींदी रात पाठकों को अनेक स्तरों पर छूती चलती है। ऋतु की वैयक्तिक कहानी जितनी कुरूप है उतनी ही चुभनशील है। कथाकार ने स्टेशन पर गाड़ी रुकने के बहाने, खिड़की से देखने के बहाने पूर्वांचल की प्रकृति के चित्र का जो मोहक भराव दिया है वह अपने आप में एक गतिशील काव्य है, जो गतिशील गाड़ी के साथ एक नारी की गहरी पीड़ा और आत्ममथन को और गहराता चलता है तथा पूरे उपन्यास को गीत-काव्य की कथा लड़ी की भाँति झनझनाता चलता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लघु उपन्यास : विशाल प्रभाव—कथाकार का अन्तिम उपन्यास 'आकाश की छत' (१९७९) बोध सृष्टि से बहुत सरल किन्तु बुनावट की दृष्टि से संश्लिष्ट उपन्यास है दिल्ली में आयी पिछले वर्षों की एक अभूतपूर्व बाढ़ में माडल टाउन स्थित अपने किराये के मकान की एकान्त छत पर घिरा यश भूख, प्यास और बुखार के अतिरिक्त नाव-अपनाव के अभाव में तड़पता बारम्बार वर्तमान की विभीषिका से टकरा कर अपने उस अतीत में लौट जाता है जो इस बाढ़ की ही भाँति अपनी चपेट में उसका सब कुछ, माँ-बाप, स्नेहिल भाई, समेट कर कठिन संघर्ष के लिए उसे एकाकी छोड़ गया है। इस प्रकार दोहरी बुनावट में प्रकृति और जीवन से जुड़ी दो संत्रास-कथाएं पहले समानान्तर चलती हैं और अन्त में दोनों जुड़कर आगे चलती हैं। आगे स्थितियाँ सुखद नहीं हैं, उनका मात्र एक हल्का संकेत है। यह संकेत एकान्त की जकड़न टूटने का है। यश के जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि होश संभालते ही कठिनाइयों की बाढ़ में घिर कर वह एकदम अकेला पड़ गया है। वास्तव में कठिन अकेलेपन की संघर्ष गाथा के लिए जिस रोमांचक पृष्ठभूमि का चयन किया गया है, वह बहुत सार्थक है।

उपन्यास की वर्तमान गाथा नगर की बाढ़-गाथा है। कथाकार के आरम्भिक दो उपन्यासों में बाढ़ की विनाश लीला का बहुत ही मर्मस्पर्शी चित्रण है। पहला उपन्यास 'पानी के प्राचीर' में तो बाढ़ की विपत्ति और उससे संघर्ष को ही प्रतिपक्ष रूप में प्रस्तुत किया गया है। परन्तु प्रस्तुत उपन्यास का अनुभव कुछ और है। यहाँ विनाश भी एक फैशन के रूप में आया है। महानगर के सुरक्षित लोग उसे इसी रूप में ले रहे हैं और अरक्षितों की सारी पीड़ा को लेखक ने बहुत कौशल के साथ एक जगह, एक व्यक्ति, यश में समेट दिया है। वास्तव में पूरा चित्रण बेजोड़ है। सरकारी और व्यक्तिगत सहायता का खूब रहस्योद्घाटन हुआ है। बाढ़ के भोक्ता यश में जो दृढ़ता दिखायी पड़ती है वह उसमें अतीत जीवन की विपत्ति-बाढ़ के थपेड़ों को सहते-सहते आ गयी है। कृतिकार ने उस अतीत-गाथा को भी सहज ढग से स्मृति कथा में पिरो कर पेश कर दिया है। यह कथा बचपन से आरम्भ होती है। क्षेत्र की बीहड़ता, घर की गरीबी, पिता के स्नेह और भाई के विरोधी व्यक्तित्व आदि का प्रभाव बालक यश पर है। विरोधी स्थितियां उसे बराबर सहिष्णु और गतिशील बनाती जाती हैं। घर की प्रतिष्ठा और खुशहाली का सपना देखते पिता चला जाता है। उसका राम भइया उसे बहुत क्रूर निगाह से देखता है। प्रथम श्रेणी आने पर भी पढ़ाई पर प्रश्न-वाचक लगा है। बदरी भइया नौकरी कर पढ़ाई आगे बढ़ाता है और सारी कहानी बहुत स्पष्ट बुनावट के साथ आगे बढ़ती जाती है। रूपमती, बदरी भैया, कामरेड जगत बालक यश के मन को प्रेम, त्याग और विचारशीलता से सींचते हैं और यह प्रभाव जीवन भर रहता है। भीतर-बाहर और अतीत-वर्तमान की सारी-सारी तरह की विपत्तियों का वह इसीलिए अतिक्रमण कर जाता है। जीवन के प्रति आशा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वास और धैर्य जगाने वाला उच्चकोटि का रचनात्मक और प्रेरक दृष्टिकोण कृति में विद्यमान है। रूपमती, राधा और पद्मनी में प्रेम का एक क्रमिक विकास है। गिरावट नहीं चरित्र का निखार कृति के केन्द्र में है। नगर नहीं, कथानायक पर मूल प्रभाव गाँव का है और इसीलिए कृति की आत्मा में लोक-कथा की महँक है, जिसमें एक नन्हा-सा बेजान पौधा खाद-पानी के, बिना रख-रखाव के, नाना प्रकार के झंझावात सहता 'आकाश की छत' पर उठकर पाठकों के चित्तपर छा जाता है। इस प्रकार यह छोटा उपन्यास बड़े प्रभावों वाला बन जाता है।

मूल्यांकन—प्रेमचंद की उपन्यास-परम्परा का विकसित रूप रामदरश मिश्र में पूर्णरूप से प्रतिष्ठित है। अब तक के प्रकाशित सातों उपन्यासों में लोक-जीवन के प्रति कथाकार का ममत्वशील समर्पित रूप कहीं भी मद्धिम नहीं हुआ है। 'रात का सफर' जैसे वैयक्तिक जीवन की अन्तर पीड़ा वाले उपन्यास में भी कथा-मानस का केन्द्रीय मर्मस्थल वह ग्रामांचलिक परिवेश है जो प्रत्यक्ष या स्मृति रूप में आ-आ कर चोट को सघन बना जाता है। वास्तव में कथाकार आज के समग्र भारतीय जीवन के समवेत रूप को आत्मसात् कर जो कथात्मक अभिव्यक्ति देता है उसमें उसकी मूल संवेदना ग्राम-जीवन की होती है। नगर को आधुनिक विसंगतियों और भद्दे तनावों से बार-बार टकरा कर वह अपने प्रिय ग्रामांचलों की ओर लौट जाता है। पुनः वहाँ उससे भी भीषण टकराव-बिखराव और नारकीय स्थितियों का साक्षात्कार उसे कड़वाहट से भर देता है। किन्तु यह कड़वाहट उसे कहीं भी पराजित नहीं कर पाती है। परवर्ती उपन्यासों में भी अच्छे-भले लोगों की पंक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। **'आकाश की छत'** में सारी स्थितियाँ तोड़कर चूर-चूर कर देने वाली हैं किंतु इन्हीं के बीच एक अच्छा भाई, एक अच्छा कामरेड और एक स्मरणीय नारी मित्र की उपस्थिति से आस्था को बल मिलता गया है। **'रात का सफर'** को छोड़कर शेष सभी उपन्यासों में गांधीवादी प्रभाव, ईश्वरीय न्याय और आस्था का कोई-न-कोई हलका रूप किसी-न-किसी कोने से झलक मार जाता है और युगीन मूल्यहीनता, धुंध, निराशा और गिरावट के बीच चुनौती बन जाता है। कथाकार ने इस चुनौती को आधुनिकता के स्तर पर स्वीकारा है।

कथाकार रामदरश मिश्र का बोध और शिल्प शतप्रतिशत आधुनिक है। इस बोध में अतीतजीवी नीरू, सतीश, शील, रवीन्द्र, प्रमोद और यश अपना-अपना मोह और मोहभंग की प्रक्रिया में आधुनिकता को लेकर समाये हुए हैं। अतीत सम्पृक्त आधुनिकता का यह शिल्प कथाकार को सहज, स्पष्ट और बोधगम्य बनाता है। उसकी जड़ अपनी जमीन में होती हैं और शेष फैलाव में समस्त समकालीन वैचारिक उड़ानों को वह आश्रय देता है। किसी वाद, विचार या बहस को कथाकार ने फैशन के रूप में नहीं लिया है। न ही वह कहीं अपनी गहन-गंभीरता की धाक जमाना चाहता है। इसीलिए कथा-रस कहीं से टूटता नहीं है। लघु उपन्यासों में यह कथा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रस और तेज हो गया है। कथाकार ने तीन बड़े और चार लघु उपन्यासों की रचना की है। लघु उपन्यास के शिल्प का निखार 'आकाश की छत' और 'रात का सफर' में है। दोनों में दो कथायें समान्तर चलती हैं। एक में वर्तमान कथा बाढ़ की है तो दूसरे में ट्रेन की यात्रा की और शेष-कथा फ्लैश-बैक रूप में। अंतिम उपन्यास की गाढ़ी लोकजीवन-सम्पृक्ति बहुत असरदार है। इसे प्रथम उपन्यास की पीड़ा की छूअन के विकास-रूप में रेखांकित किया जा सकता है। बीतते समय की दूरी और परिवर्तित होते समय का प्रभाव उपन्यासों में उतारे गये जीवन-संघर्ष से बराबर अनुभूत होता चलता है। इस प्रकार एक प्रतिष्ठित कथाकार के रूप में रामदरश मिश्र ने जिये जाते युगीन जीवन और उसकी कसक को अपनी कृतियों में गहरी मानवीयता और निष्ठा के साथ उतारा है और भविष्य के लिए सृजन की सुखद आशाओं को जगाया है।

कथाकार रामदरश मिश्र के सृजन-व्यापार में मूल धन गांधीवाद है और समाजवाद अनेक स्तरीय बढ़ोत्तरी के साथ ब्याज रूप में आया है। यह ब्याज-चिंतन राष्ट्रीयता और मानवीयता की अपनी जमीन से जुड़ा होता है अतः उपन्यासों में अनेक स्थलों पर मुखौटावादी कम्युनिस्टों की निन्दा की गयी है और जनवादी रंग लाने के लिए कहीं भी चालू राजनीतिक फार्मूलों का प्रयोग नहीं किया गया है। 'अपने लोग' की काफी हाउस बहस में क्षण-क्षण रंग बदलने वाले कामरेडों को खूब आड़े हाथ लिया गया था तथापि 'आकाश की छत' में कामरेड जगत को, उनकी निष्ठा को बहुत सम्मान के साथ याद किया गया है। कुल मिलाकर यह सम्मान जगत जी के राजनीतिक व्यक्ति होने का नहीं, उनकी मानवीयता का होता है। मानवीयता का रंग कथाकार में इतना तेज होता है कि वह अनावश्यक राजनीतिक स्तर पर व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। उनमें शुद्ध रूप से सामाजिक परिप्रेक्ष्य है। यही बात प्रेमचन्द में भी थी। अब उसे खींच-खींच कर एक विशेष राजनीतिक रंग से जोड़ कर देखना वास्तव में अनुचित है। सृजन-व्यापार में ब्याज चाहे कितना बढ़ जाये पर उसकी दिशा का निर्धारण तो मूल पूंजी से ही होगा।

अपने उपन्यासों में जिस भारतीय जीवन को कथाकार ने स्पर्श दिया है उसके दो छोर हैं। एक छोर पर तलवर्ती लोक जीवन है और दूसरे स्तर पर उच्च बुद्धिजीवी वर्ग का नागरिक जीवन है। यह समग्र भारतीय जीवन विसंगतियों की जिस युगीन चोट से तिलमिला रहा है उसका समवेत अंतरंग पहचान को रामदरश मिश्र में बहुत सरलता से रेखांकित किया जा सकता है। तलवर्ती लोक-जीवन की सामान्य पहचान, टूटन और हताशा. उच्च जीवन को भी आक्रान्त कर रही है। बीसवीं शताब्दी के राजनीति केन्द्रित वैज्ञानिक बुद्धिवाद ने जिस विडम्बनापूर्ण, मूल्यभ्रष्ट भद्दे 'समाज' का निर्माण किया है उसकी सबसे बड़ी आत्मघाती विवशता यह है कि 'व्यक्ति' उसमें टूट जाता है तथा अनपेक्षित पीड़ा में तड़प-तड़प कर जीने के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवश होता है। ऐसे व्यक्तियों में जो बुद्धिजीवी बुद्धिवादी है और आधुनिक जीवन जीते हुए भी जो अभी परम्परा से, जड़ से और जीवन मूल्यों से शतप्रतिशत कट नहीं गया है, उस पर पड़ने वाली मार और भयंकर होती है। कथाकार रामदरश मिश्र का कथा-साहित्य वास्तव में एसे ही समाज और व्यक्तियों का जीवन्त दस्तावेज है। उन्होंने काट-काट कर पृथक्करण कहीं नहीं किया है तथापि चित्रों में गाँव और नगर का अन्तराल बराबर स्पष्ट होता चला है। ग्राम जीवन के उपजीव्य स्रोत संस्कृति और नगर जीवन के विधायक तत्व सभ्यता के टकराव से छटपटाता आहत होता आज का मरणोन्मुख, पुंसत्वहीन और बिखरा-टूटा आधुनिक जीवन उनकी कृतियों में पूरी प्रामाणिकता के साथ उभरता चला आया है। जिस आत्मीयता से उसमें गाँव के गरीब किसान-मजदूर उभरते हैं उसी अंतरंगता के साथ नगर के बुद्धिजीवी और इस प्रकार एक व्यापक समाज का जो विशाल चित्र उनके उपन्यासों में प्रस्तुत होता है वह बहुत प्रभावशाली होता है।

रामदरश मिश्र उन कथाकारों में से हैं जिन्होंने अपने कथा-साहित्य में मानवीय पीड़ा को व्यापक स्तर पर चित्रांकित किया है। 'बिना दरवाजे का मकान' इसी पीड़ा का दस्तावेज है जिसमें गरीबी, भूख विवशता, शोषण और नारकीयता की चुनौतियाँ भयानक खुलेपन के साथ सामने खड़ी मिलती है। इस उपन्यास को पढ़कर सम्भव है कथा रस के चाहकों को निराशा हो क्योंकि इसमें जिन्दगी का चटखारापन कहीं नहीं है, इसके विपरीत चिटकती हड्डियों की सनसनी पंक्ति-पंक्ति में विद्यमान है। कथाकार ने एक मजदूरिन के माध्यम से समाज के तथाकथित बड़े-बड़े सफेदपोश इज्जतदारों, उनकी बीवियों और मनसोख बेटियों को नंगा किया है। पूरी पुस्तक में कोख-पवित्रतावादी नैतिक दृष्टि का झंडा बुलन्दी पर फहराता दृष्टिगोचर होता है। कठिन से कठिन गरीबी की मार में भी यह दृष्टि आहत होकर झुकती नहीं है। उपन्यास की स्वस्थ प्रतिरोधमूलक बनावट इसे मूल्यवान बनाती है। वास्तव में प्रस्तुत कृति रचनात्मक स्तर पर समाज की आलोचना है इसीलिए इसका शिल्प हर उपन्यास से भिन्न है। मुख्य कहानी दीपा और बहादुर की है और इसी के समानान्तर पूरे समाज की भद्गी की कहानी चलती है। गरीबी के इस घिनौने यथार्थ के बीच लेखक गरीब नारी दीपा में नैतिकता के चित्र को एक आदर्श की स्थिति तक पहुँचा देता है। ठीक ऐसा ही एक पुरुष पात्र बसन्त है जो दीपा की ओर से समर्पित प्रणय-प्रस्ताव तथा संवेदनशील लिपटन की घटना घट जाने के बाद भी अपने को सम्भाल लेता है और वह तीसरा व्यक्ति नहीं बनता है। इस तरह ऐसा लगता है कि हम कोई उपन्यास नहीं पढ़ रहे हैं बल्कि एक प्रयोगवादी फिल्म देख रहे हैं। कहानी कब आत्मकथा शिल्प से छलांग लगाकर इतिहास शैली में प्रवेश कर जाती है, यह पता नहीं चलता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस लघु उपन्यास में दीपा की बनावट एक चरित्र की भांति निखार पाती है। उसका नारीत्व और पत्नीत्व गरीबी की असह्य विरोधी परिस्थितियों में विकास पाते हैं। दीपा में सारी दुनिया से लड़ने की शक्ति है। यदि वह कहीं पराजित होती है तो बहादुर की बातों से। बहादुर निरन्तर बीमार रहता है। उस बीमार निकम्मे पति की इस अति सुन्दर जवान पत्नी की मुसीबत यह है कि चारों ओर दुष्टता भरे घिनौने सेक्सी जाल लगे होते हैं। पाठकों को उम्मीद नहीं रहती है कि ऐसे रंग-बिरंगे जटिल जालों के चक्रव्यूह को भेद कर यह नारी निकल जायेगी किन्तु जब वह इस रूप में सामने आती है तो पाठक चकित हो जाता है। उसकी दुहरी भूख की तड़प हर संवेदनशील पाठक को तड़पा जाती है। मर्द की भूख और सन्तान की भूख की आग भीतर दबाये वह किसी परपुरुष की भूख का शिकार नहीं बन पाती है। वह बड़े कहे जाने वाले लोगों की कुटिलता भरी बातों का उत्तर देने में कभी दबती नहीं है। एक स्थान पर झूठी बनाये जाने पर वह कहती है "अगर हम झूठ बोलते हैं तो अपने पेट के लिए।" (पृ० २६) एक स्थान पर एक चौधुरानी जी, जिसके यहाँ वह काम करने जाती है, उसकी खिल्ली उड़ाती है कि गाँव में तुम नीच जातियों का सत बाजार का सौदा होता है तो दीपा चोट खाकर कहती है कि "तुम्हारी जाति की औरतें अगर बिकेंगी तो गरीबी की मार से बिकेंगी और आपके यहाँ की औरतें बिकती हैं तो खाली शौक करने के लिए। गरीबी से बिकना बेभिचार नहीं है बीबी जी! सौकिया मरद की गोद बदलते रहना बेभिचार है।" (पृ० १०६) इस तरह दीपा के चरित्र से टकराकर एक पुजारिन, एक इन्स्पेक्टर, एक सेठानी और एक चौधुरानी का चरित्र नंगा हो जाता है। उपन्यास के आरम्भ में लेखक ने जो दीपा की बस यात्रा का चित्रण किया है वह वास्तव में जीवन की यात्रा का आभास होता है। इसमें मिलने वाले आघात पर आघात, लोगों के भीतर जगा सन्त्रास और कुंठा का भाव, उभरी नपुंसकता, सामूहिक प्रतिरोध का अभाव सब कुछ अति एब्सर्ड, तमाम-तमाम प्रकार की मूल्यहीनताओं के बीच बचे हुए कुछ शेष मूल्य जैसे बुजुर्गों के प्रति आदर, कुछ बनते हुए नये मूल्य जैसे गुंडई-नंगई, नारी का अधिकार के लिए मर्दाना प्रतिरोध, और झूठ एक मजबूरी आदि के चित्र बहुत चटक हैं। इन समस्त चित्रों के बीच गंदे, बदबूदार, बिना दरवाजे के घर में बेरोक आये कुत्ते और बकरियों के साथ बीमार पति के साथ रहने वाली कामगर औरत दीपा का चरित्र सचमुच गरीबी के गहरे अंधेरे में झिलमिलाते दीप की तरह सृष्ट हुआ है।

'बिना दरवाजे का मकान' लघु उपन्यास की कोटि में आयेगा। इसकी पूरी बुनावट में दो पात्रों (पति-पत्नी) का ताना-बाना है और इस ताने-बाने में उभरे समाज के विविध चित्र हैं। सबका सूत्रधार दीपा है। वह ऐसी अभिशप्त नारी है जो ससुराल से प्रताड़ित और तिरस्कृत होकर सुखी जीवन का सपना सँजोये अपनें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पति के साथ गाँव से महानगर दिल्ली में आ गयी। किन्तु दैव दुर्विपाक से दीपा का पति रिक्शा चलाते समय दुर्घटनाग्रस्त हो गया और शारीरिक रूप से अकर्मण्य हो एक जगह पड़ा-पड़ा मरियल जिन्दगी जीने लगा। इसी के बाद जीवन-यापन और मर्यादा-रक्षा में खपती दीपा की संघर्ष-गाथा आरम्भ होती है। उसके इस संघर्ष और श्रमशील जीवन के इर्द-गिर्द स्वयमेव उच्च अभिजात वर्ग का पर्दाफाश होता चलता है उसमें स्पष्ट रूप से विदित होता है कि "कोई अपनी बहू को जलाकर मार रहा है, किसी की बेटी किसी के साथ भागती है, किसी की बेटी मरद छोड़ कर मायके में पड़ी है, किसी का मरद रस्सी में बाँधकर उसे मारता है, किसी का लड़का चोरी में पकड़ा जाता है और क्या-क्या नहीं होता ?" इस प्रकार परिवेश का दबाव एक ओर, आर्थिक विवशता का दबाव एक ओर, असामाजिक तत्त्वों का दबाव एक ओर और अपने मरद की नामर्दगी एक ओर, चारों ओर से चँपकर पिसती नारी से सजग सचेष्ट नारीत्व को ही प्रमुखता देकर कथाकार उसी को सघन सुदृढ़ रूप में चित्रांकित करता चलता है।

इस उपन्यास के शिल्प में फ्लैशबैक का जितना प्रयोग हुआ है, शायद ही हिन्दी के किसी उपन्यास में हो। ऐसा लगता है कि जिनके संसार में जगते में कुछ नहीं होता है उनके सोते में सपने पर सपने आते हैं और ये सपने अतीत के होते हैं तथा जिनका सृजन संवेदनशील लेखक फ्लशबैक प्रविधि में करता चलता है। अपने 'बिना दरवाजे का मकान' में सोयी बैठी दीपा जब भी किसी ऐसे सपने में डूबती है, लेखक उसके अन्तर में डुबकी लगाकर अपने उद्दिष्ट चित्रों को खींच लेता है। कथाकार रामदरश मिश्र से एक शिकायत हो सकती है कि इस तरह के अधिकांश चित्र, जो इस लघु उपन्यास में उभरे हैं, अधिकांश रूप में कुकरम केस के घिनौने चित्र हैं। सम्भवतः दीपा पर अधिक प्रकाश डालने के लिए इस गन्दे अन्धकार चित्रों को लेखक बार-बार सामने लाता है : पूरी कहानी में एक मनोवैज्ञानिक केस ऐसा भी है जो पाठकीय चित्त पर पूरी गम्भीरता के साथ सात्विक रोमांच बन कर छा जाता है। वह चित्र होता है देवी जागरी के समारोह में झंकृत होने वाला देवीकीर्तन का स्वर-चित्र और किसी के बेटे के रोने की आवाज। सन्तान की मर्मभेदी भूख का यह चित्र वास्तव में बेजोड़ है। कुल मिलाकर रामदरश मिश्र का यह लघु उपन्यास अपने मौलिक शिल्प में पीड़ा से कसमसाती नारी का जिन्दगीनामा बन गया है।

अपने नये उपन्यास 'दूसरा घर' में कथाकार रामदरश मिश्र ने आंचलिकता का एक मौलिक प्रयोग किया है। उन्होंने गुजरात प्रदेश के एक महानगर में समाये अपने सुपरिचित गोरखपुर अंचल को उसके जमीन की तमाम-तमाम पीड़ाओं के साथ, टूटते मूल्यों के बीच अवशिष्ट गीत, चैता-चौपाल, रामायन-गायन, कीर्तन, रस्मो-रिवाज, स्वागत-सत्कार की परम्पराओं के साथ, अंचल की कुछ विशिष्ट पहचान—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे असीम चिन्ताओं के बीच अल्हड़ मस्ती अथवा खास गोरखपुरी अक्खड़ता—के साथ शिल्प के भरपूर बिखराव के बीच अन्वेषित और रेखांकित किया है। इस अन्वेषण में कथाकार की विशेष सजगता और जागरूकता इस अर्थ में योजित होती है कि वह अपने से भिन्न प्रकार की सभ्यता—और संस्कृति वाले सुदूर प्रान्त के बीच वाली कथा-भूमि में एक गन्दे घिनौने और गरीब समाज वृत्य को इस रूप में उभारता है कि वह अपनी सम्पूर्णता में पृथक् से पहचान में आ जाता है। गोरखपुर अंचल के साथ ही साथ यह पहचान उत्तर भारत के लोगों की एक पहचान होती है। उनके सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं पर जो रचनात्मक फोकस कृति में पड़ता चलता है और उसमें जो चित्र उभरते हैं वे अपने आप में संवेदनीय तथ्य होने के साथ-साथ जीवन की कड़ुई टीका ओर तीखी समीक्षा भी होते हैं

उपन्यास उठाते ही पूर्वी उत्तर प्रदेश का गुजरात में प्रवासी स्कूल टीचर शंकर सामने आता है जिसके पास घर से एक चिट्ठी आयी हुई होती है। वह उस चिट्ठी को न खोलकर उसके भीतर के कुछ अंश का अनुमान कर फिंक जाता है। नमक चाट कर यहाँ ट्यूशन कमाने वालों और रुपया घर भेजने वालों में इसी से जुड़ी अपनी पारिवारिक समस्या भी मन में उभरती है। आन्तरिक ऊहापोह और आगे बढ़ता है तो यहाँ के यूनिवर्सिटी अध्यापकों के अधकचरेपन पर वह भीतर ही भीतर बहुत खिन्न होता है। इस प्रकार यह उपन्यास प्रमुख पात्र शंकर के अन्तरान्दोलन से आरम्भ होता है और वह उत्तरी भारत के प्रतिनिधि बुद्धिजीवी के रूप में उत्तरोत्तर निखार पाता जाता है।

समूचा उपन्यास मूल्यवादी टकराहटों से परिपूर्ण है। ऐसा लगता है कि समाज में सुखी वे ही लोग हैं जो मूल्यहीन हैं अथवा जिनके लिए किसी भी सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा मानवीय मूल्यों का कोई अर्थ नहीं है। ऐसे लोगों की लम्बी कतार में पारस भाई, गंगाराम शास्त्री, गोरखलाल पहलवान, रूपलाल, राजू कासिम, दिनेश वर्मा और चिरंतन जी आदि प्रमुख हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि लेखक इस गिरावट की भद्दगियों सहित अवमूल्यन के यथार्थ वाले नरक की परत-दर-परत उभारने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेता है। वास्तव में कथाकार रामदरश मिश्र ने प्रमुख पात्र शंकर सहित जिस संघर्षशील विद्रोही चौकड़ी की परिकल्पना की है वह आदि से अन्त तक मूल्यवादी टकराहटों में लहूलुहान चित्रांकित हुई है। इस प्रकार कृति में ध्वंस के दवावों में कहीं भी पराजय का स्वर नहीं हैं और न ही भ्रष्टाचार को चालू अर्थ में शिष्टाचार मानकर रोते-गाते मात्र प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति है। कथाकार पग-पग पर उससे लड़ता है और इस प्रकार उसकी समूची दृष्टि रचनात्मक होती है। इस दृष्टि में यदि किसी को पुराने आदर्शवाद की किंचित् गन्ध मिलने लगे तो लेखक इसके लिए क्या कर सकता है? यथार्थ के नाम पर मात्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मान लेना कथाकार रामदरश मिश्र को पसन्द नहीं है। इस उपन्यास में रहमान का पूरा प्रसंग इस बात का प्रमाण है। एक मुसलमान बहन मानकर अपहृत शोभा को अत्यन्त पवित्रता के साथ वापस कर जाता है। शोभा के विवाह में आगे चलकर हिन्दू पवित्रतावाद जब आड़े आने लगता है तो इस समय रहमान एक वक्तव्य देता है जिसका एक-एक शब्द कथाकार की समाज-सापेक्ष रचनात्मक दृष्टि का प्रमाण होता है। कुछ ऐसी ही स्थिति वहाँ भी होती है जहाँ शंकर पढ़े-लिखे पितापेक्षी दुलहे को फटकारता है। रचनात्मक विरोध का स्वरूप विनोद की कहानी में भी निखरता है। साथ ही साथ इसकी कहानी अपने आप में साम्प्रदायिक सद्भाव का एक मार्मिक उदाहरण है। विनोद और रहमान के साथ कमलेश को भी इसी संघर्षशील लोगों की कतार में पाते हैं। शंकर इन लोगों का केन्द्रीय व्यक्ति है।

इस प्रकार इस उपन्यास में शंकर, विनोद, कमलेश और रहमान की ऐसी अलमस्त चौकड़ी दृष्टिगोचर होती है जो किसी भी अति से अत्यन्त बेलौस हो टकराती चलती है। ये लोग ठहाकों में जीते हुए अत्याचार अन्याय और भ्रष्टाचार की घेरे-बन्दियों को तोड़ने में ही अपने जीवन का अर्थ खोजते दृष्टिगोचर होते हैं। यह पूरी चौकड़ी पूर्वी उत्तर प्रदेश की है और गुजरात में पढ़ने-पढ़ाने का काम करती है। इनके पास अपने स्वाभिमान की बहुत गम्भीर पहचान है जिसके चलते वे किसी भी भ्रष्टाचार के विरोध में अपनी आवाज बुलन्द करते हैं। ज़माने साज़ विद्यालय प्रबन्धक शास्त्री जी, शालीन बुद्धिजीवी गौतम जी और अर्थपिशाच पारस भाई से लेकर चाय वाले पण्डित जी आदि से इनकी जो टकराहटें हुईं वे काफी विचारोत्तेजक हैं। ऐसा लगता है कि कथाकार स्वाभिमान बनाम संकुचित सुविधावादिता के संघर्ष का एक ज़िन्दा माहौल पैदा करना चहता है। चाय वाले पण्डित जी की कहानी इसका प्रमाण है। स्वाभिमान के चक्कर में जब वे जेल की सजा काटकर बाहर निकलते हैं तो कहते हैं, 'प्रदेश में स्वाभिमान किस काम का? यहाँ चार पैसा कमाकर पेट पालना जरूरी है। कौन है यहाँ जो मेरे स्वाभिमान के साथ जायेगा?' (पृष्ठ ३३१)

इस हीनत्व के दर्शन के पीछे आजीविका के दबाव की स्थितियाँ हैं। ऐसा लगता है कि पैसे ने समाज को हतदर्प कर दिया है। आदमी ने प्रत्येक प्रकार के मूल्यों से अपने को काटकर तथा अन्याय और अत्याचार से समझौता करके अपने चारों ओर सुविधाओं का एक संकुचित घेरा बना लिया है तथा इस घेरे में पैसे के लिए अपमान का घूट पीकर वह आज मात्र अपने लिए अथवा अपने परिवार के विद्रूप अथवा कुरूप को प्रस्तुत करते चलना और उसी को अपनी अनिवार्य नियति लिए जीने लगा है। बेकारी, बेरोजगारी और मँहगाई दिनों-दिन इस घेरे को और सुदृढ़ बनाती जा रही है और यह घेरा मात्र घेरा न रहकर एक गलत जीवन-मूल्य के रूप में विकसित होता चला जा रहा है। इस गलत मूल्य से संघर्ष करने के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसी चरित्रवान और संकल्पनिष्ठ युवा शक्ति की आवश्यकता है वह आज के समाज में दुर्लभ प्रतीत हो रही है और इस प्रकार मूल्यहीनताओं का डंका बजता चल रहा है। इन स्थितियों में ऐसे स्वस्थ सृजन का मूल्य बढ़ जाता है जिसमें उक्त अवांछित घेरे को तोड़ने की साहसिकता चित्रांकित हुई है। निश्चित रूप से शंकर, विनोद, कमलेश और रहमान को खुदायी खिदमतगारों की भांति कदम-कदम पर मूल्यों के लिए संघर्ष कर रहे हैं तथा इस संघर्ष के इर्द-गिर्द जिन्दगियों की जो भद्दगियाँ परत-दर-परत उभरती चली जाती हैं तथा समाज के एक विशेष प्रवासी गरीब समाज के क्षयग्रस्त जीवन का स्वरूप उभरता चलता है वह उपन्यासकार के कथाशिल्प एवं उसकी रचनात्मक दृष्टि की सार्थकता का प्रमाण है।

मनुष्य के सामाजिक जीवन का सबसे दयनीय पहलू वह होता है जिसमें वह भद्दगियों के जाल से छुटकारा पाने के लिए जैसे-जैसे छटपटाता है वैसे-वैसे और भी अधिक उस जाल में फँसता चला जाता है। प्रस्तुत उपन्यास में उत्तर प्रदेश के प्रवासियों की कुछ ऐसी ही अवश स्थिति चित्रांकित हुई है। एक भिखमंगे का बेटा कमलेश जो एम० ए० पास कर काम-काज की खोज में गुजरात के एक महानगर में धँसा है वह यहाँ के परिवेश के प्रामाणिक साक्षी के रूप में प्रस्तुत हुआ है। इस उपन्यास का पाठक भी पग-पग पर उसके साक्ष्य से टकराता चलता है। इस साक्ष्य में गरीबी, घुटन, खाँसी, चिन्ता, तपेदिक, बदबू, मच्छर, अंडस, खलल, कठिनाई, धुंआ, सीलन, धौंस और अन्धकार जैसी चीजें हैं। कुल मिलाकर पीड़ा का एक जबरदस्त संसार है। कथाकार रामदरश मिश्र की प्रत्येक कहानी में और उनके हर उपन्यास में जिस प्रकार यह बाहर-भीतर की व्यापक मानवीय पीड़ा केन्द्रीय विषय है उसी प्रकार इस उपन्यास में भी वह विराजमान है। एक स्थान पर कमलेश से शंकर कहता है, 'दार्शनिकों ने बार-बार अपने भीतर देखने की बात कही है। मुझे तो लगता है कि अपने से बाहर देखने से अपना दर्द कम होता है और दर्द को देखना ही अपने को देखना है।' (पृष्ठ २०३) इस कथन से स्पष्ट है कि यहाँ जुझारू युवकों में व्यापक सामाजिक पीड़ा से अपने को जोड़कर तथा उसके विरुद्ध संघर्ष कर आत्महीनता से मुक्ति की प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है।

प्रस्तुत उपन्यास में साम्प्रदायिक विद्वेष की समस्या जैसे रहमान के सन्दर्भ में स्वतः स्फूर्त रूप में उभरती चली गयी है, उसी प्रकार शिक्षा की समस्या डॉ० गौतम के सन्दर्भ में तथा उनके जीवन-भोग के रूप में चित्रांकित होती चलती है। शिक्षा जगत का कोढ़ तो सर्वत्र समान है परन्तु उसमें प्रान्तीयता का खाज मिलकर जो दयनीय स्थिति बनती है उसका अपूर्व—अद्वितीय चित्रण प्रस्तुत उपन्यास में हुआ है। कहीं पर दो पहलवानों के पाट में शिक्षा पिस रही है तो वहीं कोई डॉ० गौतम जैसा सभ्य गांधीवादी व्यक्ति प्रान्तीयता की राजनीति के कारण कालेज से निकाला जाता है। प्रस्तुत उपन्यास की जुझारू चौकड़ी पढ़ने-पढ़ाने के सन्दर्भ में इसी शिक्षा क्षेत्र से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जुड़ी हुई है। इसलिए इनकी लड़ाइयाँ तथा इनके प्रतिरोध वर्तमान अवमूल्यन के दौर में निस्तेज युवा पीढ़ी के सामने एक प्रभावशाली प्रेरणा के रूप में प्रस्तुत होती है। कहीं पर एक शब्द भी स्पष्ट रूप से कोई उपदेश या प्रेरणा जैसी चीज प्रस्तुत न करते हुए भी घटनाओं के माध्यम से निष्कर्ष रूप में जीवन की नयी सार्थकता-सम्बन्धी जो विश्लेषण और बोध अथवा दिशा-निर्देश निष्पन्न होते हैं। वे वर्तमान रुग्ण और धुन्धग्रस्त समाज के लिए बहुत ही उपयोगी हैं।

आरम्भ में इस उपन्यास में निहित आंचलिकता के सन्दर्भ में जो चर्चा की गयी है, उसके कुछ विशेष आयामों को संक्षिप्त रूप में अन्त में रेखांकित करना आवश्यक प्रतीत होता है। आंचलिकता के प्रयोग का यह एक सर्वथा मौलिक आयाम है कि गुजरात प्रान्त के एक महानगर में कथाकार ने अपने पूर्वी उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जनपद की ग्रामांचल की स्पष्ट पहचान को प्रस्तुत किया है। इस पहचान में पारस भाई जैसे टिपिकल मक्खीचूस कैरेक्टर को हम शीर्ष स्थान पर रखना चाहेंगे। चन्दा और अशरफी की लड़ाई में जिस प्रकार भोजपुरी शब्दों, मुहावरों और संकेतों आदि का प्रयोग होता है वह आंचलिकता के तत्व से परिपूर्ण होता है। चाली के जीवन में जैसी गन्दगी और काँव-किच है उससे ऊबा उपन्यास का प्रमुख पात्र शंकर अपने क्षेत्रीय अथवा आंचलिकता राग को अपने क्षेत्र के रिक्शाचालकों, माली, धोबी, नाई और नौकरों में जो खोजता है, वह भी ध्यानाकर्षक होता है। शीला का जो बूढ़े वर के साथ विवाह वाला सन्दर्भ है वह पूरा-का-पूरा आंचलिक तत्वों से भरा है। भोजपुरी गीत की कड़ियाँ जो उपन्यास में बिखरी हुई हैं वे तो अंचल विशेष की गमक छोड़ती ही हैं, कुछ विशेष घटनाएं भी इस रस-गन्ध को पुष्ट करती हैं। जैसे शंकर आदि के सामने खड़ी संयुक्त परिवार की समस्यायें, घर से आयी हुई चिट्ठियों का संदर्भ जिसमें रुपयों की मांग के अतिरिक्त बीमारी, गरीबी, मौत और मुकदमें की चर्चा होती है। शंकर, विनोद आदि पारस भाई को जब मुसलमान के हाथ की छुई चाय पीने के प्रसंग छेड़कर अथवा अशरफी चन्दा का समाचार बताकर अथवा नाई, धोबी जैसे लोगों से चंदा लेकर घर पर मनीआर्डर भेजने का प्रसंग उठाते हैं तो इसमें एक खास प्रकार का आंचलिक स्वाद होता है। इस आंचलिकता के आग्रह पर ही सम्भवतः पृ० २८३ में गुजरात प्रान्त और पूर्वी उत्तर प्रदेश का एक तुलनात्मक रूप प्रस्तुत किया गया है। अपनी आंचलिक इकाई की सघनता को सुरक्षित रखने के लिए ही कथाकार ने वृहत्तर गुजराती समाज से काट कर अपने इस समाज को उपस्थित किया है। लेखक कहीं पर गुजराती समाज अथवा उसकी संस्कृति के चित्र में नहीं उलझता है। गर्वा-नृत्य जैसे मौके आये हैं मगर कथाकार बगल से बरक कर अपनी कहानी को निकाल ले जाता है। ऐसा लगता है कि दूसरों की रंगीनियाँ नहीं, उसकी कलम की नोक पर अपने समाज की भद्दगियाँ पनपनाती रहती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतने पर भी ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि इन भद्दगियों का चित्रण ही कथाकार का लक्ष्य है अथवा उसने इन भद्दगियों को ही आज का जीवन-सत्य मान लिया है। वास्तव में कथाकार का उद्देश्य उन स्वार्थ-सनी शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान है जिनके चलते तमाम-तमाम प्रकार की भद्दगियाँ आज जीवन-मूल्य बनी हुई हैं। व्यापक कटुता, कड़ुवाहट, विद्रोह, और आक्रोश-दबाव इस आह्वान के पीछे महसूस होता है। किन्तु उससे उपन्यास में कहीं भी ऊब नहीं पैदा होती है। वास्तव में हलका-फुलकापन इस उपन्यास की अपनी एक पहचान है। इसके साथ ही नाटकीयता-पूर्ण दृश्य-परिदृश्यात्मक शिल्प जो पूरे उपन्यास में बिखरा है वह भी इसे सहज आकर्षण से परिपूर्ण करता है। घटनाओं, चित्रों, पात्रों और कहानियों में कोई केन्द्रीयता नहीं है किन्तु शिल्प की एक विशेषता अवश्य आकर्षित करती है कि अलग-अलग वृत्तों में चलने वाली कहानियां कहीं-न-कहीं से उस विद्रोही चौकड़ी को छूती हैं। इस प्रकार इस उपन्यास में शंकर, विनोद आदि की चौकड़ी ही पक्ष की इकाई बन जाती है, जिसके सामने अन्याय, अत्याचार और शोषण भरे एक समाज का प्रतिपक्ष होता है तथा उस प्रतिपक्ष से वे अनवरत संघर्ष करते चलते हैं। संघर्ष और प्रतिरोध के नये आयामों को नये स्तर पर प्रस्तुत करने वाला यह उपन्यास कथाकार के सभी उपन्यासों से अधिक जुझारू हो गया है।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उमड़ते कथा-प्रवाह के बीच

डॉ० रामदेव शुक्ल

आजाद हिन्दुस्तान के कथाकार कथानक की तलाश करते हुए न जाने कहाँ-कहाँ भटकते रहे, देश-विदेश में, नदी-पहाड़ों पर, होटल-डाक-बंगलों में और महानगरों से झुग्गी-झोंपड़ियों तक; और वह था कि पहाड़ में आ-आकर छूटता रहा। जो पकड़ में आया उसमें से बहुत-कुछ ऐसा था जो फ्रायड-मार्क्स या सात्र-कामू की जूठन के रूप में पहचान लिया गया। प्रेमचन्द, निराला, नागार्जुन, रेणु की औपन्यासिक कृतियों की तरह अपनी धरती की कथा से जुड़ी कृतियों की संख्या बहुत नहीं है तो इसका कारण कथानक की तलाश में भटकते उपन्यासकारों की भटकन में खोजा जा सकता है।

किन्तु रामदरश मिश्र यह कहते हैं कि मेरे लिए कथानक की तलाश की समस्या नहीं है, समस्या है उमड़ते कथानक और कथा-पात्रों में से कुछ को रचनात्मक स्वरूप दे पाने की। अब तक प्रकाशित अनेक कहानियों और नौ उपन्यासों में अपने भीतर उमड़ रहे कथानक का बहुत थोड़ा हिस्सा रचना में उतार पाने वाले रामदरश मिश्र अभी बहुत कुछ लिखेंगे और अन्त तक यह अनुभव करते रहेंगे कि वह सब कुछ रचा नहीं जा सका जो भीतर उमड़ रहा है।

इस अक्षय समृद्धि का कारण क्या है ? प्रेमचन्द से किसी ने पूछा था कि आपको कथानक कहां मिलता है ? उन्होंने उत्तर दिया था कि कथानक हमारे आस-पास प्रतिपल घटित होता रहता है, उसे आँख खोलकर देखने और रचना में उतार लेने की आवश्यकता होती है। मिश्र जी की समृद्धि उसी कोटि की है। एक ओर बात इसमें यह है कि बचपन के अभाव, संघर्ष, मस्ती और प्रकृति से एकाएक जीवन ने उन्हें इतना भर दिया है कि आगे की भौतिक समृद्धि और हृदय के रीतेपन के बढ़ने के बावजूद, तीन-चार दशकों के महानगरीय जीवनानुभव के बावजूद, उनका रंग बदल नहीं पाया, न उसकी सम्पदा कुछ कम हो सकी। रामदरश मिश्र की इस अक्षय समृद्धि का बड़ा कारण उनका वह परिवेश है, जिससे गहराई से जुड़े बिना हिन्दुस्तान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का मिजाज किसी की पकड़ में नहीं आता। राजनीति का संकट यह है कि ग्रामीण जीवन के साथ देश के भाग्य विधाताओं के गहरे आत्मीय परिचय के अभाव में सारा राष्ट्रीय नियोजन निष्फल होता दिखायी पड़ता है। मानवीय जीवन को बेहतर बनाने की आकांक्षा से प्रेरित साहित्य की इस देश में पहली शर्त यह है कि वह सीधे ग्रामीण जीवन के दुख-दर्द से जुड़ा हुआ हो। यह जुड़ाव बाहरी प्रयत्न से नहीं आता है। जो महानगरीय कथाकार कथानक ढूंढ़ने के लिए गाँवों का दौरा करते हैं, उनके लिए कभी गाँव उस रूप में नहीं खुलेगा, जिस रूप में वह रामदरश मिश्र और विवेकीराय के सामने खुलता है या खुला हुआ है या उन्हीं के भीतर खुला हुआ है।

रामदरश मिश्र के अब तक नौ उपन्यास प्रकाशित हैं—पानी के प्राचीर, जल टूटता हुआ, बीच का समय, सूखता हुआ तालाब, अपने लोग, रात का सफर, आकाश की छत, बिना दरवाजे का मकान और दूसरा घर। पहला उपन्यास १९६९ में प्रकाशित हुआ और नौवां १९८६ में। मिश्र जी के उपन्यासों में सैकड़ों पात्र हैं, घटनाएँ हैं, स्थितियाँ हैं, मन की भी—बाहर की भी। कथा-विलासी जिस तरह कथा-रस उपजाने वाले नायक-नायिकाओं की सृष्टि करते हैं, वह काम इनके किसी उपन्यास में नहीं है। इनके उपन्यासों में घटनाक्रम को प्रवाहित करने वाले पात्र हैं, केन्द्रीय चरित्र भी हैं, किन्तु नायक-नायिका उस रूप में नहीं हैं, जिस रूप में उपन्यासों में वे पाये जाते हैं। इस दृष्टि से देखा जाय तो मिश्र जी के उपन्यासों में कथा-रस का अभाव होना चाहिए। यह विलक्षण बात है कि कथा-रस और पठनीयता का गुण इनके उपन्यासों में कहीं भी क्षतिग्रस्त नहीं होता। औपन्यासिक शिल्प के प्रचलित लटकों का प्रयोग मिश्र जी नहीं करते, फिर भी औपन्यासिकता का निवाह कर ले जाना, एक सधे हुए कथाकार का ही कार्य हो सकता है। इसका कारण लोक वाङ्मय का वह अक्षय कथा-रस है, जिसे किसी रचनात्मक कौशल की अपेक्षा नहीं होती। लोक कथाकार जब दिन भर के हाड़ तोड़ श्रम के बाद मोटा अनाज खाकर अलाव के पास बैठता है या गरमी में पेड़ के नीचे हवा की भुरभुरी में कुछ ताजगी पाने की आशा करता है तो कहानी कहना उसके लिए किसी कलाकार की जरूरत नहीं होती, उसी विश्राम की शर्त होती है जो उसे अगले दिन के लिए तैयार करने वाला है। कथा कहने की ओर उन्मुख होकर वह सीधा सवाल करता है—'आप बीती कहूं कि जग बीती?' किस्से के तोता मैना भी जब पेड़ की डाल पर रात बिताने की गरज से बैठते हैं तो कथारम्भ यहीं से होता है—'आप बीती कहूं कि जग बीती?' उसके बाद जो कथा-प्रवाह आरम्भ होता है उसमें अनादि अनन्त काल के राजा रानी होते हैं, जिनके माध्यम से एक ही राग में आप बीती और जग बीती सुनाता हुआ वह स्वयं अनुप्राणित होता है और श्रोता को भी अनुप्राणित करता है। इसीलिए उस अक्षय कथा-रस में आकण्ठ मग्न उपन्यासकार अलग से नायक-नायिका नहीं रचता और फिर भी कथा कह लेता है तो कोई अचरज नहीं। जीवन जिन तत्त्वों में रूपायित होता है वे लोक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाङ्मय में पात्रों के रूप में ही अवतरित होते हैं। मिट्टी-पानी, धूप, हवा, वनस्पतियां वहां बोलते-बतियाते मिलते हैं। वहीं से रचना की संजीवनी पाने वाले कथाकार रामदरश मिश्र के उपन्यासों में सबसे व्यापक ये ही तत्व हैं। पानी—जिसे जीवन कहा जाता है—मिश्रजी के उपन्यास का सबसे व्यापक गतिशील और जीवन्त पात्र हैं। पात्र का अर्थ केवल चरित्र न लेकर 'आधार' (सब कुछ को धारण करने वाला) लें, तो मेरी बात ज्यादा साफ होगी। पहला उपन्यास है—'पानी के प्राचीर' जिसमें आजादी के लिए संघर्ष करती हुई पीढ़ी की धड़कन मूर्त्त है। राप्ती और गोर्रा नदियों के बीच घिरा हुआ इलाका परिदृश्य के रूप में उपस्थित है। वहाँ तक किसी भी ओर से तभी पहुचा जा सकता है, जब पानी की प्राचीर को लाँघने की शक्ति हो। वहाँ से निकलकर जाने के लिए भी उसी शक्ति की अनिवार्यता है। इस उपन्यास में जिजीविषा और आजादी की अदम्य आकांक्षा का तेजस्वी रूप जड़ता से, दरिद्रता से, बाढ़ से और गुलामी से घिरा हुआ होकर भी आजादी के सपने की डोर पकड़ कर निरन्तर आगे बढ़ता हुआ दीखता है। पानी के प्राचीर हैं कि टूटना नहीं चाहते, बार-बार घिर आते हैं। नीरू थोड़ा सत्तू और दो सेर आटा बाँध कर घर से निकल पड़ा था। १९४२ का आन्दोलन होता है. स्वराज्य का सपना साकार होता। विश्वास हो जाता है कि ये दीवारें टूटेंगी। नीरू भाषण देता है—"गाँव के चारों ओर पानी की ये दीवारें जो आप देख रहे हैं, इन्हें गुलामी ने और बलवान बना दिया है—ये हमारी फसलें लूट लेती हैं—आज हमें आजादी मिली है। अब ये पानी की दीवारें टूटेंगी—खेतों में नये सपने खिलेंगे। कोई बच्चा पैसे के अभाव में पढ़ाई छोड़कर दर-दर नौकरी के लिए नहीं भटकेगा।" (पानी के प्राचार, प्र० सं० ३९३) यह कथन उस नीरू का है, जिसका सब कुछ छिन गया है, यहाँ तक कि बचपन की प्रेमिका भी, किन्तु आजादी का जादू सारे दुखों को भुला देने वाला है।

आजादी आ गयी और पानी के प्राचीर टूट गये, इसे मिश्र जी के दूसरे उपन्यास 'जल टूटता हुआ' में देखा जा सकता है। यहाँ 'जल' के अर्थ का विस्तार हुआ है गुलामी की दमघोंट स्थिति खत्म हुई तो अब साफ हवा में खुलकर साँस लेने का अवसर मिलेगा। वहीं यह उपन्यास संकेत करता है कि यह जो टूट रहा है वह जल तो है किन्तु 'वह' जल है जो अपनी भयंकरता में आजादी के सारे सपनों को, सुखों को सबकुछ को बहा ले जा रहा है। जो मगरमच्छ हैं वे ही इस जल में सुखी हैं। आजादी के लिए संघर्ष करने वाले नीरू और उस जैसे करोड़ों को लील जाने वाले ये मगरमच्छ जनतन्त्र, समाजवाद और लोकतन्त्र का नारा देकर वोट की लूट में उन सारे मूल्यों और विश्वासों को अदृश्य करते जा रहे हैं, जिनके सहारे साधारण व्यक्ति अपनी गरीबी भूलकर संघर्ष में उतरता है। गाँव का तरल जल सम्बन्धों को अभिसिंचित करने वाला जल—जो व्यक्ति, परिवार, रिश्तेदार, गाँव जवार और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूरे देश तक फैलता था, घड़ियालों द्वारा सोख लिया गया। आजादी मिलने के बाद पन्द्रह बरस बीतते न बीतते भारत के गाँव अपना सब कुछ गँवा बैठे। उनकी आकांक्षाएं आत्मघाती हो गयीं, शहरी हो गयी। सतीश की कोशिशों के बावजूद गाँव का टूट कर बिखर जाना—'जल टूटता हुआ' का अर्थ पाठक तक इस रूप में सम्प्रेषित कर देता है कि गाव टूट रहा है, उसकी रक्षा कैसे की जाय? आजादी के बाद का जो व्यापक मोहभंग साहित्य की सभी विधाओं में मुख्य स्वर बनकर उभरा वह 'जल टूटता हुआ' में अनेक भंगिमाओं में संकेतित है।

वही जल रामदरश जी के तीसरे उपन्यास 'सूखता हुआ तालाव' में एक नई अर्थ-छाया लेकर आता है। पाठक अनुभव करता है कि गांव के तालाब का जल अर्थात् जीवन का स्रोत शहर और राजधानी की राजनीति की सड़ी गर्मी से सूखकर सिर्फ कीचड़ रह गया है। जो ग्रामीण भागकर शहर पहुंच पाता है वह स्पष्ट रूप से कहता है कि गाँव अब रहने लायक स्थान नहीं रह गये। वे लोग विशेषतः बूढ़े लोग जो गांव छोड़ पाने की स्थिति में नहीं हैं, वे न वहाँ रह पा रहे है, न उसे छोड़कर कहीं जा पा रहे हैं। तालाब पहले गाँव की अकुण्ठ वर्जनायुक्त सहज रागात्मक जीवन-चेतना का, पर्व-त्यौहार के माध्यम से सम्पूर्ण सामूहिकता का प्रतीक था, वह अब सिकुड़ रहा है. सूख रहा है और सडांध का पर्याय बनता जा रहा है। सामूहिक सद्भाव का लहराता, बुलाता, गुनगुनाता जल अब व्यक्तिगत स्वार्थ के छोटे-छोटे गड्ढों में सिमट कर सड़ रहा है। उसमें अमानवीय आकांक्षाओं के कीड़े कुलबुला रहे हैं। जो व्यक्ति गांव छोड़कर नहीं जाता, वह उदास आँखों से देख रहा है—पानी सूखता जा रहा था और कीचड़ की सड़ांध सी आ रही थी—अब आकर उन्होंने देखा कि—एकाध आदमी तालाब के सूखते हुए जल में नहाने की क्रिया सम्पन्न कर रहे हैं। नहाने की क्रिया सम्पन्न कर रहे हैं अर्थात् नहाने का सुख उठाने का सवाल ही नहीं, नहाने के नाम पर बदबूदार कीचड़ में सनकर नहाने का छलावा कर रहे हैं—जिन्दगी के नाम पर आवे हयात नहीं, जहर पीकर प्यास बुझाना चाह रहे हैं।"

सामाजिक यथार्थ पर मिश्र जी की पकड़ 'सूखता हुआ तालाब' में मजबूत हुई है। किन्तु उसकी एक और प्राकृतिक छाया मिश्र जी के चौथे उपन्यास "आकाश की छत" में दिखती है। जिसमें दिल्ली की बाढ़ में घिरे एक व्यक्ति यश के कोण से पूरी कथा कही गयी है। उपन्यास का कथानक संक्षिप्त है, लेकिन पहले तीनों उपन्यासों का वर्ण्य-क्षेत्र इसमें पूरी तरह विद्यमान है। यश उसी अंचल का रहने वाला है जो पानी के प्राचीरों से घिरा है, जिसका जल टूटता है और सूखकर सड़ांध पैदा करता है। उस प्राचीर को लांघकर यश दिल्ली में नौकरी करता है। अब जमुना की बाढ़ में घिरा अपने ही घर में कैद हो गया है। गोरखपुर के कछार अंचल का युवक यश दिल्ली की एक समृद्ध कालोनी के मकान में बाढ़ से घिरकर तीन दिन तक बिना कुछ खाये-पिये, बोले-बतियाते, बुखार में तपता हुआ नीचे नावों और ऊपर हेलीकाप्टरों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को देख रहा है। गाँव में बाढ़ आती थी तो विपत्ति में सब एक अलग तरह की शक्ति से जूझते थे। यहाँ बाढ़ आई है तो नेताओं के मनोरंजन का साधन बन गई है। 'छपाक्' की ध्वनि के साथ बार-बार अतीत और वर्तमान कछार की बाढ़ और दिल्ली की बाढ़ से जुड़ता हुआ यश एक और मृत्यु का साक्षात्कार करता है तो दूसरी ओर राजधानी दिल्ली के बेपानी लोगों के चेहरों की असलियत देखता है। जल का प्रतीक 'जीवन' और जीवन को लील लेने वाला भयंकर प्रलयंकारी जल इस उपन्यास में सघन बिम्बों के रूप में अनेक बार प्रकट होता है। एक चित्र है "धीरे-धीरे एक अंधकार पानी के ऊपर गहराता गया। उसने ताल की ओर देखा। जैसे हिलता हुआ शोर करता हुआ, मोटा अन्धेरा दिगन्तों तक फैला हो। इस अंधेरे ने कितना कुछते निगल लिया है अपने पेट में। सब कुछ को निगलते हुए पानी और पानी को निगल हुए अन्धेरा—अजगर के पेट में अजगर;" (आकाश की छत)

'अपने लोग' मिश्र जी का एक दूसरी तरह का उपन्यास है। जल यहाँ बार-बार ऊपर से बरसता हैं। बिजली कड़कने और वर्षा की तेज झड़ी के अनेक चित्र 'अपने लोग' में हैं। उपन्यास के अन्तिम दृश्य में राप्ती नदी के कथानायक प्रमोद का सीधा एकालाप है—"तुम्हारा कितना जल हमारे भीतर है मां ! तुम्हीं ने हमारे बचपन को गढ़ा है, तुम्हीं ने हमें सपने दिए हैं और तुम्हीं ने अपने फन फुफकार-फुफकार कर हमें अपने गुँजलक में लपेटा है और हमें लड़ने की अपार ताकत दी है। तुम्हारा प्यार और मार सबके लिए बराबर रहा है माँ ! ++ वर्षों दूर रहकर भी मैं अनुभव करता रहा हूँ कि तुम्हीं मुझमें जी रही हो। माना कि तुम्हारा समाजवाद अधूरा है किन्तु समतामूलक तो है। क्या तुम्हारे समाजवाद से हम कुछ भी सीख नहीं सकते ? कुछ भी नहीं···।" (पृ० ४४१)

यहाँ नदी पूरी परम्परा, पूरी विरासत और जीवनी-शक्ति बनकर आई है, तोड़ती, हुई और टूटने से बचने की अपार शक्ति देती हुई।

'अपने लोग' के साथ कई बातें हैं जो मिश्र जी के दूसरे उपन्यासों से इसे अलग करती हैं। इसमें यथार्थ की पकड़ अधिक वस्तुनिष्ठ हुई है। अपने भीतर जी रहे परिवेश से लगभग चार दशकों की दूरी उस परिवेश को दूर से देखकर उसका तटस्थ मूल्यांकन करने का अवसर देती हैं। वैसे कथा-योजना ऐसी है कि असावधान पाठक उसमें आत्मनिष्ठा देख सकता है।

'अपने लोग' रामदरश जी की ऐसी कृति है जो बहुत हद तक उनकी निजी जिन्दगी और परिवेश के इर्द-गिर्द घूमती रहती है। उपन्यास के नायक प्रमोद का "गोरखपुर मे पन्द्रह-वीस मील दूर एक देहात में अपना गाँव है।" उसके पिता के पास बीस-पच्चीस एकड़ खेत है। "माँ की मृत्यु हो चुकी है। प्रमोद दिल्ली विश्व-विद्यालय के कालेज में सीनियर अध्यापक है। पिता की इच्छा है कि प्रमोद गाँव (या गाँव के आस-पास) आकर खेती-बारी सम्हाल ले अन्यथा उसके पट्टीदार उसके मरने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बाद सब कुछ हड़प लेंगे। गोरखपुर के शंकर कालेज में जगह निकलती है और वह दिल्ली की नौकरी छोड़कर पिता की इच्छापूर्ति के लिए गोरखपुर आ जाता है। दो पुत्रों, पुत्री, विभा और पत्नी संज्ञा किसी को उसका गोरखपुर आना पसन्द नहीं है। कभी-कभी उसे लगता है कि यहाँ आकर उसने गलती की। प्रमोद की बेटी विभा प्रमोद के एक मन की बात कहती है—"पापा, क्या हम फिर दिल्ली नहीं लौट सकते। मुझे यह शहर अच्छा नहीं लगता। गाँव से लेकर यहाँ तक के लोग मुझे अच्छे नहीं लगते। प्लीज लौट चलिए न पापा। मुझे लगता है कि आपको भी यहाँ अच्छा नहीं लगता, दिन रात आप भी पीड़ित मालूम पड़ते हैं।" (पृष्ठ ४३१)

इसके विरुद्ध प्रमोद के अनुभव में जो कुछ आता है, वह सब भयंकर और असह्य है। चाहे गोरखपुर के बुद्धिजीवी हों राजनीतिज्ञ हों, अध्यापक और छात्र हों, व्यापारी हों, वकील-मुवक्किल हों, डाक्टर हों या चाहे देहात के और रिश्तेदारी के लोग हों। प्रमोद और उसका परिवार दिल्ली में बहुत दिन रह चुकने के कारण, इनमें से किसी को पसन्द नहीं करता, एक आइडिया के रूप में पवन की उपर्युक्त बातें हैं जो अपने लोगों के प्रति प्यार और ममत्व को सिद्धान्ततः करणीय मानती हैं।

प्रमोद के रूप में उपन्यासकार ने पूर्वी उत्तर प्रदेश के एक ऐसे अध्यापक, लेखक, बुद्धिजीवी और प्रगतिशील विचारक की रचना की है जो अपने पूर्वी संस्कारों में जकड़ा हुआ होकर भी बहुत दिनों तक दिल्ली में रहने के कारण पूरब के लोगों की हर बात से चिढ़ने लगा है। वह मार्क्सवाद का प्रशंसक है, स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों का समर्थक है, जनता के दुख-दर्द से पीड़ित है। अन्याय, अत्याचार, शोषण और राजनीतिक धोखाधड़ी से पिसती गाँव की जनता के प्रति उसके मन में अपार सहानुभूति है किन्तु वह अपनी अध्यापकों के दायरे से बाहर निकलकर उनके बीच जाकर उनके लिए कुछ कर सकने की स्थिति में अपने को कभी नहीं पाता। अपनी इस आकांक्षा की पूर्ति वह बेटे पवन में देखता है और तृप्ति का अनुभव करता है। यह प्रमोद गोरखपुर आया क्यों। पिता के नाम के खेतों का उत्तराधिकार सम्हालने के लिए? पिता की मृत्यु के बाद पट्टीदार खेत न ले लें, इसलिए? उसके चचेरे भाई मक्कार हैं। रमेश खेती सम्हालता है। वह रुपये रखकर भी प्रमोद से मांगता है। अन्त में प्रमोद अपनी सहनशीलता के घेरे से निकलकर रमेश से कहता है—"तुम्हें जब अनुकूलता हो मैं गाँव आ जाऊँ और जायदाद का बंटवारा करा लूं।" (पृष्ठ ४३४)

जायदाद का बंटवारा कराकर खेती करना न प्रमोद के वश में है, न उसके बेटे करेंगे। तब? शहर में मास्टरा करता प्रमोद पुराने जमींदारों की तरह बटाई पर भूमिहीनों या अल्प भूमि वालों को खेत देगा और वही काम करेगा, जिसका वह अपने चिन्तन में विरोध करता है। प्रमोद की सारी प्रगतिशीलता में यह बात क्यों नहीं आती कि जीविका के एक से अधिक साधनों पर एक व्यक्ति का अधिकार खत्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होना चाहिए। और अन्ततः व्यक्तिगत सम्पत्ति की समाप्ति ही अधिकांश अमानवीयता को समाप्त करने का उपाय है। इसका कारण यह है कि मूलतः पूर्वाञ्चल के किसान परिवार में जन्मा, पला प्रमोद विद्या के बल पर कृषि से छूटकर महानगर और फिर गोरखपुर शहर का तो हो गया है किन्तु जमीन के टुकड़े पर अधिकार का मोह उसके भीतर कृषक संस्कार के कारण बद्धमूल है। हिन्दुस्तान के अधिकांश बुद्धिजीवी इस वर्ग में गिने जा सकते हैं। उपन्यास में प्रमोद जिस दरिद्र अध्यापक विलास को सहानुभूति देता है, उसके साथ भी यही बात है। गाँव के खेत बटाई पर देकर वह शहर में दो सौ रुपये की नौकरी करता हुआ कुपोषण और भुखमरी का शिकार होता रहता है, किन्तु गाँव जाकर खेती नहीं सम्हाल सकता, न उस खेती का मोह छोड़कर उसे बेच-बाचकर शहर में ही रहने का कोई प्रबन्ध करता है। यह विडम्बना इधर के सभी पढ़े-लिखे नौकरीपेशा लोगों की है। वे गाँव और खेत पर भी कब्जा बनाये रखना चाहते हैं और शहरों में जीविका के अन्य साधनों (विशेषतः नौकरियों) पर भी काबिज रहना चाहते हैं। ऐसे लोगों की विडम्बना यह है कि शहर उन्हें अपना नहीं मान पाता और गाँव उन्हें मन से अपने से बाहर कर चुका होता है। यही 'अपने लोग' के यथार्थ का मूल स्वर है। जो बहुत अच्छी तरह उपन्यासकार के हाथों सधकर उपस्थित हुआ है।

काफी हाउस और कवि-सम्मेलनों, गोष्ठियों की अधकचरी बौद्धिकता, भूपतसिंह जैसे वकीलों का फटेहाल मुवक्किलों का शोषण, डा० सूर्यकुमार का अनैतिक-राजनीतिक छल-छद्म—यह सब ऊपरी परतें हैं, उस यथार्थ की, जिससे उपन्यास की केन्द्रीय चेतना आकार ग्रहण करती हैं। बी० लाल और मंजरी, के० लाल और इमरितिया कथा-रस के लिए आए हुए पात्र हैं। उपन्यास के पागल उमेश का जो आधार चरित्र है, वह अपने पागलपन में भी औपन्यासिक पात्र की अपेक्षा बहुत बड़ा है। ऐसा कैसे हो गया है या किया गया है, यह लेखक ही जानते होंगे। 'अपने लोग' भारतीय बुद्धिजीवी की विडम्बना पूर्ण स्थिति पर अर्थपूर्ण टिप्पणी है। साहित्य, राजनीति, अर्थनीति, सामाजिक संस्थाओं और उनकी रूढिग्रस्त स्थितियों से लेकर विपन्नतर होते पुराने जमींदारों और सम्पन्नतर होते नवधनिक वर्ग सबका एक संश्लिष्ट चित्र 'अपने लोग' प्रस्तुत करता है। यह एक ओर पूर्वाञ्चल की महागाथा है तो दूसरी ओर पुराने हिन्दुस्तान की संकेत कथा भी है।

अभी तक प्रकाशित मिश्र जी के उपन्यासों में एक है 'बिना दरवाजे का मकान'। दिल्ली में पूरब के लोगों की नयी बसी बस्ती उत्तम नगर में अपाहिज पति और अपने बिना दरवाजे के कमरे को लेकर जूझती हुई मजूरनी दीपा की कथा पाठक को जिजीविषा का एक रोमांचक अनुभव प्रदान करती है। बहादुर पूरब का रहने वाला है। जो बेकारी और घरेलू झगड़ों से ऊबकर नवपरिणीता पत्नी दीपा के साथ दिल्ली चला आता है। रिक्शा चलाकर कुछ कमाता है और बहुत गन्दे इलाके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में ही सही अपनी एक कोठरी बनवा लेता है। कार दुर्घटना में अपाहिज होकर पड़ जाने पर पूरा बोझ उसकी पत्नी दीपा उठा लेती है, घरों में मजूरी करके। उसे अपने शरीर की भूख से लड़ना पड़ता है और उस पूरे समाज से लड़ना है जो अमानवीय होने को ही बड़प्पन समझने लगा है। एक साथ इतने मोर्चे पर डटी हुई दीपा पराजित नहीं होती है। कभी-कभी यह अनुभव जरूर करती है कि "बिना दरवाजे के मकान में जिसका जी होता है घुस आता है—कुत्ते, सूअर, बिल्ली और न जाने कौन··· कौन··· "उसकी जिन्दगी भी तो बिना दरवाजे का मकान बन गई है।"

सन्तान दायक दवाइयों के विक्रेता की चटपटी बातों को चीखता लाउड-स्पीकर एक ओर से और देवी से लाल बख्शने की दहाड़ती लाउडस्पीकरी प्रार्थना दूसरी ओर से दीपा के सन्तानहीन बुभुक्षित यौवन को किस तरह डँस रहे हैं और उस दंश को वह किस तरह झेल रही है, इसका तीखा अहसास बेहद पाठनीयता के साथ उपन्यास करा देता है। दीपा मिश्रजी के पात्रों नें विशेष स्मरणीय चरित्र है।

दिल्ली के बसों के हाल पर खीझते हुए एक समूह के सम्बन्ध में लेखक की टिप्पणी है—"लोग आदी हो गये हैं और सभी लोग अलग-अलग हैं न! अलग-अलग बुदबुदायेंगे सभी लेकिन सभी ऐसी हरकतों का प्रतिरोध नहीं करेंगे।" डी०टी०सी० हो या और कोई व्यवस्था, जब तक उसे एक बड़े समूह से टकराने का भय नहीं होता, कुछ नहीं करती।" ('बिना दरवाजे का मकान' पृ० ६६-६७) इस तरह एक इशारा है जो रचनाकार की दिशा के विकास का सूचक है। 'अपने लोग' में नई पीढ़ी के लिए एक बहुत अच्छा वाक्य है—"ये (नई पीढ़ी के लड़के) चिन्तन की अपेक्षा क्रिया अधिक हैं।" पृ० ३०६) व्यवस्था को यही टकराहट पवन जैसे लड़के दे रहे हैं।

'बीच का समय' और 'रात का सफर' मिश्र जी के दो अन्य उपन्यास हैं, जिनमें गाँव की अपेक्षा नगर जीवन अधिक चित्रित हुआ है। 'बीच का समय' में गंवई युवक पढ़-लिखकर गुजरात के बड़े कालेज में अध्यापक हो गया है। प्रेम और काम-जीवन की ललक उसके रोम-रोम में व्याप्त है। शिष्या के रूप में उसे अमर पक्ष भी प्राप्त है किन्तु बचपन में हो गये अनमेल विवाह के प्रति घृणा और कटुता के बावजूद वह अपनी पत्नी के प्रति एक नैतिक दायित्व के बोध से जुड़ा है जो उसके सारे व्यक्तित्व को आहत करता रहता है। माना जाता है कि वह हमेशा लड़कियों के साहचर्य में इसी तनाव से गुजरा है। वह एक चिरन्तन भूख लिए किसी भी लड़की से नहीं कह सकता कि तुम मेरी हो जाओ—उसके भीतर एक धक्का-सा लगा—वह कैसे कहता कि तुम मेरी हो जाओ, उसको मेरी होकर गाँव पर एक भैंस जो बैठी है। उसे लगता है कि उसके सारे तनाव के भीतर अनजाने रूप से पत्नी के प्रति उसका दायित्व बोध काम करता रहा है। पत्नी के पास गये उसे वर्षों हो गये लेकिन फिर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी जाने-अनजाने यह चेतना बराबर बनी होती है कि उसकी पत्नी है, वह कैसे किसी लड़की को प्रेम-बन्धन में बांधे ?"

'रात का सफर' में दिल्ली के मजिस्ट्रेट की पुत्री के वैवाहिक जीवन के अंधेरे का चित्रण है, जो अलीगढ़ में एक डाक्टर की पत्नी है। डाक्टर पहले से ही एक नर्स के हाथों बिका बैठा है। ऋतु कुछ दिन उन दोनों के बीच इसकी घुटन को झेलती है। बर्दाश्त की हद पार कर जाने पर सरेआम पति को चाँटा मारकर पिता के साथ लौट जाती है। आत्मकथा के रूप में यह उपन्यास मर्मस्पर्शी बन गया है। रात का सफर ट्रेन के सफर के साथ प्रतीकित है और रेल यात्रा जीवन यात्रा के साथ। इस उपन्यास में भी लेखक के सोच की दिशा पाजिटिव और शक्ति-सम्पन्न है। ऋतु से मिसेज़ शर्मा कहती हैं—"हाँ, नया जीवन ! प्रेम के शव को ढोने से कोई फायदा नहीं ऋतु ! जीवन अमूल्य होता है। इससे सम्बन्धित जब किसी वस्तु का मूल्य चुक जाए तो उसे छोड़ ही देना चाहिए।" ऋतु इसी के अनुकूल आचरण आरम्भ कर देती है। यह दिशा 'बीच का समय' के शील को नहीं मिल पाती है तो इसका कारण केवल शील का देहाती संस्कार ही नहीं है, गहरी मानवीय दृष्टि भी है कि वह भैंस स्वयं निर्दोष है, वह उसके गले अपनी गलती से नहीं, किन्हीं और लोगों की गलती से मढ़ दी गई है। अत: दूसरों की गलती का दण्ड उसे नहीं मिलना चाहिए।

रामदरश जी के उपन्यासों में यथार्थ की समझ इतनी गहरी है कि असावधान पाठक अपने कारणों से यथार्थ की गहराई से अपरिचित रह जाय और यथार्थ के प्रति ही प्रश्नाकुल हो जाय, तो आश्चर्य नहीं करना चाहिये। रामदरश मिश्र की कथा-विरासत इतनी समृद्ध है कि उसमें न तो कथानक का अभाव है, न यथार्थ के प्रति अलग से किसी समझदारी के विकास की आवश्यकता है। वह जन-चेतना का अक्षय प्रवाह है, जिसमें से अयथार्थ अपने आप बाहर फेंक दिया जाता है। वहाँ आपबीती और जगबीती में कल्पित निकटता या दूरी नहीं होती, इसलिए भोगे हुए यथार्थ का लेबिल वहाँ व्यर्थ है। भाषा की तलाश करने की अलग आवश्यकता नहीं है, न परिवेश की कल्पना की अपेक्षा है। वहां इतनी कथा भरी है कि उसी को कह पाने के लिए पूरा जीवन चाहिए। पिछले दो दशकों में हिन्दी उपन्यास में अपनी विशेष जगह बना लेने वाले मिश्र जी ने अभी तक अपना सर्वश्रेष्ठ नहीं दिया है। वे निरन्तर लिख रहे हैं। हाल ही में नया उपन्यास 'दूसरा घर' भी आ गया है। इसीलिए उनके उपन्यासों के समग्र मूल्यांकन का प्रश्न अभी नहीं उठता। अभी तो हिन्दी जगत् को उनके सर्वश्रेष्ठ उपन्यास की प्रतीक्षा है।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आंचलिकता और पानी के प्राचीर

डॉ० प्रभाकर माचवे

रामदरश मिश्र का उपन्यास 'पानी के प्राचीर' १९६१ में छपा है। पर इसे हाल में दुबारा पढ़ा। 'बलचनमा' और 'मैला आंचल' की तरह इसका विज्ञापन नहीं हुआ, पर यह तगड़ी कलाकृति है। औपन्यासिक गठन और अन्विति की कुछ कमी जान पड़ती है, पात्र और घटनाएं बेशुमार आते जाते हैं—लगता है जैसा कई छोटी-छोटी कहानियों की मणिमाला हो, पर सम्मिलित प्रभाव बहुत गहरा होता है। 'बहती गंगा' के लेखक ने जैसे बनारस शब्द-चित्रों में खड़ा कर दिया, इस उपन्यास के माध्यम से गोरखपुर जिले में 'राप्ती' और 'गोर्रा' नदियों की धाराओं से घिरा एक विशाल भूभाग यहाँ सजीव हो उठा है। लेखक का परिचय इस भूभाग के चप्पे-चप्पे से, खेत खलिहान से, झोंपड़ी-झोंपड़ी से है। उसने वहां के जन-जन के सुख-दुख को अपनी अनुभव संवेदना से ग्रहण किया है, उसमें हाथ बंटाया है। उसकी वर्णन शक्ति बहुत सहज और प्राणवान है। बहुत थोड़े शब्दों में बहुत बड़ा चित्र। लेखक मूलतः कवि है। उसका यह पहला ही उपन्यास है। पर इसे पढ़ते-पढ़ते मेरे मन में मुख्यतः दो समस्यायें उठी हैं, जिनकी चर्चा इस पुस्तक के बहाने मैं करना चाहता हूं।

पहली समस्या है हिन्दी साहित्य में गाँवों के चित्रण को लेकर प्रेमचन्द का आदर्शवादी चित्रण 'गोदान' तक आते आते यथार्थ ठोस भूमि पर आने लगा था। गाँव की समस्याओं का समाधान उनके इसी तरह के गाँव बने रहने में नहीं है; ऐसा वहाँ लगने लगा था। सन् ३६ के बाद गाँव के प्रति कथाकारों और कवियों की विचार धाराएं बदलीं। पंत की 'ग्राम्या' में गांव के सुन्दर-सुन्दर रूप के साथ-साथ हे ग्राम देवता।—ग्राम राम भी है। अब वह पुराना दुखड़ा नहीं बचा है कि 'ऊजड़ ग्राम क्यों ? और 'देहाती दुनिया' क्यों न फिर से बसाई जाए। 'अहा ग्राम लक्ष्मी भी क्या है' का सपना टूट चुका है। वहां लक्ष्मी बची नहीं है, जमींदार लूट ले गया है, यह आक्रोश हिन्दी के सभी 'ग्रामीण समाज' पर आधारित उपन्यासों में स्पष्ट है, चाहे राजा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राधिका रमण प्रसाद सिंह के हों या भैरव प्रसाद गुप्त के। गांव टूटने लगे, देश में नागरी करण बेहद जोरों से शुरू हुआ। पर लेखक की गांव के प्रति ललक एक तरह का निरीह, निपट गंवई, सौहार्द भाव (नास्टेल्जिया) बचा रहा। क्या यह रोमेंटिक वृत्ति है। मैं समझता हूं कि इसका उत्तर देना होगा—'नहीं'।

गाँधी और विनोबा ने 'गांवों की ओर' लौटने का आदेश दिया, रवीन्द्र नाथ ने 'मारीर डाक' पर कविताएं लिखीं, कालिदी चरण पाणिग्रही ने 'माटीर मानुष' और रामवृक्ष वेनीपुरी ने माटी की मूरतें लिखीं—तो क्या यह सब रोमेंटिक कहकर टाल दिया जा सकता है? भारतीय जनमानस में एक अनिर्वचनोय 'माता भूमि: वाला भाव है। गाँव हमारे लिए ठीक वह चीज नहीं है जो तुर्गनेव, या शोलोखोव के लिए हैं: 'वर्जिन स्वाइल' और 'वर्जिन स्वाइल अपसर्ड में जमीन तोड़ने वाले ट्रेक्टरों की ध्वनि भिन्न है। हार्डी के गांव के दुखड़े का निर्यातिवाद और तरह का है। भारतीय उपन्यासकार, विशेषत: हिन्दी का नया और आंचलिक उपन्यासकार गांव की प्रतिष्ठा केवल एक सुवर्ण रूप रस गंधमय अनुभव के नाते नहीं करता।

वह गांव के शहर से भागने का एक अप्सरा द्वीप मात्र नहीं मानता। वह गांव के बारे में हमारी मिथ्या धारणाओं को भी सामने रखता है। वह वहाँ के लोगों के अदम्य उत्साह, उत्सव-प्रियता, उद्दाम वासनाओं का चित्रण करता है—साथ ही उनके विरोध में वहां के कटु कर्कश कठिन यथार्थ को भी प्रस्तुत करता है। उसके लिए गांव दूध और शहद की नदियों वाले स्वप्न रंजन नहीं हैं, वहां के झगड़े-टंटे, जाति-विष, आर्थिक विषमताएं सब उसके लिए यथार्थ हैं। उदाहरण के लिए 'पानी के प्राचीर' में हुआ प्रकृति वर्णन द्रष्टव्य है :—

"फालगुन लग गया। फगुनाहट जी तोड़कर बहने लगी। एक रसमय रूखापन चारों ओर धुंध की तरह छाने लगा। उड़ती हुई धुंधों की शिखाओं के पार के किसी स्वप्निल देश की कल्पना मन को एक मन्द उन्माद में तपाने लगी। पेड़ों के पत्ते डालों से झड़-झड़ कर हवा में चक्कर काटते हुए जमीन पर बिछ जाने लगे। यहाँ से वहाँ तक पेड़ों की स्फीत नंगी डालियाँ अपनी सूनी टहनियों की अगुंलियों से आसमान में कुछ रेखायें खींचती सी नजर आने लगीं।

"फिर फाग उड़ने लगा। रास्तों पर चलते हुए मुसाफिरों के ओठों से फाग की मस्त कड़ियां अपने आप फूटने लगीं। जिसे देखो, वही लाल। मटर की फसल पक चुकी। मजूरनें उन्हें उखाड़ने लगीं। राह चलते मुसाफिरों से छेड़खानी करके कुछ अपने क्वारेपन को राहत देतीं और कुछ अपने परदेसी की याद से महंक उठतीं।"

(पृष्ठ १६८)

"नवरात्रि की आखिरी रात है। डिमडिमाहट से सारी रात उनींदी हो रही है। लगता है—कि हर पेड़ पर, हर मोड़ पर, हर सुनसान पर भूतों के, देवताओं के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेहरे झांक रहे हैं। ओझों, सोखों की बन आयी है। रात पिछला पहर गीत से थर थरा रहा है:—

"निबिया के डरिया मइया झूलेली हिंडोलवा
कि झूलि-झूलि ना
मइया मोरि गावेली गीतिया कि
झूलि-झूलि ना।

लगता है, सचमुच सामने के पेड़ पर भवानी झूला झूल रही है। रात समाप्त होती है। लाल लाल सूरज निकलता है डिम-डिम-डिम······" (पृष्ठ ३३)

प्रकृति वर्णन ही नहीं वहाँ उस जीवन के कठिन क्लेशों का भी जीता जागता यथार्थ चित्र है:—

"इतने दिन हो गये देखा नहीं। छुट्टियों में घर आयेगी तो मुलाकात होगी। मगर इस एक साल में ही क्या वह बदल नही गयी होगी। गोरखपुर···गोरखपुर कोई दूर तो नहीं, जा सकता हूं मगर नहीं मेरा जाना वहाँ ठीक नहीं। छुट्टी भी तो नहीं मिलती। हफ्ते में एक दिन की छुट्टी मिलती है सो हफ्ते भर की तनखाह लेकर भागे भागे घर आना पड़ता है न आऊं तो घर उपास होने लगे। आह ये मासूम मासूम सात आठ आखें मुझे जैसे बेवसी से पुकारती रहती हैं। उधर अनुराग से तरल दो मोहक आखें नहीं बेवस आंखों को मैं नहीं छोड़ सकता हूं, नहीं छोड़ूंगा। छुट्टियों में तो संध्या आयेगी ही······।" (पृष्ठ १६९)

और पांडे पुरवा की गरीबी का यह हाल बहुत परेशान करता है। "हाँ केसू, रो रहा हूं, तुमने आखों के आगे से परदा हटा दिया तो इस अंधकार में किसानों के अनेक तड़पते चेहरे, आँसू से भीगी हुई खोह सी शून्य आँखें, धूप में तपती हुई रक्त से चिपचिपी पीठें, क्षमा याचना करते जुड़े हुए हाथ, खाली झोंपड़ियां, बिलखते हुए बच्चे; अहकती हुई नारियाँ नजर आ रही हैं, मेरे कानों में दर्दी ले स्वर टकरा रहे हैं।··· विश्वास मान केसू अब तेरी पढ़ाई के रुपयों में किसानों के रक्त की गंध नहीं आयेगी।" (पृष्ठ २८९)

यह ठीक है कि रामदरश जी का कवि कहीं-कहीं प्रबल हो उठता है और वे 'सेंटी मेण्टल' (भावुक) हो उठते हैं—ऐसे कई प्रसंग हैं। पर वे बार-बार चौंक कर जैसे पुनः सहज हो उठते हैं खुद ही। बाढ़ के वर्णन या गाँव में सास बहू के झगड़े या क्रांति के प्रति गाँव बालों की सहानुभूति और वर्ग विशेष की असहानुभूति इन सब विवरणों में वे भावुकता से अपनी आंखों के आगे झीना धुंध नहीं होने देते। इतने पात्रों के और छोटे-छोटे टूटे सूत के गुच्छों जैसे कथोपकथा प्रसंगों के बावजूद एक विराट सत्य यथार्थता से सबको घेरे रहता है कि गांव शहर नहीं बन सकता—जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शहर आ गया उसे गाँव क्या अच्छा लगेगा ? नीरू और संध्या की बातचीत से यह, स्पष्ट है :—

"गांव में क्या रखा है नीरू ! देखो न सखियों के नाम पर गेंदा चमेली जैसी आवारा छोकरियाँ हैं। गाँव के लौंडे हैं जो बिंदिया चमाइन के पीछे पड़े रहते हैं और गाँव की लड़कियों पर बुरी निगाह गड़ाये फिरते हैं। गाँव के लोग चोरी करते हैं, खेत उखाड़ते हैं, घर फूंकते हैं, चुगली करते हैं—ऐसे गाँव में क्या रखा है ? और तो और दिल बहलाने के लिए कोई तरीका नहीं। किसी से बात करो तो वह दूसरों की शिकायत करता है। औरतें हैं तो उन्हें एक दूसरे के घर की पोल खोलने में ही मजा आता है।

'इसी लिए तुम साल भर तक गाँव नहीं गयी क्यों ?' 'नहीं ऐसी कोई बात नहीं है। जब मैं शहर आयी तो मेरा मन बरबस गाँव की ओर खिच जाता, इच्छा होती कि गांव भाग चलूं। परन्तु बरसात के दिनों में वहाँ पर आना कितना संभव हो सकता है तुम जानते ही हो। बाढ़ हटने पर क्वार के महीने में दशहरे के छुट्टी में भी मेरी इच्छा आने की हुई लेकिन सुना कि अभी रास्ता साफ नहीं है, कोई सवारी नहीं आ जा सकती। और फिर तो मेरा मन शहर में रहने लगा। और यदि गाँव जाने की इच्छा भी करूं तो स्टेशन से दस बारह मील पैदल चल पाना मेरे लिए बड़ा मुश्किल होगा और बार-बार सवारी मंगाना ठीक नहीं जंचता। अब गर्मियों की छुट्टियों में चलूंगी।

'मैं नहीं समझता था कि तुम गाँव को शहर के आगे इतना जल्दी भूल जाओगी।' कहकर नीरू ने हंसने का प्रयास किया किन्तु मालूम हुआ कि उसकी यह हंसी किसी बड़ी व्यथा से फूट कर बाहर निकल रही है।" (पृष्ठ १७३)

'रोमेंटिक फैलेसी' वहाँ होती है जहाँ यथार्थ को नजर-अन्दाज कर दिया जाय या आँख से ओझल कर दिया जाए। रामदरश चाहते हैं गाँव की अच्छाई-बुराई सबको अपनी पूरी गोलाई के साथ स्वीकार करना। वे सिर्फ एक पक्षीय होकर गाँव में सब कुछ मधुर मधुर नहीं देखना चाहते, न प्रगतिवादी सिद्धान्ताग्रहियों की भाँति वहाँ की गन्दगी और बुराई और मुफलिसी को ही उभार कर सामने लाना चाहते हैं। उनकी इस प्रवृत्ति को 'रोमेंटिक' शब्द से अभिहित कर मैं टाल नहीं पाता।

असल में हमने 'रोमेंटिक' शब्द के अर्थ भी विदेशी आलोचना से लिए। वहाँ ग्रीक सौन्दर्यवाद की ओर उन्मुख उन्नीसवीं शताब्दी का जर्मन-ब्रिटिश काव्यान्दोलन, जो ईसाई मत की शुद्धता वादिता का विरोधी था, 'रोमेंटिक' या 'पैगन' कहलाया। हमारी परम्परा में कहीं ऐसा जीवन निषेध नहीं था, जो उसका विद्रोह 'रोमेंटिक कहलाया जाए द्विवेदी युगीन उपदेशवादियों, इतिवृत्तात्मक छन्द व्यावसायियों और आर्यसमाज-प्रणीत शृंगार विरोधियों की प्रतिक्रिया में आया छायावाद, पश्चिम के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'रोमेंटिक' का पर्यायवाची नहीं मानना चाहिए। जब छायावाद की प्रतिक्रिया में प्रगतिवाद आया, वह हिन्दी में बल्कि, उर्दू की देखा देखी, और ज्यादह रोमेंटिक हो गया। नवीन, अंचल, नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगल सिंह सुमन-सबमें गहरा 'रोमेंटिक' तत्त्व है। उस अर्थ में रामदरश का गद्य (और पद्य भी) 'रोमेंटिक' नहीं है।

नागार्जुन और फणीश्वर नाथ रेणु की पहली सशक्त औपन्यासिक कृतियों में 'ऐंटी-रोमेंटिक' (कोमल-कोमल सुन्दर-सुन्दर 'कला के लिए कलावाद' का विरोध) प्रचुर मात्रा में था। रामदरश ने दोनों एकांतिकताओं से बचकर एक समन्वय निर्माण करने का प्रयत्न इस उपन्यास में किया है।

दूसरी समस्या भाषा, उपभाषा, जनभाषा की है। मैं जब जब कोई आंचलिक उपन्यास पढ़ता हूं तो पहला प्रश्न जो मेरे मन में उठता है वह यह है—'क्या इसका अनुवाद संभव है?' यदि नहीं तो इसका आनंद क्या उस भाषा, उस प्रदेश तक ही सीमित रहेगा?

यह समस्या और भी तीव्र रूप से मेरे मन में उठने का कारण 'टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट' के गुरुवार अक्तूबर ८, १९६४ के सम्पादकीय 'बन फार ट्वेन्टी' (एक के लिए बीस) से है। उसमें दक्षिण अमरीका का इस्पाहानी भाषा का क्या भविष्य है?' यह प्रश्न उठाकर सम्पादक ने सिनार बोर्जेस के लेख अर्जेण्टाइन लेखक और परम्परा' का हवाला देते हुए एर्नेस्टो साबाटो' का प्रश्न दुहराया है—आखिर लतीनी अमरीका के लेखक कैसी इस्पाहानी भाषा लिखे जो उनके उप प्रदेश में समझी जाती है, या जो यूरोप में सर्व प्रचलित है? अमरीका में १९६३ में एक परिसंवाद 'लतीनी अमरीकी साहित्य' पर रखा गया जिसमें अर्जेन्टाइना के लेखक एदुआर्दो माल्लिया ने कहा कि इस्पाहानी अमरीकी लेखन सर्व सुगम हो। इस्पाहानी भाषा का प्रयोग ऐसे किया जाय कि वह सबके समझ में आ सके, वह केवल स्थानिक बोली ही बनकर न रह जाय, यही बात भाषा विद और समीक्षक आमादो आलासों ने भी दुहराई। इस्पाहानी भाषा बोलने, प्रयोग करने वाले स्वतंत्र उन्नीस राष्ट्र हैं, पर यदि कोई पुस्तक मुसलन, मिगुई एजेल अस्तूरिया की 'मकई के मनई' (मेन आफ मेज) जैसा आंचलिक उपन्यास इस लिए सर्वत्र प्रचरित नहीं हो सका, चूंकि इसमें ग्वाटामाला के इडियनों की बोली और रिवाजों का ही अधिक उपयोग किया गया था। सम्पादकीय का अन्त इस वाक्य से है कि 'बीस बोलियों की अपेक्षा एक भाषा कहीं अच्छी है।'

आंचलिक शैली के उपन्यासकारों की ओर से कहा जा सकता है कि जब तक वे स्थानिक बोली का प्रयोग न करें, वहां की सच्ची रंगत नहीं आ पाती? उपन्यास के मूल स्वर की आधिकारिकता (ओथेंटिसिटी) कम हो जाती है। क्या हमारे गाँवों का ऐसा 'साधारणी करण' सिनेमा वालों ने नहीं किया है कि वहां की मिट्टी की मिट्टी पलीद कर दी है? मूल स्वर, मूल गंध, मूल रंग तो रहे और फिर भी उपन्यास सर्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्राह्य-सर्व प्रिय, सार्वजनीन बन सके यह दोहरी समस्या ऐसे लेखकों के सामने होती है। कुछ उपयनसों में, यथा 'मैला आंचल' में आध्यायों के अन्त में स्थानीय शब्दों के अर्थ खड़ी बोली में दिए गए हैं। इस उपन्यास 'पानी के प्राचीर' में संवादों के खड़ी बोली में रूपान्तर दिए गए हैं, यथा पृष्ठ ९४, ९५, ९८, १९०, १९७, एवं ३०२.

जब ये पाद टिप्पणियाँ इस भोजपुरी या सीमावर्ती भाषा से परिचित व्यक्ति के लिए व्यर्थ है और जिन पाठकों को ये बोलियाँ नहीं पता उनके लिए मूल व्यर्थ है। यदि यही नियम पालना था तो कई स्थलों पर जो लोक गीतों के उदाहरण दिए हैं, उनके भी अनुवाद आवश्यक थे।

प्रश्न यह है कि वह क्या तत्व है जो 'बोली' से खड़ी बोली को विछिन्न करता है और अनुवाद से जिसका रस कम हो जाता है? क्या उस तत्व की रक्षा उपन्यास के पूरे ताने-बाने को देखते हुए आवश्यक है? यदि हाँ, तो अनुवाद कहाँ तक उसकी रक्षा कर पाते हैं? और प्रश्न केवल,संलापों का नहीं, पदावली, रीति-रिवाज, स्थानिक नाम कहावतें, मुहावरे, भाषा की उच्चारण पद्धति, हंसी और व्यंग्य के उपादान आदि कई चीजों का है। हिंदी के जो आंचलिक उपन्यास और लोग लिख रहे हैं, (जैसे गौंड प्रदेश के बारे में राजेन्द्र अवस्थी, पहाड़ी अंचल पर शैलेश मटियानी, राजस्थान के बारे में यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र) छत्तीसगढ़ के बारे में और बुन्देल खंड के बारे में और हरियाणा के बारे में और, और अंचलों के बारे में लिखा जाएगा तो यह प्रश्न और भी उभर कर सामने आएगा। क्या हिन्दी इन सब प्रदेशों की सामान्य भाषा है? क्या हिन्दी भाषी प्रदेशों की जनता का निरक्षर ८५ प्रतिशत जनसमुदाय खड़ी बोली हिन्दी समझता है? और समझता भी है तो कितनी हद तक?

और हमारे आंचलिक लेखक उस विषय में क्या करें? यह सब सोचने की बाते हैं? कला के सन्दर्भ में ही यह प्रश्न अर्थपूर्ण है—अन्यथा नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथार्थ का सौन्दर्य : जल टूटता हुआ

डा० वीर भारत तलवार

हिन्दुस्तान मुख्यतः खेतिहर देश माना जाता है, उसमें भी हिन्दी प्रदेश खास तौर से। मार्क्सवादी आलोचकों ने हिन्दी की जातीय परंपरा की बात कही है। इस जातीय परंपरा में किसान जीवन पर रचा साहित्य बहुत कम मिलता है। खेतिहर हिन्दी प्रदेश के जातीय साहित्य की मुख्य धारा शहरी मध्यवर्गीय साहित्य बना; किसान साहित्य न बन सका। किसान-प्रश्न को केन्द्र में रखकर लिखनेवाले प्रेमचंद हालाँकि जातीय साहित्य के शिखर पर प्रतिष्ठित हुए, पर उनकी परंपरा में आगे लिखे गए किसान संबंधी उपन्यासों को हिन्दी आलोचना में वैसी प्रतिष्ठा नहीं मिली जैसी शहरी मध्यवर्ग को केन्द्र में रखकर लिखे गए उपन्यासों को मिली। एक खेतिहर प्रदेश के जातीय साहित्य के ऐसे विकास का कारण क्या है ? जो लोग हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते हैं, उन्हें इसकी व्याख्या करनी चाहिए।

हिन्दी में प्रेमचन्द के बाद किसानों को लेकर जो उपन्यास लिखे गए, आलोचकों ने अक्सर उसे राजनीतिक दृष्टि से देखा और दो खेमों में बाँटा। एक ओर **'सती मैया का चौरा'** (भैरव प्रसाद गुप्त) और **'बीज'** (अमृतराम) जैसे मार्क्सवादी लेखकों के उपन्यास तो दूसरी ओर **'अलग-अलग वैतरणी'** (शिवप्रसाद सिंह) **'सोना-माटी'** (विबंकी राय) आदि समाजवादी लेखकों के उपन्यास। इस बाद वाले खेमे में ही रामदरश मिश्र के उपन्यास भी गिने जाते हैं। आलोचना पर दलीय राजनीतिक दृष्टि हावी होने के कारण बाद वाले उपन्यासों में कुछ बनी-बनाई स्थितियों और निष्पत्तियों के न मिलने पर मार्क्सवादी आलोचक इन उपन्यासों की आवश्यक सराहना न कर सके।

'जल टूटता हुआ' उपन्यास पूर्वी उत्तरप्रदेश में आजादी के तुरन्त बाद के वर्षों में देहातों क यथार्थ को समझने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस यथार्थ को लेखक ने गाँव के किसानों के मध्यवर्ग की दृष्टि से देखा है। यह दृष्टि मध्यबर्ग के ऊपरी हिस्से-उच्च मध्यवर्ग की दृष्टि नहीं है। यह बिल्कुल गरीब किसानों को छूने वाले मध्यवर्ग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सबसे निचले हिस्से की भी दृष्टि नहीं है। यह तो मध्यवर्ग के साधारण हिस्से की दृष्टि है। जो बार-बार निम्न मध्यवर्ग की ओर थोड़ा खिसकता और फिर संभलता नजर आता है। यह वर्ग साधारण रूप से शिक्षित भी है। यह गांव का सबसे व्यापक और बहुसंख्यक किसान वर्ग है। इसी वर्ग के साथ खड़े होकर, इसके संस्कारों और विचारों की दृष्टि से लेखक ने परिवर्तन के प्रवाह में पड़े देहाती जीवन को देखा, इन गाँवों की बदलती हुई स्थितियों, उभरती नई सामाजिक शक्तियों, उनके घात-प्रतिघातों उनके दुख-दर्दो, खुशियों और आशा-आकांक्षाओं को चित्रित किया है। अपनी यथार्थवादी कला के कारण यह चित्रण प्रभावशाली हुआ है।

उपन्यास में आजादी के बाद के सालों में उत्तरप्रदेश के पूर्वांचल के गांवों में जो परिवर्तन आए, उनको कला में उतारने की कोशिश की गई है। उपन्यास में हम देखते हैं कि गांवों का सामाजिक यथार्थ बदल रहा है। गाँवों की सामाजिक-राजनीतिक शक्तियों, सामूहिकता की भावनाओं, आपसी रिश्तों और आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन होते हैं। लेकिन बहुसंख्यक किसानों के जीवन की दरिद्रतापूर्ण परिस्थितियों का सत्य नहीं बदलता। उपन्यास का एक चरित्र मास्टर सुग्गन देखता है—"सरकार बहुत कुछ कर रही है, जमीन्दारी तोड़ रही है, स्कूल खोल रही है, सबको बोलने की स्वतंत्रता दी, सबको समान अधिकार दिया, मताधिकार तो सबसे बड़ा अधिकार है, पंचायत राज की स्थापना हो रही है, लोगों के मन से भय दूर किया जा रहा है, गाँवों के सुधार की योजना बड़े जोर-शोर से कार्य कर रही है, खेतों के विकास के लिए बिजली के कुँओं का इन्तजाम हो रहा है।" लेकिन यह सारा तंत्र ऊपर ही ऊपर चलता रहा, समाज की वास्तविकता का अंग वह नहीं बना था। १५ अगस्त के समारोह से लौटते हुए मास्टर सुग्गन सोचते हैं—"इतने साल हो गए आजादी मिले हुए। यह अभागी जिन्दगी टस से मस नहीं हुई। पानी की फुंकार वैसे ही हमारी फसलों पर पछाड़ खाती लोटती रहती है, इस साल भी यह पछाड़ खेतों की हाड़ तोड़ कर रहेगी। रबी की फसल को भी जाने क्या हो गया है। जब खरीफ लुट जाती है तो रबी भी रूठ जाती है। जेठ गुजरे अभी तो दो मास भी नहीं हुए कि सारा अन्न साफ।"

लेखक दिखाता है कि आजादी के बाद बनी योजनाओं से, नए तंत्र से वे सपने पूरे नहीं हुए जिनके लिए लोग लड़े थे। गरीबों की समस्याओं में कोई फर्क नहीं पड़ा। उनकी गरीबी का सवाल छुआ नहीं गया। उपन्यास में चित्रित गाँवों में कई किसानों के घरों में इस या उस जून चूल्हा नहीं जलता; माँ-बाप के साथ बच्चों को भी भूखे पेट सो जाना पड़ता है। गरीबी से लाचार मास्टर सुग्गन को अपनी जवान और सुन्दर, सुशील बेटी का ब्याह अधेड़ उमरवाले से करना पड़ता है।

उपन्यास में सोशलिष्ट रामकुमार है, कांग्रेसी सतीश और पुराना जमीन्दार महीपसिंह है। रामकुमार कहता है—"गाँधीजी कहते थे सुराज्य होगा। खेतहीनों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खेत मिलेगा, मकानहीनों को मकान मिलेगा, जिनके पास जरूरत से ज्यादा खेत हैं, उनके खेत छिन जाएंगें, जहाँ बन्जर जमीन है वहाँ हरियाली लहराएगी, बाढ़ में डूबी धरती को बराह की तरह सरकार ऊपर खींच लाएगी, गोर्रा-राप्ती के बीच छाती पीट-पीटकर रोती हुई अपार गरीबी के आँसू हँसने लगेंगे।"

लेकिन सरकार ने क्या किया ? रामकुकार कहता है, आज भी बेगार जारी है, मजदूरों को कम मजदूरी मिलती है, उनके लड़के आज भी बड़ा-सा पेट लिए खाने के लिए रोया करते हैं। आज भीं उनके बच्चों के लिए शिक्षा की व्यवस्था नहीं हुई, आज भी हरिजनों को जमीन नहीं मिली और जमीन्दारी टूटने की बात कब से सुनी जा रही है, किन्तु जमीन कहाँ जा रही है ? किसे दी जा रही है ? दसगुना लगान लेकर भूमिधर बनाया जा रहा है—किसको बनाया जा रहा है ? जिसके पास पहले से ही खेत मौजूद हैं और जो दसगुना लगान दे सकते हैं। जो नहीं दे सकते, वह अपने घर की रही-सही सम्पत्ति बेचकर लगान चुका रहे हैं कहाँ है सुराज्य ?

जिन लोगों ने साधारण और गरीब किसानों के हितों की दृष्टि से आजादी के लिए संचर्ष किया था, आजादी के बाद, उनकी निराशा का यह वर्णन सही है। मिश्रजी दिखाते हैं कि अंग्रेजी राज खत्म हुआ, विदेशियों के हाथ से कांग्रेस के हाथ आई, लेकिन इसका फ़ायदा समाज के ऊँचे वर्गों को मिला, गरीबों को कुछ नहीं मिला।

अंग्रेजी राज के खिलाफ कांग्रेस के आन्दोलन में सबसे मजबूती से लड़े थे साधारण लोग. गरीब और हरिजन। तब बडे-बड़े जमींदार, जो गरीबों और किसानों का शोषण करते थे, कांग्रेस के खिलाफ अंग्रेजी राज के हिमायती थे। लेकिन जब सत्ता कांग्रेस के हाथों में आई तो ये ही जमींदार रातों-रात कांग्रेसी बन गए। कांग्रेस ने भी उन गरीबों को भुला दिया जिनके बल पर आजादी की लड़ाई लड़ी गई थी और उन जमींदारों को गले लगाया जो कलतक किसानों और कांग्रेस के विरोधी थे। कांग्रेस ने इन जमींदारों को कांग्रेस का नेता बनाया, विधायक, सांसद और मंत्री भी बनाया। पैंसेवालों का राज कायम रहा, बड़े लोगों का दबदबा बना रहा। जमींदारी प्रथा खत्म होने पर भी गांवों में जमीन्दारों का प्रमुत्व चलता रहा। आजादी के बाद देहाती इलाकों में हुए इस महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन का भेद खोलते हुए रामकुमार कहता है,—"बड़े जुल्मी जमींदार अब अपने को कहीं न पाकर कांग्रेस में शामिल हो रहे हैं ! बहुत जोर आजमाइश की कांग्रेस से संघर्ष करने की, कानून तोड़ने की, किन्तु हार मानकर कांग्रेस में लौट रहे हैं और कांग्रेस भी उनको सम्मान दे रही है, जो गरीब बेचारे अनाम रूप से कांग्रेस के साथ मरते खपते रहे, उन्हें कोई पूछता नहीं। आज भी बाबू महीपसिंह की ही पूजा हो रही है···नेता जग्गूराम हरि-जन को नहीं।···बाबू महीप सिंह कांग्रेस के प्रिय नेता हो गए हैं, खद्दर पहनते हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनका पिछला इतिहास देख जाइए तो मालूम पड़ेगा कि आजादी के बाद हमने क्या खोया, क्या पाया है ? पाया है महीप सिंह को, खोया है जग्गूराम को।"

संपन्न वर्गों के पूंजीवादी नेतृत्व में जैसे-तैसे हुई राजनीतिक क्रांति की असलियत और विडम्बना का जो चित्र ल्युशुन ने "आह क्यू की कहानी" में इतने शक्तिशाली ढंग से पेश किया था और जिसे भानु भारती ने चंद्रमा सिंह उर्फ चमकू" में भारतीय परिवेश में रूपांतरित करके हमारे लिए और भी स्पष्ट कर दिया, उसी विडम्बना की कुछ झलक रामकुमार के इस वर्णन में भी दिखती है। सिर्फ आह् क्यू या चमकू जैसा चरित्र नहीं है। लेकिन, वह आजादी के तुरंत बाद के भारत में भी कहाँ था ?

बाबू महीपसिंह कांग्रेसी नेता बनकर जिला बोर्ड के मेम्बर भी हो जाते हैं। गाँव के प्राइमरी स्कूल में मेहमान बनकर १५ अगस्त का झण्डा फहराते हैं। पंचायत का चुनाव लड़वाते हैं और गरीब किसानों पर पहले जैसा ही जुल्म जारी रखते हैं। दूसरी ओर, जग्गू हरिजन जो आजादी की लड़ाई के वक्त नेताओं के झूठे भाषण अपने मुँह में दबाकर हरिजन मंडली में फिरते थे, तिरंगा झण्डा उठाए, झोली लटकाए उन भाषणों को अपने ढंग से उगलते थे और नेताओं के लिए वोट बटोर लाते थे—आज भी बटोरते हैं—"वे ही जग्गू हरिजन आज भी गोंडइत है, पत्तल ढोते हैं, गोबरहे की रोटी खाते हैं और जिनकी औरत आज भी मुरदार हँसिया लिए औरतों को बच्चा पैदा कराती घूमती है, जिनकी नई-नई बहू आज भी मजूरी करने पर मजबूर होती है और मालिकों के गाँवों में जिसकी असमत आज भी उसी तरह खतरे में होती है और हरिजनों के नंग-धड़ंग लड़के सुअर के झुण्ड के पीछे भाग रहे हैं, कोशिश कर रहे हैं कि वह किसी के खेत में न पड़ जाएँ। हाँ, यही हैं हमारे नेताओं की कल्पना के हरिजन बालक—बड़े-बड़े पेट निकले हुए, भगई लपेटे हुए, नाक बहती हुई, हाथ में सुटुकनी और आँखों में बेहद भय कि उनकी सुअरियाँ कहीं मालिकों के खेत में न पड़ जाएँ, हाँ—सभी बाभन उनके मालिक हैं—यह बाभन चाहे बाहर भीख ही क्यों न मांगते हों, मिलों की दरबानीं, चपरासगीरी और कुलीगीरी ही क्यों न करते हों, रिक्शा ही क्यों न हाँकते हों, चोरी-डकैती ही क्यों न करते हों, लेकिन गाँव में सभी हरिजनों के मालिक हैं।"

आजादी के बाद गाँवों में ज़मींदारों के बदले हुए राजनीतिक रूप और हरिजनों की यह स्थिति यथार्थ का सही चित्र है। इस चित्रण में लेखक की सहानुभूति गरीबों के साथ है। यह चित्रण हिन्दी उपन्यासों में प्रेमचंद की यथार्थवादी चित्रण कला की परम्परा के अनुरूप है। इस यथार्थवादी चित्रण से यह साफ दिखाई देता है कि सत्ता अंगरेजी राज्य से कांग्रेस के हाथों में भले ही आ गई हो, लेकिन जिन लक्ष्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को लेकर राष्ट्रीय आन्दोलन चला था, वे लक्ष्य अब भी दूर थे। कांग्रेसी सरकार ने गरीब और साधारण हितों को किनारे कर संपन्न भूस्वामी वर्ग का साथ दिया और गाँवों में जनवाद कायम नहीं किया। जमींदारों की सत्ता के बदले हुए रूप और हरिजनों की अधिकारहीनता को दिखा कर मिश्र जी ने दिखला दिया कि देहाती इलाकों में जनवादी क्रांति का सवाल सन् १९४७ में हल नहीं हुआ, उसके बाद भी बना रहा।

अगर कोई मिश्र जी की आत्मकथा 'जहाँ मैं खड़ा हूँ' का पहला भाग पढ़ ले तो उसके सामने 'जल टूटता हुआ' की आधार भूमि और भी स्पष्ट हो जाए। यह आत्मकथा लेखक की अपनी कथा होने के साथ-साथ उस परिवेश की कथा भी है जिसे 'जल टूटता हुआ' में कथा का रूप दिया गया है। गोरखपुर जिले के देहाती इलाकों में गोर्रा और राप्ती नदियों की बार-बार तबाही मचाने वाली बाढ़ें, महामारियाँ, स्वराजी आंदोलन, देहातियों के कबीलाई अंधविश्वास, भूत-प्रेत और देवी-देवताओं का सिर पर सवार होना, विवाह और होली जैसे त्यौहारों पर फूटने वाला उल्लास, देहाती स्कूलों के विद्यार्थियों और उनके मास्टरों की दुर्दशा, बच्चों के खेल और उनकी समस्याएँ, पढ़े-लिखे युवकों की बेरोजगारी और पुराने वक्त में किसानों से लगान वसूली के बेरहम तौर-तरीके—यह उस परिवेश के मार्मिक तनाव हैं जो मिश्र जी की अन्य रचनाओं की तरह 'जल टूटता हुआ' में भी उनकी सृजनात्मक कल्पना के के विषय बने हैं। देहाती यथार्थ के इन प्रसंगों में मिश्र जी का मन रमता है और वे बहुत संवेदनशील होकर इन्हें चित्रित करते हैं। 'जल टूटता हुआ' को कुछ लोग आंचलिक उपन्यास इसलिए कहते हैं क्योंकि वह मानवीय चरित्रों के अलावा एक अंचल विशेष की भी व्यथा-कथा कहता है। इस अंचल विशेष की नदियों में बार-बार आनेवाली भयानक बाढ़ों से जो तबाही मचती है, वह इस अंचल की व्यथापूर्ण कहानी का सबसे करुण प्रसंग है। यही कारण है कि मिश्र जी के दोनों उपन्यास पानी के सवाल से जुड़े हुए हैं।

बाढ़ का दृश्य मिश्र जी के उपन्यास का एक महत्त्वपूर्ण स्थल है। गाँव के लोगों ने बड़ी कोशिशें कीं, पर लगातार हुई बारिश से बाँध टूट ही गया और खड़ी फसलें उफनते हुए जल में डूब गईं। किसानों को राम-राज्य का सपना दिखानेवाली कांग्रेसी सरकार के लिए यह विषय चिंता का नहीं। गरीबी और अभाव की चोटों से जिनका हृदय छलनी हो गया है, प्रकृति के सामने निस्सहाय ऐसे किसानों का संसार और भी वीरान हो जाता है। बाढ़ से घिरे गाँवों का वर्णन करते हुए मिश्रजी लिखते हैं—"तह पर तह जमी हुई भादों की अन्धेरी रात कछार में फैली हुई थी। गाँवों के बाहर पानी हहरा रहा था, झपटी चल रही थी, झिमिर-झिमिर पानी बरस रहा था। कुछ ही लोग ऐसे थे जो अपने घरों में निश्चित सो रहे थे, अधिकांश घरों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोग रातभर चारपाई यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ कर रहे थे। दीवारें टूटी हुईं थीं, जगह-जगह धूनियाँ लगाकर गिरती कड़ियों और धन्नियों को रोका गया था। छतें आठ-आठ आँसू रो रहीं थीं। कहीं-कहीं घर के गिरे हुए अंशों को टाटी से घेरकर आड़ कर दिया गया था। इन्हीं अभागे घरों में अनेक अभागे परिवार निशा जागरण कर रहे थे।"

इन्हीं अभागे घरों में एक घर बंसी तिवारी का था। बरसात में इस घर की हालत क्या हो रही थी, इसका वर्णन करते हुए मिश्रजी ने लिखा—"सभी जगह पानी चू रहा था। झपटी के कारण टाटी को चीर-चीर कर पानी की बौछारें अन्दर आ रही थीं। बंसी की बीबी घर के सामान कभी यहाँ टालती, कभी वहाँ टालती। रहा-सहा अन्न कहीं भींग कर बरबाद न हो जाए, इसलिए हाँड़ी-तौले में रखे कुछ पिसान और दाल को कभी छींटे से तोपती; कभी यहाँ सरकाती, कभी वहाँ सरकाती।

ऐसे ही मौकों पर गाँव के घरों में तरह-तरह के जहरीले साँप आते। बाढ़ के पानी में बहकर आने वाले साँप इतने बदमाश नहीं होते, लेकिन किसानों के कमजोर पुराने मकानों के नरिया-नरिया के नीचे साँप छिपे होते हैं। किसानों का घर ही खाई, खन्दक, नदी-नालों के बीच बसा हो तो क्या किया जाए। जहाँ चैत लगा, किसी को बिच्छू काट रहा है तो किसी को साँप काट रहा है।

ऐसी बर्बर, आदिम परिस्थितियों में जी रहे गाँवों में, अंधेरी रात में बंसी की छोटी बच्ची को तीन हाथ का गेंहुअन काटकर भाग जाता है। दस आदमी इक्ट्ठे होते हैं। साँप का जहर झाड़ने वाले को बुलाना है। भाट पार का सिवधनिया चमार है, वह चमरिया पूजे हुए है। वह चमरिया उसके मंत्र में पैठकर सारा जहर चूस लेता है। लेकिन, उसे बुलाया कैसे जाए ? वह तो बाढ़ से उफनती नदी के उस पार रहता है। अगर इस पार खड़े होकर दो-तीन आदमी जोर से पुकारें तो भी क्या वह इस भयंकर रात में बाढ़ से भरी नदी तैरकर आएगा ? सुनकर अनसुनी न कर देगा ? बुर्जुग कहते हैं, सिवधनिया कोई वकील, डाक्टर नहीं है जो आने के लिए सवारी और फीस मांगे। यह धर्म की बात है कि यदि साँप झाड़ने वाले के कान में किसी के साँप काटने की बात पड़ जाए तो वह किसी भी तरह आएगा ही, उसे आना ही होगा।

तीन-चार आदमी बाढ़ से उफनती नदी के इस पार खड़े होकर उस पार के सिवधनिया को पुकारते हैं। उस पुकार का दृश्य और वर्णन देखने लायक है :—

सिवधनिया रे ऽ अे ऽ ऽ ऽ ए······

अरे बंसी के बेटी को साँप काटे है···ऐ···ऐ···! ! बार-बार ये लोग इसी पुकार को दुहरा रहे थे। बाढ़ की ऊँची-ऊँची लहरें फन फुफकारती हुई उठती थीं और अपने ऊपर उड़ती इन नाचीज आवाजों को अपनी साँसों से खींचकर निगल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेती थीं, जैसे कोई विशाल अजगर ऊपर उड़ती एक फतिंगी को निगल ले। इन लोगों की बेचारी आवाजें टूट-टाट कर इस विशाल जलप्लावन में कहाँ खो जाती थीं, कौन कहे ? केवल 'रे···ए—ए···' यहाँ से वहाँ तक बज रहा था।"

यह प्रसंग उपन्यास के सबसे प्रभावशाली स्थलों में एक है। बाढ़ का दृश्य विधान और अंधेरी रात में उफनती नदी के इस पार से उस पार पुकारने का यह दिलचस्प बिम्बात्मक वर्णन यथार्थवादी चित्रण कला का अनुपम उदाहरण है। साथ ही, प्रकृति की विनाशकारी शक्तियों के आगे असहाय गाँवों के जीवन का एक मार्मिक चित्र भी।

लेखक बरसात में गाँव के कच्चे रास्तों का वर्णन करता है; पतली-पतली गलियों, बहते हुए नाबदान ! घुटने-घुटने भर कीचड़ और नाब-दान का पानी···पाँव छव्व-छव्व गन्दे कीचड़ में धँस जाता था।" अहीरों के घरों के सामने का दृश्य देखिए "बरसात में सबसे विकट जगह वही होती थी। रास्ते से ही सटकर अहीरों की भैंसों के नाँद थे, नाँद के पास यहाँ से वहाँ तक भैंसे साहुन कूटती थीं। उनके खुरों की रगड़ से एक बित्ते के बराबर गंदा कीचड़ बजबजाया करता था, साथ ही अहीरों के नाब-दान भी उनके दरवाजों से ही होकर बहते थे, जो बरसात में फैलकर दुगुना तिगुना चौड़ा हो जाया करते थे।" गाँव की गलियों का यह चित्रण बहुत सही और सजीव है।

लेकिन, गन्दगी गलियों से अधिक व्यवस्था में थी। पुराने जमींदार महीपसिंह के यहाँ यह गन्दगी अपने नौकर-चाकरों और रैयतों के खुले वर्नर शोषण के रूप में मौजूद भी जो जमींदारी प्रथा उठ जाने पर भी अभी खत्म न हुई थी। दूसरी तरह की गन्दगी गाँव के प्रशासनिक और राजनीतिक ढाँचे में पनप रही थी। यह ढाँचा औपनिवेशिक भारत में अंग्रेजी राज ने विकसित किया था जिसे कांग्रेसी सरकार ने विरासत में पाया था। राष्ट्रीय सरकार ने एक नया ढाँचा पंचायती राज का लागू किया जो राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में एक क्रांतिकारी आदर्श-जैसा लगता था। उपन्यास में मिश्रजी इस नए ढाँचे की अंतर्वस्तु और गति के चरित्र को दिखाना भूले नहीं हैं। नए ढांचे को कांग्रेस सरकार के जोर-शोर के साथ लागू तो किया, पर पुरानी सामाजिक शक्तियों को नष्ट किए बिना ही। नतीजा यह हुआ कि नए राज-नीतिक ढाँचे के आविर्भाव के साथ ही उस पर ऊँची जाति वाले धनी और सामंती ताकतों ने कब्जा कर लिया। गाँव के सरपंची, स्कूल की हेडमास्टरी, स्कूल के गवर्निंग बाँडी की सदस्यता या अध्यक्षता, और जिला बोर्ड की मेम्बरी जैसे ओहदे नए राज-नीतिक ढाँचे में सत्ता और अधिकार हासिल करने के नए स्थानीय केन्द्र बन गए। जिस पंचायती राज को सरकार ने एक नई आदर्श व्यवस्था के रूप में पेश किया था। उसकी असलियत उपन्यास में पंचायत के चुनाव का विस्तार से वर्णन करके दिखाई गई है। दीनदयाल पंचायत का चुनाव लड़ता है तो गाँव के सारे शोषक,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिकड़मी और गुण्डा तत्त्वों को एकजुट करता है। चुनाव जीतने के लिए अधिकांश प्रत्याशियों को गाँव की सामूहिकता की भावना को तोड़ना और आपस में फूट फैलाना आवश्यक लगता है। दीन दयाल गाँव के किस समुदाय का प्रतिनिधि है? वह हाई स्कूल की कार्मकारिणी का सभापति है और अपनी हैसियत का इस्तेमाल मास्टरों को अपनी इच्छओं के आगे भुकाने में करता है। वह स्वभाव का धूर्त है और तिकड़मों से दूसरों के खेत हड़पता है। वह व्यभिचारी भी है। उसके दो भाई शहर में रुपया कमाकर घर भेजते हैं जिससे उस भूस्वामी परिवार की आर्थिक शक्ति का विस्तार होता है। अंग्रेजी राज के दिनों में देहाती इलाकों में दीनदयाल जैसे लोग कौन-सी भूमिका निभा रहे थे? इसका इतिहास बताते हुए मिश्रजी ने दीनदयाल के बारे में लिखा अंग्रेजी राज में यह सरकार के पक्के खुशामदियों में से थे, इन्होंने गाँव-गिरावों के क्रांतिकारियों और कांग्रेसियों के नाम सरकार को दिए थे। हर मौके पर दरोगा की जेब इन्होंने गरीबों से भरवाई और कांग्रेसी राज मे इन्हें कपड़े और राशन का कोटा मिला। अंग्रेजी स्कूल खुला तो २५ रुपए देकर उसके सभापति बन गए।"

यह नोट करने लायक है कि दीनदयाल जैसे लोग ही आजादी के बाद देहाती इलाकों में नए प्रभुत्वशाली वर्ग के रूप में उभरे और इस उभार में कांग्रेसी राज का प्रत्यक्ष हाथ था। ग्रामीण इलाकों नें स्थानीय शासक वर्ग इन्हीं लोगों से मिलकर बना। ग्रामीण क्षेत्रों में यही लोग सत्ता के उच्च केन्द्रों और स्थानीय आबादी के बीच शासक वर्ग के ऐजेन्ट के रूप में काम करते हैं। उपन्यासकार ने जिस खूबी के साथ गाँव की गन्दी गलियों का यथार्थ चित्र खींचा, उसी खूबी के साथ सामाजिक यथार्थ के एक अन्य ऊँचे स्तर पर नए ग्रामीण शासक वर्ग, उसके नए राजनीतिक ढाँचे, उसके नए आर्थिक आधारों और उसके सामाजिक-राजनीतिक दाँव-पेंचों का भी चित्र खींचा है। ध्यान देने योग्य बात है कि प्रेमचन्द्र के उपन्यासों में दीनदयाल जैसा चरित्र नहीं मिलता। वहाँ शोषकों की जमात में गाँव का पंडित है, साहूकार है, कारिन्दा है, पटवारी, जमींदार और पुलिस का दरोगा है। दीनदयाल उस समाज की उपज है जो प्रेमचन्द के द्वारा चित्रित समाज से काफी बाद का है।

रामदरश मिश्र उन उपन्यासकारों में नहीं है जो गाँव के सिर्फ शोषण और दुर्दशा के चित्र खींचकर भावुक विह्वलता से आँसू बहाकर आँखें मूंद लेते हैं। मिश्रजी गाँव के शिक्षित मध्यवर्ग के उस जागरूक हिस्से के लेखक हैं जो अपने असंतोष और क्षोभ को सक्रिय रूप प्रदान करता है। शोषित वर्ग के संघर्षों को सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखता है और एक हद तक उसका समर्थन भी करता है। ग्रामीण शिक्षित मध्यवर्ग के इस हिस्से का प्रतिनिधि चरित्र है सतीश, जो उपन्यास का नायक भी है। आर्थिक रूप से कमजोर हो रहे परिवार का सदस्य सतीश कांग्रेसी है। लेकिन, वह शोषक या शासक वर्ग का एजेन्ट नहीं बल्कि साधारण किसानों के साथ मिलकर चलने वाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता है जैसा कि अंग्रेजी राज के दिनों में स्थानीय स्तर पर बहुत से कांग्रेसी कार्यकर्ता होते थे जिनकी पीढ़ी आजादी के बाद अपने नेताओं को पथभ्रष्ट होते हुए देखने के लिए बच गई थी। यह सतीश पंचायत के चुनाव में जन-समर्थन से खड़े होकर पुराने जमींदार महीप सिंह से टक्कर लेता है। वह गाँव के नए प्रभुत्वशाली वर्ग के अन्यायों का साहस के साथ मुकाबला करता है और जमीन के सवाल पर साधारण और गरीब किसानों का साथ देता है। वह गांधीवादी है लेकिन गांधीवाद उसमें चारित्रिक गुणों की, शील की दृष्टि से है, राजनीतिक विचार धारा की दृष्टि से नहीं। वह गांधीवादी विचारधारा का उल्लंघन करके जमीन के सवाल पर जमींदार महीपसिंह और उसके लठैतों के खिलाफ जगपतिया जैसे सोशलिस्टों के हिंसक संघर्ष का समर्थन करता है। रामदरश मिश्र कम्युनिस्ट नहीं हैं। उनके उपन्यास का अन्त मार्क्सवादी दृष्टिकोण से सही नहीं ठहरता। लेकिन, देहाती इलाकों में सामंती और प्रभुत्वशाली शक्तियों के खिलाफ निचले वर्गों से उठ रहे विद्रोह और तीरतापूर्ण संघर्षों को देखने और उनकी सराहना करने में वे भूल नहीं करते। पिछड़ी जाति का जगपतिया जमींदार महीपसिंह का नौकर था। नौकरी के बदले उसे महीप सिंह से कुछ खेत मिले थे लेकिन जगपतिया को कभी तनख्वाह नहीं मिलती थी। एकबार किसी छोटीं-सी बात पर जगपतिया को महीप सिंह ने मार-मार कर लहूलुहान कर दिया तो जगपतिया कलकत्ते भाग गया। कलकत्ते में मजदूरी की और ट्रेडयूनियन कार्यकर्ता बना। बरसों बाद वह कलकत्ते लौटकर आया तो देखा कि उसके दो बीघे खेत की फसल पर जमींदार अपना हक जमाना चाहता है। कलकत्ते से क्रांति की आग लेकर लौटे जगपतिया ने संघर्ष का बीड़ा उठा लिया। वह गाँव में लाल झण्डा लिए फिरता और मजदूरों को ललकारता—"जो मजदूरी कम दे या खराब जवान बोले, उसके यहाँ काम मत करो; खेत तुम्हारे हैं, तुम उसके मालिक हो।" जमींदार ने जगपतिया की फसल काट लेने के लिए लठैत भेजे। जगपतिया को उसकी सोशलिष्ट पार्टी के नेता रामकुरार ने धोखा दिया लेकिन आस पास के गाँवों के शोषित मजदूरों ने उसका साथ दिया। इन मजदूरों ने लाल झण्डा लेकर गाँव में नारे लगाए—अत्याचार का नाश हो, खेत का मालिक मजदूर है, सरकार निकम्मी है। सबके आगे जगपतिया चमचमाता हुआ गण्डासा लेकर खड़ा हुआ। जमींदार के लठैत हँसिया और लाटी लेकर आगे बढ़े तो जगपतिया ने चिल्लाकर अपने साथियों से कहा—"भाइयो, खड़े क्यों हो ? काट लो खेत को, मार कर बिछा दो इन बदमाशों को।" इतना ही नहीं, जगपतिया ने पिछड़ी जातियों के गरीबों के बीच से भर्ती किए गए जमींदारों के लठैतों में भी वर्गचेतना जगाने की कोशिश की, उनसे अपनी गरीबी की एकता को दिखाया। जमींदार के सशस्त्र गुण्डों का सशस्त्र मुकाबला करने को तैयार जगपतिया और उसके साथी मजदूर अपनी फसल काटने में सफल होते हैं। सांमती शक्तियों के खिलाफ हुए इस संघर्ष का सतीश समर्थन करता है क्योंकि वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास्तविकता को किसी झूठे वैचारिक चश्मे से नहीं, बल्कि अपनी खुली आंखों से देखता है। और उसके दिल में न्याय के लिए आग्रह है। यह न्याय जगपतिया गांधीवादी तरीकों से नहीं, संगठन और शक्ति के समाजवादी तरीकों से हासिल करता है।

रामदरश मिश्रके चरित्र जीवन और समाज का दर्द महसूस करते हैं। ये दर्द कई तरह के हैं। स्त्री की पराधीनता, बेकारी और असहायता का दर्द; ऊँची जातिवाले भूस्वामियों के पाखण्ड और दम्भ के आगे गरीबों की बेइज्जती और फटेहाली का दर्द; साधारण किसानों के सपनों के टूटने का दर्द; परम्परा से चली आ रही गृहस्थियों के टूटने-उजड़ने का दर्द; बेटों के नालायक आवारा निकलने और भाई-भाई के रिस्ते बिगड़ने का दर्द; गाँव की सामूहिक भावना खत्म होते जाने का दर्द; भूखे पेट पानी पीकर सो जाने का दर्द। रामदरश मिश्र मूलतः दर्द के कवि हैं। उनके गांव का संसार किसान परिवारों के इन्हीं दुख-दर्दों का काव्य है। इनमें भी तीन तरह के दुख उनकी रचना के संसार पर सबसे अधिक छाए हुए दिखते हैं पहला दुख है अपने अंचल के पिछड़ा होने का। उस इलाके के लोगों में चेतना नहीं है। लोग डरते हैं, अपने हकों के लिए खुलकर सामने नहीं आते। बहुत अंधविश्वास और रूढ़ियाँ हैं। नदी की बाढ़ में सारा इलाका बार-बार डूब जाता है। कैसे रुकेगी प्राकृतिक विनाश की यह लीला; कैसे रुकेगा लोगों का कीड़े-मकौड़ों की तरह मरना। कैसे लोग स्वास्थ्य और जागरूक होंगे और ग्रामीण इलाकों में खुशहाली आएगी। देहाती इलाकों के पिछड़ेपन का यह दर्द मिश्रजी के अधिकोश उपन्यासों के कथानकों का अविच्छिन्न अंग है। 'जल टूटता हुआ' उपन्यास के नायक सतीश के चरित्र की ऊर्जा और तेजस्विता इसी इसी दर्द के खिलाफ एक ईमानदारी भरे संघर्ष की उपज है।

दूसरा दर्द जो उस गाँव के जीवन में एक उदासी भरता है, वह है ग्रामीण युवकों की बेरोजगारी का दर्द। लेखक गाँव के जिस साधारण शिक्षित मध्यवर्ग का प्रतिनिधि है, उस वर्ग के जीवन में इस दर्द ने बड़ी स्याह परछाइयाँ डाल रखी हैं। सामाजिक आर्थिक खातों से इस वर्ग की जमीन घटती जा रही है। गाँव में कोई रोजगार नहीं मिलता। किसी तरह तकलीफों के बीच गुजारा कर जब गाँव के युवक आस-पास के कस्बे या शहर में किसी हद तक शिक्षा पा लेते हैं तो एक ओर उनके मन में बेहतर जीवन की ललक जगती है, दूसरी ओर, कहीं रोजगार नहीं मिलता। इन पढ़े-लिखे जवान बेटों पर घर के सारे सदस्यों की उम्मीदे टिकी होती हैं। उनके सारे सपनों को पूरा करने का भार इन्हीं पर होता है। लेकिन, ये जवान बेटे क्या करें? कहाँ छुप जाएँ? अपनी असफलता उन्हें अन्दर ही अन्दर खाती रहती है पर उनके मन की पीड़ा कोई भी नहीं समझता। शायद उसकी नई दुल्हन कभी उसके दुखते दिल को देख पाती है और अपने नए प्यार की आँच से उसे कुछ सहला देती है। लेकिन, कठोर यथार्थ इस आँच से नहीं पिघलता। वह अब भी एक प्रश्न बनकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे घूरता रहता है। गाँव के ऐसे सभी पढ़े-लिखे नौजवानों को नौकरी की खोज में अपना चिर-परिचित गाँव छोड़कर कलकत्ता-बम्बई जैसे पूर्व-पश्चिम के अनजान शहरों में जाना-भटकना पड़ता है। एक ओर घर-परिवार टूटने का दर्द, गाँव के जीवन की अनगिनत चिन्ताएँ, मधु-स्मृतियां, दूसरी ओर, अनजान महानगर की बेरहमी और बीमारियां। इन दो पाटों के बीच पिसते हुए शिक्षित नौजवानों का दर्द हमारे उपन्यासकार के रचनाशील मन को बहुत भिगोता है। अपनी ही किसी दुखती रग की तरह उसे दुखाता है।

और तीसरा दर्द है, प्रेम का दर्द। इस उपन्यास में पूर्वांचल की झाड़-झंखाड़ और टीलों से भरी ऊँची-नीची जमीन पर एक पतली ही सही, लेकिन बिल्कुल ताजी धारा भी बहती है जिसमें प्रेम का स्वच्छ जल कलकल करता हुआ बहता है। प्रेम भी किसका ? ब्राह्मण कुंजू तिवारी और कहारिन बदमिया का। पारिवारिक मुसीबतों के मारे, अकेलेपन की जिंदगी गुजार रहे कुंजू तिवारी की दोस्ती उस बदमिया से हो जाती है जिसका शरीर सारी दुनिया ने नोचा-खाया, पर उसके दिल को किसी ने नहीं अपनाया, उसके औरत होने की कदर नहीं की, उसकी आत्मा के सौन्दर्य को नहीं देखा। लोक गायक कुंजू व्यथा और विद्रोह की जलती आग जैसी बदमिया को अपने गले लगा लेता है। ढलती सांझ में मेले से गाँव लौटते हुए पगडण्डी पर गाए जा रहे किसी दर्द भरे, सुरीले, लंबे कथागीत की तरह गीतात्मक है कुंजू और बदमी का प्रेम। लेकिन, इसमें ओज भी है, आवेग भी है। प्रेम में ओज और आवेग उसके सामने खड़े अवरोधों से आता है। वह प्रेम ही क्या जिसमें समाज की सत्ता से टकराना न पड़े ? जो प्रेम बिना किसी चुनौती का सामना किए, सुविधाओं के बीच हमेशा मीठे-मीठे ही चलता है, उसमें कोई ओज नहीं होता, आवेग नहीं होता। कुंजू और बदमी का प्रेम देहाती इलाकों की शक्तिशाली जाति-व्यवस्था के खिलाफ खड़ा होता है, इसलिए उसमें विद्रोही भाव भी है। उनका विद्रोह सामाजिक है जिसके दो लक्ष्य हैं। एक लक्ष्य उस संकीर्ण पुरुषवादी नजरिए के खिलाफ है जो औरत को सिर्फ शरीर के रूप में एक वस्तु के रूप में देखता है, इस शरीर को किसी न किसी मर्द के कब्जे लायक सम्पत्ति समझता है और स्त्री की आत्मा का सौन्दर्य नहीं देखता, उसके हृदय की भावनाओं की कदर नहीं करता। सभी मरदों से शोषित प्रताड़ित बदमी से प्रेम करके कुँजू समाज में चले आ रहे अहंकारी पुरुषवादी दृष्टिकोण के खिलाफ स्त्री विद्रोह करता है और स्त्री की मानवीय गरिमा को प्रतिष्ठित करता है। इस प्रेम कथा के विद्रोह का दूसरा लक्ष्य सड़ी-गली मिथ्या जाति-प्रथा है जो मनुष्यों को अलग-अलग जातियों में बाँटती है, उनके बीच ऊँच-नीच का झूठा भेद खड़ा करती है और उन्हें आपस में प्रेम करने से रोकती है। कुंजू और बदमी का भावावेश पूर्ण प्रेम सूफियों के प्रेम की तरह कष्ट और बदनामी की धार पर चलकर ऊँची जातवालों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के मिथ्या दम्भ को चकनाचूर कर मनुष्यों की मनुष्यता को प्रतिष्ठित करता है। इस प्रेम में शारीरिक उबाल भी है, वैचारिक ओज भी है। यह दर्द भरी पर आवेगपूर्ण प्रेमकथा न सिर्फ 'जल टूटता हुआ' उपन्यास का बल्कि मिश्रजी की सभी रचनाओं में प्रगतिशील सामाजिक मूल्य और भाव-प्रवण कलात्मक चित्रण की दृष्टि से सर्वाधिक प्रशंसनीय स्थल है।

इस उपन्यास का अंत विश्वसनीय नहीं लगता। सतीश का भाई चंद्रकांत अफसरी की सरकारी परीक्षा पास कर कलक्टर बन जाता है। गाँव को टूटन और तबाही से बचाने के लिए सतीश ने बहुत कुछ किया पर वह उसे बचा न सका। सतीश चंद्रकांत को कलक्टर के रूप में देखकर खुशी से चीख उठता है—"अब मुझे कोई चिन्ता नहीं। आज मेरी सारी मुराद पूरी हुई, मैंने बहुत कुछ खोया है, लेकिन आज जितना पाया है वह अपार है।" जिन समस्याओं से सतीश जीवन भर जूझता रहा पर सफल न हो सका, उन्हें कलक्टर चंद्रकांत कैसे हल कर देगा? जिस व्यवस्था से सतीश और गाँव के दूसरे किसान टकराते रहे, क्या कलक्टर उसी व्यवस्था का एक पुर्जा नहीं? अगर नौकरशाही इस व्यवस्था से अलग या ऊपर नहीं, बल्कि इसी का अंग है, तो फिर सतीश की सभी चिंताएँ दूर कैसे हो गईं?

सतीश की ताकत और उसकी कमजोरी, दोनों की जड़ें उसके मध्यवर्गीय संस्कारों में हैं। उसके संघर्ष और विचारों की सीमा एक मध्यवर्गीय चरित्र की सीमा है। यह मध्यवर्ग शिक्षित और संवेदनशील है, समाज के शोषित वर्गों का दर्द महसूस करता है, उनकी लड़ाई से जुड़ता भी है। इस मध्यवर्ग के सदस्य अपनी बौद्धिक क्षमताओं के कारण समस्याओं की स्थानीयता से ऊपर उठकर संपूर्ण व्यवस्था के धरातल पर सैद्धांतिक ढंग से सोचने की क्षमता रखते हैं। लेकिन मध्यवर्गीय विचार-धारा की सीमाओं के अन्दर ही व्यवस्था का विकल्प नहीं ढूँढा जा सकता। वैकल्पिक व्यवस्था के सही संघर्ष से वे तभी जुड़ पाते हैं जब एक सदस्य के रूप में वे अपना वर्ग-मध्यवर्ग छोड़ देते हैं और उन वर्गों के हो जाते हैं जिनके बल पर वैकल्पिक समाज बन सकता है। नौकरशाही व्यवस्था में बदलाव ला सकती है, यह विचार मध्यवर्गीय है।

इस मध्यवर्गीय विचारधारा में विश्वास रखने के कारण ही उपन्यास में गाँव में होने वाले संघर्षों में पुलिस को या तो न्यायप्राप्ति में सहायक दिखाया गया अथवा हानि रहित। गाँव के गरीबों के लिए पुलिस ऐसी सज्जन या संकोची कभी नहीं रही जैसा उपन्यास में दिखाया गया है।

लेकिन मध्ययुगीन आशाओं के साथ उपन्यास के कमजोर अंत को वैसा ही समझना चाहिए जैसे प्रेमचंद के कई उपन्यासों में जमींदार के हृदय-परिवर्तन से होने वाले अंत हैं। आदर्शवादी अंत के कारण जैसे प्रेमचंद के उपन्यासों में यथार्थवाद का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महत्त्व कम नहीं हुआ, उसी तरह कमजोर अंत के कारण 'जल टूटता हुआ' के यथार्थवादी चित्रण की शक्ति को कम करके नहीं आंकना चाहिए।

उपन्यास के गठन का मूल ढाँचा यथार्थवादी उपन्यासों की क्लासिकल परंपरा के अनुरूप है जिसमें सामाजिक और निजी जीवन के विस्तार और समग्रता को समेटने की कोशिश की गई है। चरित्रों के माध्यम से सामाजिक प्रवृत्तियों का निरूपण किया गया है और इस तरह चरित्र सामाजिक प्रवृत्तियों या वर्गों का प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं। यथार्थवादी उपन्यासों की इसी परंपरा के मुताबिक कथानक की बुनावट एक-एक चरित्र के आधार पर एक-एक प्रसंग की उद्भावना से की गई है जिसमें हर परिच्छेद में एक नये प्रसंग के साथ एक-न-एक चरित्र को प्रस्तुत किया गया है हालाँकि बाद के परिच्छेदों में उस प्रसंग का विस्तार और चरित्र का निरूपण या उत्कर्ष चलता रहता है। सतीश एक वास्तविक चरित्र होने के अलावा लेखक का वैचारिक प्रतिनिधित्व भी करता है। महावीर दूबे, सुग्गन मास्टर, बंसी, कुन्जू, फेंकूबाबा, दीनदयाल और महीप सिंह आदि जैसे चरित्र हिन्दी प्रदेश के गाँवों के वास्तविक चरित्र हैं और लेखक ने उन्हें सही अनुपात में उभारा है। स्त्री चरित्रों के प्रसंग में नारी के प्रति प्रचलित रूढ़िवादी दृष्टिकोण का विरोध करते हुए अपनी प्रगतिशील मूल्य दृष्टि के कारण लेखक का स्वर आलोचनात्मक रहा है और उसने अपने स्त्री-चरित्रों को विशेष रूप से करुणा, सहानुभूति और समर्थन दिया है। बदमी इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। लेकिन सोशलिस्ट रामकुमार के चरित्र को लेखक न केवल बड़ी जल्दी से उसके लिए तय की गई पटरी पर लगा देता है बल्कि लेखकीय तटस्थता को छोड़कर उस जैसे चरित्रों के प्रति अपना निजी तिरस्कार भी प्रकट कर देता है जिससे रामकुमार का चारित्रिक विकास अस्वाभाविक हो गया है।

एक ऊँचे स्तर पर व्यापक यथार्थ को चित्रित करने के लिए आवश्यक ढाँचे को अपनाने के बावजूद उपन्यास का गठन ढीला-ढाला है। उसमें आवश्यक कसाव नहीं है। विवरण ढीला-ढाला और कहीं-कहीं अनावश्यक भी हैं जिनसे वर्णन का प्रभाव बिखरता है और कलात्मकता को नुकसान पहुंचता है। लेखक किसी प्रसंग का वर्णन करता है और फिर अपनी तटस्थता छोड़कर अपने ही वर्णन पर अपनी टिप्पणियाँ भी देता चलता है जो बिल्कुल अनावश्यक है।

("इस जवार की पूरी जिन्दगी की सच्चाई···फिर भी यह गीत और गीतों में विरह का दर्द।" पृ० ४३२) इन टिप्पणियों में भी कोई खास बात नहीं—सिर्फ पहले के वर्णन से निकलने वाले सामान्य निष्कर्ष सूचित किए गए हैं। कलात्मक गठन और चुने हुए शब्दों में संक्षिप्त वर्णन पद्धति पर अगर पूरा ध्यान दिया जाता तो न सिर्फ उपन्यास में कहीं-कहीं आ गया उबाऊपन दूर हो जाता, बल्कि उपन्यास का आकार और मोटापा भी कुछ कम हो जाता।

कलात्मक गठन में इन कमियों के बावजूद शिल्प की दृष्टि से यह उपन्यास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेणु के आंचलिक उपन्यासों की परम्परा के बजाय प्रेमचंद के उपन्यासों की परम्परा के ज्यादा निकट है।

रामदरश मिश्र की भाषा में बनावटीपन बिल्कुल नहीं मिलता। दस आदमियों के बीच जमा देने वाला लहजा भी उनमें नहीं है। एक दम्भहीन, महत्त्वाकांक्षा रहित व्यक्तित्व की तरह उनकी भाषा साहित्यिक मुद्राओं से दूर साधारण व्यक्तियों जैसी सहज भाषा है जिसमें गाँव की बोली के कई शब्द भरे पड़े हैं। कहीं-कहीं क्रियाएँ और क्रिया-विशेषण भी ग्रामीण शब्दों से बने हैं; जैसे, 'चोकरेंगे', 'अभ गई', 'छई बूक रहा', 'रोहा-रोहट', और 'मुँह-बोलारो'। गाँवों में ध्वनि मेल रखते हुए शब्दों के जोड़ बनाने का जो चलन है, वह लेखक की भाषा में कई जगह दिखता है; जैसे, 'पास-वोस', 'सांप-वोप', 'शराव-वोराव', 'चोरी-वोरी', 'नचनिया-वोचनिया', 'अस्पताल-वोस्पताल', 'शादी-वोदी', आदि। ये शब्द प्रयोग यथार्थवादी कला के अनुरूप है। लेकिन, कुछ-एक मुहावरे जो सन् ६० के आस-पास इलाहाबाद के नई कवितावादियों और परिमलवादियों ने चलाए थे और जिन्हें अब समय के प्रवाह ने धो डाला है, बालू पर बच गए कुछ पैरों के निशान की तरह इस उपन्यास में मिल जाते हैं। पृ० २४१ पर महावीर दुवे का चरित्र बतलाते हुए लेखक ने लिखा है: "दिल से मस्त और फक्कड़ दूवे ने इस सारे अकेलेपन को हँसते-हँसते ओढ़ लिया।" यह 'ओढ़ लिया' या 'ओढ़ा हुआ' जैसे मुहावरे सन् ६० के करीव नई कविता वाली पीढ़ी में बहुत प्रचलित थे। लेखक ने किसान जीवन के चित्रण में इनका प्रयोग कई जगह किया है लेकिन वह हर जगह ठीक नहीं लगता। महावीर दूबे के ही प्रसंग में जब लेखक यह लिखता है कि "उन्होंने पूरे परिवार को उसके सारे अभाव और पीड़ा के साथ ओढ़ लिया।" तो यह बिल्कुल नई कवितावादियों का मुहावरा नजर आता हैं और गद्य की यथार्थवादी शैली से मेल नहीं खाता। मिश्रजी का कवि कभी-कभी उनके गद्यकार पर हावी नजर आता है। इस वाक्य में 'ओढ़ लिया' की जगह 'अपना लिया होना चाहिए। उपन्यास में जल को बांधने और फिर उसके टूट जाने और अनेक धाराओं में बिखर जाने के तथ्य को जिस तरह समग्र यथार्थ का एक प्रतीक बनाया गया है, वह भी नई कविता और नई कहानी की कलापद्धति की ही एक विशेषता थी जिसका उन दिनों बहुत चलन था। मूल प्रश्न गाँव की सामूहिक भावना, उसकी सहकारिता की है जिसे पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया ने तोड़ डाला है। गाँव की सामूहिकता का प्रश्न उन सामाजिक-राजनीतिक आधारों का प्रश्न है, जिन पर वह टिकती है। हिन्दी के अधिकांश कवि-लेखक इसे रोमांटिक दृष्टि से देखते हैं और उसके सामाजिक-राजनीतिक आधारों के प्रश्न से उसे काट कर उस सामूहिकता में क्या गलत है और क्या सही है, क्या दमनकारी है और क्या प्रगतिशील है, इस फर्क को भुला देते हैं। पूंजीवाद और उस सामूहिकता की भावना को तोड़कर घोर व्यक्तिवाद को प्रशिक्षित करता है। गाँव की सामूहिकता की चिंता एक तो सामंती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टिकोण से की जाती है। सामंतवाद भी गाँव को सामूहिक आधार पर गठित करता है। असल में पूंजीवाद ने गांव की जिस सामूहिकता को तोड़ा, वह सामंती आधारों पर ही टिकी हुई थी। पर उसमें सभी कुछ नष्ट कर देने लायक न था। सामूहिकता को प्रतिष्ठित करने का दूसरा आधार जनवाद और समाजवाद हो सकता है। जनवादी और समाजवादी दृष्टिकोण से प्रश्न गाँव की सामूहिकता को बचाने का नहीं, बल्कि नये आधारों पर उसे पुनर्गठित करने का है। बेशक, वह पुराने समाज की हर परंपरा और हर संस्था को अंधे पूंजीवाद की तरह तोड़ देने का भी समर्थन नहीं कर सकता। पुराने समाज में भी ऐसा बहुत-कुछ है जिसको तोड़ने की नहीं, बचाए रखने की जरूरत है। रामदरश मिश्र के उपन्यास में सामंती शक्तियों, सामंती शोषण और सामंती मूल्यों के खिलाफ संघर्ष दिखाई पड़ता है पर साथ ही सामूहिकता की उस भावना को भी बचाने की चिंता दिखती है जो सामूहिकता साधारण और गरीब लोगों की सामाजिक-आर्थिक संस्कृति का हमेशा अंग रही हैं। तब फिर उनके मध्यवर्गीय दृष्टिकोण का मूल्यांकन कैसे किया जाए ?

मध्यवर्गीय दृष्टिकोण के मूल्यांकन के संदर्भ में 'जल टूटता हुआ' उपन्यास से अगर कोई राजनीतिक सीख मिलती है तो वह यह है कि सामंती और पूंजीवादी शक्तियों के खिलाफ संघर्ष के मोर्चे में मध्यवर्ग भी एक सहायक शक्ति है। अपने दृष्टिकोण की सीमाओं के साथ या उसके बावजूद वह जनता का अंग है, उसका मित्र है। 'जल टूटता हुआ' उपन्यास में देहाती इलाकों के सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ का ऐसा सजीव चित्रण और प्रभुत्वशाली वर्गों के खिलाफ उठते हुए संघर्ष की अचूक पहचान इस बात का अकाट्य सबूत है कि हम अपने देश के देहाती इलाकों में जिस जनवाद को कायम करना चाहते हैं, उसके संघर्ष में साधारण मध्यवर्गीय किसानों की एक सार्थक और महत्त्वपूर्ण भूमिका होगी।

————

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नर नारी का सहज आकर्षण : बीच का समय

डॉ० प्रेम कुमार

रामदरश जी के बड़े (कैनवस की विस्तृति के आधार पर) उपन्यास— 'पानी के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ', 'अपने लोग' की तुलना में उनके छोटे उपन्यासों—'सूखता हुआ तालाब', 'बीच का समय', 'रात का सफर', 'आकाश की छत' की चर्चा-समीक्षा अपेक्षाकृत कम हुई। इनमें भी 'बीच का समय' कई कारणों से समीक्षा की दृष्टि से उपेक्षित ही रहा है। संभवतः बड़े उपन्यासों के तुरन्त बाद आने के कारण ये छोटे उपन्यास पर्याप्त चर्चा नहीं पा सके। 'बीच का समय' पाकिट बुक में प्रकाशित साहित्य की 'ख्याति' का शिकार हुआ है। साहित्य का पाठक पाकिट बुक में प्रकाशित कृतियों को पूर्वग्रहयुक्त दृष्टि से देखता हुआ उन्हें अनचाहे गुलशन नन्दा, समीर, रानू की श्रेणी में रखकर निश्चिन्त हो लेता है। ख्यातिप्राप्त लेखक भी एक प्रकार के सस्तेपन के भय से इधर लिखने की यकायक हिम्मत नहीं कर पाते। जबकि पाठकों का बहुत बड़ा वर्ग उन्हीं सस्ते कहे जाने वाले लेखकों को पढ़कर संस्कारित हो रहा है। धर्म, दर्शन, संस्कृति, राजनीति और सामाजिक समस्याओं की बड़ी-बड़ी बातें करने वाले निश्चित पाठकों के लेखकों के लिए इतना बड़ा पाठक वर्ग तथा उसकी विकृति रुचि एक चुनौती ही कही जायेगी। इस बड़े पाठक वर्ग की रुचि को उसके स्तर पर जाकर परिष्कृत करने की आवश्यकता जितनी अधिक है उतनी ही मुश्किल भी। 'बीच का समय' पढ़कर एक सुखद अनुभव यह होता है कि रामदरश मिश्र ने इस चुनौती को स्वीकार कर कई मायनों में लेखकीय दायित्व का निर्वाह किया है।

प्रथम पृष्ठ पर अंकित चुम्बन-आलिंगन में लिपटी पंक्तियों को देखकर एक बार लगता है कि उपन्यास अवश्य ही कामेच्छाओं को उभारने-उबालने के लिए लिखा गया होगा। किन्तु पूरा उपन्यास पढ़ चुकने पर प्रकाशक की व्यावसायिक बुद्धि को दाद देनी पड़ती है। इन पंक्तियों के अतिरिक्त पूरे उपन्यास में संभवतः इस प्रकार का उत्तेजक टुकड़ा प्रकाशक को मिल नहीं पाता। खैर, 'बीच का समय' शील और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रीता के पारस्परिक सहज।कर्षण को मनोवैज्ञानिक आधार पर बड़े संयत और गंभीर स्तर पर रेखांकित करने का एक सफल प्रयास है। प्रायः गुरु-शिष्या के कामजनित आकर्षण की संभावना से इनकार ही होता रहा है। भले ही यथार्थ में स्थिति बिल्कुल विपरीत ही क्यों न हो ! 'बीच का समय' इस सम्बन्ध पर नवीन पृष्ठभूमि में लिखने-सोचने का मार्ग प्रशस्त करता है। रामदरश जी के अन्य उपन्यासों की भांति इस उपन्यास में भी गांव, उसके प्रति लेखकीय आसक्ति, जीवन के यथार्थ को पकड़ने की प्रबल आकांक्षा, सामाजिक जीवन की व्याख्या, विश्लेषण, संस्कारित जीवन-दृष्टि आदि स्थान-स्थान पर मिलती है। लघु आकार और रोमेंटिक अंदाज वाले इस उपन्यास में व्यक्तिवादी होने के खतरे कम नहीं थे, किन्तु 'बीच का समय' व्यक्ति-वादिता से सर्वथा मुक्त है।

शील गुजरात की शिक्षण संस्था में अध्यापक है। उत्तर प्रदेश के एक गाँव के संस्कार उसने पाए हैं। हर चीज को वह अपने घर-परिवार और प्रदेश के परिप्रेक्ष्य में ही वहाँ देखता है। उसके व्यक्तिगत जीवन के अभाव, पारिवारिक जीवन के तनाव और माँगे उसे निरन्तर अकेलेपन का अहसास कराती रही हैं। अनमेल विवाह का शिकार शील दाम्पत्य जीवन के सुख को कभी भोग नहीं पाया। पत्नी की निर्दोषता और भोलेपन का समर्थक उसका मन पत्नी से जुड़ाव अनुभव नहीं कर पाता। इसी-लिए रीता की जरा-सी आत्मीयता उसे इतना अधिक आकर्षित कर लेती है। आकर्षण शील और रीता दोनों के मध्य है। रीता को शील अच्छा लगता है, बहुत अच्छा लगता है। शील को रीता की आवश्यकता कई रूपों में अनुभव होने लगी है। किन्तु उस आकर्षण के पीछे कार्यरत दोनों की मानसिकता में पर्याप्त अन्तर है। दोनों की मानसिकता के इस भेद के मूल में उनके संस्कार, प्रदेशीय आचार-विचार और मान्यताएँ रही हैं। समान सहज आकर्षण के बावजूद शील और रीता की संस्कार-जन्य मानसिकता की भिन्नता के परिणामस्वरूप ही उनके सोच और वांछाओं में अन्तर आया है। अन्तर की इस परस्पर टकराहट की अनुगूंज उपन्यास में सर्वत्र सुनी जा सकती है। आकर्षण अनुभव करने के बाद शील एकांत क्षणों में जब भी रीता की बाबत सोचता है तो उसके शरीर की मांग रीता के शरीर को सम्पूर्ण पा लेना चाहती है, जबकि रीता साहचर्य-भोग से तृप्त है। शरीर के स्तर पर शील के साथ सम्पर्क की इच्छा जैसे उसके मन में आती ही नहीं है। शील उस प्रदेश का वासी है जहाँ 'स्त्री-पुरुष के बीच या तो मौन है या फिर दूषित सम्बन्ध', जबकि रीता के प्रदेश में लड़के-लड़कियों के बीच वैसी दीवार नहीं है। रीता का शील के साथ किया गया प्रत्येक व्यवहार श्रद्धामिश्रित है और रीता के लिए सहज है, जबकि शील के लिए वह एक आमन्त्रण लगता है। सुरम्य प्रकृति के एकांत उत्तेजक क्षणों में रीता की अस्वीकृति और वर्जना शील को चकित करती है तो रीता स्तब्ध रह जाती है शील के इस प्रकार के आचरण से। शील नहीं समझ पाता कि रीता का उसके साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह हेल-मेल, घूमना-फिरना, एकांत साहचर्य आखिर किसलिए है। उसकी समझ में इसके पीछे जो कारण आता है। उसका रीता द्वारा किया गया विरोध उसे पश्चात्ताप की आग में जलाता है। यूं पारिवारिक दायित्व-बोध, सामाजिक दबाव, व्यक्तिगत साहसहीनता रीता से सम्बन्ध से पूर्व भी उसे लड़कियों से सहज होने से रोकती रही है, नारी-पुरुष के भिन्न-भिन्न संस्कारों की यह टकराहट भावनात्मक स्तर पर रीता और शील को अलग-अलग प्रकार से परिचालित करती है। एक-दूसरे के व्यवहार को देखने की उनकी दृष्टियां तो भिन्न हैं ही, पहाड़ी जंगल में शील के वेग से समाने और रीता के उसकी बाहों में टूटते चले जाने की घटना पर भी उनकी प्रतिक्रियाएँ भिन्न हैं। शील के समक्ष रीता ने उस घटना पर अपनी भावना व्यक्त करते हुए स्वीकार किया है—'वास्तव में सर, आपके साहचर्य में मुझे एक माधुर्य के साथ-साथ पवित्रता भी अनुभव होती है और न जाने उस दिन की उस क्रिया ने कैसी-कैसी चुभन भर दी—जैसे शीशा टूट गया हो और उसके अनेक टुकड़े बिखरकर चुभने लगे हों···यदि वही करना मेरा ध्येय होता तो बहुत से लोग मिल जाते·· लेकिन आप में ऐसा कुछ है जो मुझे औरों में नहीं दिखाई पड़ा और जब वही, टूटता हुआ अनुभव हुआ तो पीड़ा से अंग तड़प उठा।' रीता की पीड़ा तथा उसके शील से सम्बन्ध पर उस घटना के तुरन्त बाद का एक प्रश्न-वाक्य बहुत अच्छी तरह से प्रकाश डालता है—'कैसा लगता है सर, जब एकाएक कोई आदर्श मूर्ति टूटकर वहीं गिर जाती है जहां हजारों-लाखों सामान्य मूर्तियां गिरी होती हैं।' यह स्मरणीय वाक्य शील के साथ-साथ पाठक के भाव जगत में अनेकशः उथल-पुथल मचा देता है। इस मधुर-पवित्र साहचर्य से रीता जिस प्रकार सुख प्राप्त करती है, शील उससे असहमत है। रीता की मान्यता है कि साथ बैठकर मीठी-मीठी बातें करने का अपना एक सुख होता है तथा साहचर्य में स्पर्श और चुम्बन तक पहुच जाना आपत्तिजनक या हानिकर नहीं है। इसके अतिक्रमण में उसे भयंकर परिणाम दिखाई देते हैं। शील की असहमति प्रेम के दैहिक रूप का समर्थन करती है—'प्रेम का असली रूप यही है मिस रीता, वह अपने असली रूप में जंगली ही होता है—आदिम और उद्दाम। वह वहीं जाकर ठहरता है। उसके पहले की सारी परिस्थितियाँ तो बनावटी और अधूरी होती हैं। आदर्शवादियों और कायरों द्वारा आरोपित···' दो पात्रों के मानसिक संघर्ष को उभारते हुए लेखक ने प्रेम के दैहिक और भावनात्मक रूप का संक्षिप्त और गंभीर विश्लेषण किया है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि गुजरात की समस्त उन्मुक्तता और शील की उद्दाम ऐन्द्रिकता के बावजूद नवीन मूल्य स्थापना के मोह में लेखक ने स्वस्थ मूल्य व अपेक्षित आदर्श की अवहेलना नहीं की है। जितना सहज यह पारस्परिक आकर्षण और सम्बन्ध हो सकता है, उतना ही सहज उपन्यास में व्यक्त हुआ है।

यद्यपि उपन्यास का कथ्य मूलतः अध्यापक और शिष्या के सम्बन्धों के स्वरूप और सम्भावना की तलाश पर ही आधारित है किन्तु उपन्यासकार का चिन्तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समालोचक इसके अतिरिक्त अनेक प्रश्नों पर अन्य कोणों से विचार करता चला है। शील चूंकि अध्यापक है अत: अध्यापक जीवन की कटुता-मृदुता उपन्यास में प्रामाणिक रूप से व्यक्त हुई है। शिक्षण संस्थाओं में राजनीति का प्रवेश पैंतरेबाजी उठा-पटक आदि के फलस्वरूप प्रतिभावान अध्यापकों, शिक्षार्थियों और शिक्षा के हो रहे अहित को बड़े क्षोभ के साथ लेखक ने व्यक्त किया है। रीता के साथ अपने सम्बन्ध के औचित्य—अनौचित्य पर सामाजिक दृष्टि से विचार करते हुए वह समाज के ठेकेदारों, काला-बाजारियों, बेईमानों के प्रति क्रुद्ध हो उठता है। उसका मन होता है कि देश के ऐसे दुश्मनों को वह हमेशा के लिए समाप्त कर दे। प्रान्तीय स्तर पर जनसामान्य के दैनिक जीवन में अन्तर देखकर उसे अपने प्रांत के लोगों की अक्षमता, सीमाबद्धता और अकर्मण्यता पर अफसोस होता है—'गुजरात के कृषक, वहाँ के युवक, वहाँ के वृद्ध उसे अपने यहाँ के कृषकों, युवकों और वृद्धों की अपेक्षा अधिक दृढ़, परिश्रमी, उनमुक्त और इसीलिए खुशहाल नजर आते हैं। गुजरात के जीवन के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक भौगोलिक चित्र उपन्यास में यथास्थान परिवेश चित्रण के समय चित्रित होकर विवेचित-विश्लेषित हुए हैं। प्रकृति-चित्रों में लेखक की विशेष रुचि और कवित्वमय अभिव्यक्ति द्रष्टव्य है।

उपन्यास की प्रभावात्मकता का रहस्य उसकी काव्यमयी भाषा और शैल्पिक संरचना में निहित है। कथ्य प्रेम सम्बन्ध से जुड़ी अन्तर्मन की जिस सहज, कोमल अनुभूति को लेकर चला है, शिल्प ने उस कोमलता, सहजता को और अधिक सजाया, सँवारा और तराशा है। नाटकीय शिल्प के आधिक्य से एक विशेष प्रकार की गति उपन्यास को मिली है। संवादों के अनेक प्रकार उपन्यास में उपलब्ध हैं। रीता का चांचल्य, उन्मुक्तता उसके प्रत्येक व्यवहार और संवाद में प्रकट है। शील का द्वन्द्व, झिझक, तनाव, वांछाएँ आदि उससे जुड़ी प्रत्येक पंक्ति में द्रष्टव्य है। भाषिक संरचना और शैल्पिक गठन के कारण उपन्यास में एक लय, एक संगीत अपनी अनुगूंज प्रत्येक स्थल पर सुनाते नजर आते हैं।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्य विघटन की त्रासदी : सूखता हुआ तालाब

डॉ० ज्ञानचंद गुप्त

'सूखता हुआ तालाब' रामदरश मिश्र का चौथा उपन्यास है। 'पानी के प्राचीर' उपन्यास में उत्तर प्रदेश का स्वाधीनतापूर्व का गाँव है और 'जल टूटता हुआ' में स्वाधीनता के बाद का जब कि 'बीच का समय' उपन्यास गुजरात के जीवन को लेकर चला है। 'सूखता हुआ तालाब' प्रथम दो उपन्यासों के क्रम में समकालीन ग्राम-जीवन के बदलते भाव-बोध को प्रस्तुत करता है जिसमें समय के दबाव के नये स्वरों एवं नये नाते-रिश्तों की परख और पहचान उभारी गई है। भ्रष्ट राजनीति, स्वार्थी घेरा-बन्दी, पदलोभी प्रवृत्ति, अनैतिक स्थितियाँ, सामाजिक एवं नैतिक मूल्य-विघटन आदि विविध सन्दर्भ-बिन्दु हैं जिनके बीच से गुजर कर लेखक ने गाँव को उसके नये रूप में, नयी चुनौतियों के बीच पहचानने की कोशिश की है। यथार्थ की विविध भंगिमाओं को आंकने में लेखकीय दृष्टि सक्षम है। यथार्थ के विविध आयामों की बहुस्तरीयता यहाँ परिस्थितियों, सम्बन्धों, सम्वेदनाओं और मूल्यों के अन्तर्विरोधों के पारस्परिक संग्रंथन और संश्लिष्ट रचाव में द्योतित होती हैं। अन्तर्विरोधों के तनाव को पहचानते हुए यथार्थ को उसकी 'टोटेलिटी' में पकड़ लेना ही सही यथार्थ-वादी दृष्टि कहलाती है, जो यहाँ है। 'सूखता हुआ तालाब' में यथार्थ के इन अन्त-र्विरोधों के तनाव की परख सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक सम्बन्धों और मूल्यों के स्तर पर तो है, वैयक्तिक स्तर पर भी है। क्या वर्गीय और क्या व्यक्तिगत दोनों प्रकार के अन्तर्विरोध और तनाव यहाँ कृति में रचपच कर उसकी आंतरिकता से उद्भूत हुए हैं। चेनइया और देवप्रकाश दोनों के चरित्र इस सन्दर्भ में देखे जा सकते हैं। चेनइया शोषित वर्ग की होकर वर्गीय अंतर्विरोध उभारती है तो देवप्रकाश वैयक्तिक।

अन्तर्विरोधों की पहचान और विविध तनावों के तेवरों की परख में लेखकीय दृष्टि प्रगतिशीलता की हामी दृष्टिगत होती है। यह बात अलग है कि लेखक एक दल विशेष की नीतियों को प्रचारित करना अभीष्ट नहीं समझता। प्रगतिशीलता की पक्षधरता वह सपाट ढंग से, नारेबाजी से या उपन्यास में स्वयं उपस्थित होकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी वक्तव्यवाजी से नहीं करता। वह उसे अन्तर्विरोधों से रचता है। व्यंग्यों से बनाता है। संकेतों, ध्वनियों और बिम्बों से गति प्रदान करता है। अभिजात वर्ग की कुरूपताओं पर चोट, उनके अत्याचारों पर चोट वह बड़े गहरे अन्दाज से करता है। एक-एक सन्दर्भ में कई-कई बातों को एक साथ प्रकट करता है जैसे शिकारपुर में शिवलाल के यहाँ हरिवंश पुराण-कथा के सन्दर्भ को देखिये। धार्मिकता की निस्सारता, आडम्बरप्रियता, अस्पृश्यता, सामाजिक यथार्थ के गलीजपन आदि सभी पर लेखकीय दृष्टि व्यंग्यात्मक चोट करती है और हमें इस सब पर सोचने को विवश करती है। एक अन्य सन्दर्भ में मोतीलाल (कम्युनिस्ट नेता) का जो चरित्र अंकित किया है उससे उसकी स्नावरी, कृत्रिमता, स्वार्थीपन एवं ताल-मेली प्रवृत्ति पर गहरी चोट कर लेखक ने असलियतों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। जो भी हो लेखक अपने निजी साहित्यिक ढंग से अभिशप्तों के दर्द को वाणी देता है। उसमें कलात्मकता एवं संश्लिष्टता है। फार्मूलावद्ध दृष्टि से लेखक प्रायः वचता है। लेखक ने अभिशप्त वर्गों की क्या धार्मिक, क्या आर्थिक, क्या सामाजिक और क्या राजनीतिक सभी तरह की पीड़ा को मानवीय धरातल पर लाकर अभिव्यक्ति दी है। उपन्यास का देवप्रकाश भले ही हमें अन्त में टूट कर गाँव से पलायन करता हुआ दिखाई देता है लेकिन वह अकेला गाँव में मूल्यों की रक्षा हेतु गाँव का बहिष्कार सहता है, कदम-कदम पर प्रतिरोध करता है, और अन्त में घोर विरोध और अकेलेपन के वावजूद अपने नारायणपुर के साथी शंकर को ही पंचायत में वोट देकर सरपंच चुनवाता है। मिश्र जी का सर्जक मूलतः सामाजिक सन्दर्भों में टूटते-बनते सम्वन्धों और वनते-बिगड़ते मानवीय मूल्यों के अन्तर्विरोधों की पर्तें खोलने की ओर ही प्रवृत्त होता है, वह परिवेश से कटकर यौन-कुण्ठाओं को अभिव्यक्ति नहीं देता। उसके सामने गाँव के सामाजिक जीवन का ठोस यथार्थ होता है। वह पहले से अपनी मंजिल की यात्रा को शार्टकट्स में नहीं बाँटता; भाषा और प्रयोग के उलझाव में नहीं उलझाता, वह चलता जाता है, रास्ते बनते जाते हैं।

'सूखता हुआ तालाब' ग्रामीण जीवन की सामूहिक जिन्दगी में लगे घुन और उसमें व्याप्त टूटन एवं विभिन्न विसंगतियों का ऐसा चित्र है जिसमें समस्त गाँव अपने आडम्बरों, अपने रीति-रिवाजों एवं अपनी छवियों-अछवियों को लेकर प्रस्तुत हुआ है। गाँव की इस अंतरंग यात्रा में आज गाँव में उभरते भौतिकवादी युग के प्रभावों की छाया स्पष्ट परिलक्षित होती है। वहाँ के दैनिक जीवन में भी राजनीति की पेचदार घटनायें घटती हैं। आज गाँव के नाते-रिश्ते भी फीके पड़ गये हैं। पहले गाँव के एक घर की बेटी सबकी बेटी होती थी और इज्जत-आबरू की सब कद्र करते थे, लेकिन आज वहाँ बहुत कुछ परिवर्तित है। व्यक्ति आज गाँव में भी अकेलापन अनुभव करने लगा है। संबंधों के इस बदलाव एवं मूल्यबोध से वहाँ नयी मानसिकता उभर रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गाँव के देवप्रकाश जो पाँच वर्ष पूर्व स्टेशन मास्टर को पीट, नौकरी को लात मार अपनी खेती के मद में गाँव की स्वाभिमानपूर्ण जिन्दगी जीने का स्वप्न लिए आये थे, आज अपने में अकुलाहट ही अनुभव नहीं करते अपितु टूटकर गाँव से फिर एक बार नाता तोड़कर नौकरी के लिए शहर की ओर चल पड़ते हैं। गाँव की स्थिति आज यह हो गई है कि या तो वहाँ हिजड़ा रह सकता है या फिर बदमाश। गाँव की सामान्य-सी घटनायें भी राजनीति से परिचालित होती हैं—यही उपन्यास का मुख्य स्वर है। और तो और यौन-संबंधों की सामाजिक नैतिकता की नियन्ता भी राजनीति ही है, यह यहाँ भलीभांति मुखरित है। ग्रामीण समाज में छोटी-बड़ी जातियों के पारस्परिक यौन-संबंधों में राजनीति कहीं तो सहज-स्वाभाविक शारीरिक आवश्यकता को नकारती है तो कहीं इसकी रक्षा करती है। वस्तुतः उपन्यासकार की दृष्टि में राजनीति दुष्ट गिरोह की कूटनीति बन गई है जो सीधे-सरल हृदय वालों के लिए एक नागपाश है। देवप्रकाश का ग्राम-समाज में बहिष्कार होता है क्योंकि उनके छोटे भाई अवतार ने (जो कि विधुर थे) पड़ौसी गाँव की पासिन से प्यार किया था। जबकि शिवलाल, शामदेव, धर्मेन्द्र, दयाल, मोतीलाल आदि पर्दे के पीछे रोज यही सब कार्य करते हैं। गाँव की बहू-बेटियों की इज्जत लूटना उनके लिए कोई घृणित कार्य नहीं और न ही कोई उनकी ओर आँख उठा सकता है, क्योंकि वे एक गुट से जुड़े हैं, जो ग्रामीण राजनीति का नियंता है। बेशर्मी की हद तो उस समय दीखती है जब शिवलाल की लड़की को मास्टर धर्मेन्द्र का गर्भ रह जाता है लेकिन गुट के होने के नाते ही उसका लड़का रामलाल धर्मेन्द्र का पक्ष लेता है और अपनी बहिन के साथ हुए अवैध संबंधों को भी वैधता प्रदान करता है। गाँव की राजनीति के नियन्ता ठेकेदार शामदेव शिवलाल आदि शरीर की स्वाभाविक यौन-आवश्यकता को धर्म की सड़ांध से जोड़ अपना उल्लू सीधा करते हैं और नये-नये कुचक्रों का आये दिन सृजन करते रहते हैं—जैसे धर्मेन्द्र का गर्भ मढ़ देते हैं रवीन्द्र के सिर आदि।

गाँव की समूची सामाजिक जिन्दगी वस्तुतः राजनीति की विषाक्तता के कारण टूट रही है। सामूहिक जन-जीवन की टूटन का प्रतीक है—'रामी तालाब', जिस पर कभी कथा-वार्तायें होती थीं, धार्मिक अनुष्ठानों का समापन शोभा बढ़ाया करता था, लोग मनौतियां मानते थे, उसके पारदर्शी जल में स्नान किया करते थे। विशिष्ट सांस्कृतिक अवसरों पर अच्छी-खासी स्नानार्थियों की भीड़-भाड़ होती थी। लेकिन आज वही रामी तालाब दुर्गन्धयुक्त गन्दे पानी का तालाब है जिससे चारों ओर सड़ांध फैलती है। इस तालाब का सूखना गांव के पुराने मूल्यों का चुकना है, कीचड़ के रूप में बचे हैं—अज्ञान और अंधविश्वास तथा सड़ांध का फैलना। यहाँ की जिन्दगी ईर्ष्या-द्वेष एवं पारस्परिक वैमनस्य का प्रतीक है। आज यह तालाब अपनी इयत्ता एवं सामूहिकता दोनों गँवा बैठा है और इस सार्वजनिक तालाब को भी एक-दो सरगना लोगों ने अपने नाम लिखवा लिया है तथा वे अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यावसायिक प्रवृत्तिवश आज इसके दोहन से मछलियों का कारोबार चलाते हैं। वस्तुतः रामी तालाब गाँव की टूटती जिन्दगी का प्रतीक बन गया है।

गाँव के प्रतिष्ठावान हों या बदनाम सभी किसी-न-किसी कुकृत्य से जुड़े दिखलाई पड़ते हैं और अन्दर-ही-अन्दर कैंचियां चलाते हैं तथा आदर्श एवं महानता का चोगा पहनते हैं। गाँव के इन चेहरों को ही तो देखकर शंकर चिंचित है और भविष्य की चिन्ता उसे मथती है कि, "क्या होगा गाँव का, जहाँ जड़ता इतनी कि एक बेवकूफ आदमी भी सोखा ओझा बनकर ठग ले और जहाँ चालाकी इतनी कि हर आदमी अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को बेच खाये।"[1] यों तो गाँव में किसकी किससे छिपती है लेकिन उस वक्त बड़ा आनन्द आता है जब ज्योतिषी जी गाँव में आकर एक-एक की बखिया उधेड़ते हैं और कलई खोलते हैं और सब अपनी-अपनी सीवन बचाने के चक्कर में एक-दूसरे को नंगा करते दृष्टिगत होते हैं। भेद न खुलने की मनौतियां मानते हैं और देवी-देवताओं के साथ भी ब्लैकमेल करते हैं।

गांव में मोतीलाल जैसे नेता हैं, जिसका न कोई सिद्धान्त है और न व्यवहार। मिश्र जी ने बड़े ही कौशल से उस पर फब्तियां कसी हैं। कहीं उसे हिजड़े की संज्ञा दी है तो कहीं उसे वस्तुस्थिति को न संभाल पाने के डर से भगोड़ा बनाया है। आज ऐसे ही नेता तो रह गए हैं जिनका नेतापन हमें कहीं नहीं पहुँचा पाता। उनके मंत्र केवल उनके अपने स्वार्थ हैं जिनके वशीभूत होकर उन्हें राग अलापने पड़ते हैं। मोतीलाल प्रगतिवादी विचारधारा का उन्नायक कामरेड बनता है लेकिन सारे उपन्यास में अन्याय के प्रति उसका एक वाक्य भी सुनाई नहीं पड़ता। सामाजिक अन्याय को देवप्रकाश बेचारा अकेले झेलता है, उसे वैचारिक सहारा तक नहीं देता। लेकिन जब गाँव में छोटे भाई की विधवा बहू के साथ उसके अवैध संबधों की चर्चा बहुत फैल जाती है तो वह बड़ी आसानी से एक और असत्य से समझौता कर लेता है। रातों-रात ओझा सोखा बुलाकर भूत भगवाता है, गाँव वालों की लल्लो-चप्पो करता है और उनको (गाँव के भ्रष्ट बड़बोलों को) दावत देता है। बड़ी ही अजीब किस्म का अजीब आदमी है। बिल्कुल गिरा हुआ। कतई अस्पष्ट। एक तरफ तो वासना को वैज्ञानिक आधार पर शरीर की आवश्यकता मानता है और दूसरी ओर प्रायश्चित करता है। उसमें इतनी विचार-क्षमता नहीं है कि अपनी बात को अपने परिवार अथवा ग्राम-समाज में मनवा सके। अतः उसके चरित्र में नपुंसकता, अस्पष्टता, स्वार्थवादिता एवं छल-छद्म सभी नेतायी अंदाज के है।

धार्मिक-अनुष्ठानों की स्थिति भी इस उपन्यास में बड़ी निराली है, क्योंकि उनके मूल में आस्तिकता एवं गहरी संवेदनशीलता का कोई तकाजा नहीं है। शिवलाल हरिवंश पुराण की कथा का आयोजन शुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं करते अपितु

१. रामदरश मिश्र : सूखता हुआ तालाब, पृ० ८२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खाली समय को काटने एवं अपने पुत्र की सन्तान-कामना से करते हैं। मजे की बात तो यह है कि पुराण-कथा में फिल्मी गीतों की तरज़ें चलती हैं। कीर्तन मंडली के कर्ता-धर्ता हैं धर्मेन्द्र मास्टर एवं दयाल जैसे पापी जो कीर्तन प्रारम्भ करने से पहले अपने खेत में गरीब चमार की बेटी चेनइया की अस्मत लूटते हैं। कीर्तन में हुई थोड़ी देरी को झूठे बहानों से छिपाते हैं। बात यहीं तक रहती तो भी ठीक, लेकिन पराकाष्ठा उस समय आती है जब प्रसाद बाँटते समय चेनइया के भाई का हाथ प्रसाद को छू जाता है तो बदले में धर्मेन्द्र कड़ाक से गाल पर चाटा मारता है। इस घटना के रूपायन में लेखक की व्यंग्यात्मकता की लपेट में हमारी ढकोसलापूर्ण धार्मिक स्थिति, अस्पृश्यता एवं हमारा आन्तरिक सामाजिक यथार्थ सभी कुछ एक साथ आ जाता है।

गाँवों में हुए सांस्थानिक परिवर्तनों ने वहाँ की वैचारिकता एवं मानसिकता में नयी हिलोरें उत्पन्न की हैं। गाँव आज वे गाँव नहीं रहे हैं। लेखक का दर्द अनुभूतिजन्य है। न कहीं मानवता और न कोई मूल्य। बचा है केवल सुविधापरक समझौता। इन बदलते सन्दर्भों में देवप्रकाश को अपने बेटे रवीन्द्र की बात ठीक लगती है कि इस गाँव में या तो नपुंसक जी सकते हैं या फिर बदमाश। पहले गाँव में एक-दो चोर-उचक्के होते थे। अब सारा गाँव हो गया है। पहले दो-एक तरह की बदमाशियां होती थीं अब तरह-तरह की होती हैं। देवप्रकाश अन्त में मानसिक ऊहापोह में फँसा अपने बेटे को अन्दर-ही-अन्दर संबोधित कर कह रहा है, "तू बन जा, तुझे जो बनना हो। जीने के लिए जरूरी है—हाँ जरूरी है।···जीने के लिए जीने की परिभाषा जैसे कोई एक आवाज भीतर से निकल कर फांस रही है···जीना··· क्या वह जीना नहीं है, जिसे वह सबके विरोध के बावजूद जी रहा है।···क्या अपने वैशिष्टय को खोकर भीड़ में खो जाना ही जीना है···ओह कुछ भी समझ नहीं आ रहा है।"[1] विचारों के आरोह-अवरोह में फँसा देवप्रकाश अपने मूल्यवादी संस्कारों से लड़ता है। और तो और परिस्थितियों की जकड़ इतनी सघन हो जाती है कि गाँव के एकमात्र साथी जैराम भी अपनी भाभी के दबाव में आकर अपने भाई के मृत्युभोज पर देवप्रकाश को निमंत्रित नहीं करते, क्योंकि वह बहिष्कृत है। देवप्रकाश इस घटना से और भी टूट उठता है।

अन्त में नारायणपुर के दोस्त शंकर को चुनाव में सरपंच बनवा कर चुनाव-स्थल से ही गाँव से सदा के लिए मुंह मोड़ स्टेशन की राह पकड़ लेता है, क्योंकि अब उसकी दृष्टि में सत्य और न्याय के लिए उठती हुई आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज बनकर रह गई है। मार्ग में झुटपुटे में नदी के पास ही अपनी विवशताओं, अभावों और पापों की ममतामयी गठड़ी उठाये जाती हुई चेनइया मिली जो कि सदा

१. रामदरश मिश्र : सूखता हुआ तालाब, पृ० १०७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए गाँव से विदा हो रही थी। गाँव ने ही उस बेचारी को वेश्या तक बना दिया और गाँव का बोझा ही वह अपने गर्भ में ढो रही थी। कैसा बीहड़ हो गया है ग्रामीण परिवेश, जहाँ दूसरों के पापों के भेद बनाये रखने के लिए चमरौटी की चेनइया को अपने घर और गाँव से भी हाथ धोना पड़ा।

देवप्रकाश का अपने गाँव से वोट देने के लिए नारायणपुर जाना, वहाँ से न लौटना तथा यकायक वहीं से सीधे स्टेशन की राह पकड़ना और गाँव को सदा के लिए छोड़कर चल देना कुछ अटपटा, अयथार्थ और कुछ निराशाजन्य लगता तो है, लेकिन मानसिक ऊहापोह के क्षणों में इस प्रकार के क्षणिक निर्णय भी व्यक्ति लेता है और ऐसे ही निर्णय के कारण तो देवप्रकाश गाँव में आया था जब उसने शहर में नौकरी पर स्टेशन मास्टर को पीटा था। अतः देवप्रकाश का निर्णय अवास्तविक न होकर टूटनजन्य वास्तविकता है जिनसे इन्कार नहीं किया जा सकता जिसमें मानवीयता का गहरा संस्पर्श है। और फिर संघर्ष मात्र सतह पर दीखने वाला ही तो नहीं होता उसका आन्तरिक स्वरूप भी होता है। गाँव के भोज-भात के अवसरों पर, हरिवंश पुराण कथा के सन्दर्भ में, चुनावी प्रसंग में, अपने बेटे रवीन्द्र के झूठे आरोप के सिलसिले में वह कितना अन्तर्विरोध सहता है, कितने तनाव झेलता है इसे पाठक ही जानता है जब वह कृति से गुजरता है। देवप्रकाश का संघर्ष बड़ा मानवीय और आन्तरिक है। चेनइया के प्रसंग में भले ही शिकारपुर में गरमागरम संघर्षशील नारे न उपजे हों लेकिन क्या गाँव के अनेक सजातीय लोगों के सामने उसका भागना एक प्रश्नचिह्न नहीं लगाता, हमारे भ्रष्ट सामाजिक जीवन के प्रति घृणा और वितृष्णा नहीं उभारता, हमारे मन में आक्रोश नहीं उत्पन्न करता। निश्चय ही एक अनुत्तरित प्रश्न गाँव के सामने जलता रह जाता है। रही बात संगठनात्मक विरोध की, वह किताबी तो हो सकता है, वास्तविक नहीं। आज कहाँ, किसे किसकी आग में कूदने की फुर्सत है। सभी तो तेज दौड़ में व्यस्त हैं। शहर से गाँव में विरोध की संभावनाएँ अधिक हैं, क्योंकि वहाँ सबकी एक सामूहिक पहचान होती है। लेकिन बदलते हुए सन्दर्भों ने, नये सम्बन्ध-बोध और मूल्यबोध को विकसित किया है जिसमें भौतिकता की भी अपनी हिस्सेदारी है। औपन्यासिक अंत बड़ा ही कलात्मक एवं सूझ-बूझ वाला एवं सांकेतिक बन पड़ा है जो बहुत कुछ न कहकर उससे ज्यादा ध्वनित कर देता है।

अपने रूप-बन्ध में 'सूखता हुआ तालाब' आँचलिक उपन्यास है, लेकिन इसके वस्तु-संयोजन में कथात्मक बिखराव के स्थान पर कसाव है। प्रतीकात्मकता इसकी अपनी एक उपलब्धि है। और तो और इसका नामकरण तक प्रतीकात्मक है। 'सूखता हुआ तालाब' गाँव की टूटती जिन्दगी का प्रतीक है। उपन्यास के चरित्र बड़े ही जीवन्त एवं यथार्थ की धरती से लिए गए हैं। धर्मेन्द्र आदर्शवादी पाखण्डी, चरित्रहीन मास्टर है। मोतीलाल मुखौटेबाज कम्युनिस्ट नेता हैं जिनकी कथनी और करनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी समानान्तर नहीं चलती। अपने नौकर मुरतिया की पिटाई का पक्ष न लेकर उसके पिटने को ही सार्थक मानते हैं क्योंकि शिवलाल से टक्कर लेना उनके वश की बात नहीं। अपने छोटे भाई की बहू के साथ, अनैतिक सम्बन्ध-निर्वाह करते हैं उसके शरीर की बाइलोजिकल आवश्यकता मानकर। और जब गाँव में वितंडावाद खड़ा होता है तो पूजा-पाठ और भोजभात से शान्त करते हैं। राजनीति में भी अपने जमीन के स्वार्थ से बँधकर अपने गाँव के दसनंबरी शामदेव का समर्थन करते और करवाते हैं जबकि शंकर तुलनात्मक दृष्टि से कहीं बढ़िया उम्मीदवार था। शामदेव, शिवलाल, रामलाल, जैराम थोड़े बहुत एक-सी कोटि के यथार्थ पात्र हैं। कोई काईयां है, कोई धूर्त, कोई चालबाज है तो कोई थोड़ा शरीफ। हैं गाँव की धरती के जाने-पहचाने से पात्र। देवप्रकाश और चेनइया दोनों अपनी-अपनी अलग-अलग और थोड़ी विशिष्ट पहचान उभारते हैं। इन दोनों के रूपायन में लेखकीय द्विधा दृष्टिगत हो सकती है।

विविध प्रसंगों में गुंथे हुए लोकगीतों का इस्तेमाल दुहरे और जटिल अर्थों के रूपायन के लिए हुआ है। लोकगीत केवल गाँव की परम्पराओं से जुड़कर मात्र उनका सांस्कृतिक उद्घाटन नहीं करते अपितु नये सन्दर्भों में उनके बदलते रूप की ओर इंगित कर पात्रों की मनःस्थितियों, संवेदनाओं एवं चेतना के नये आवर्तों को खोलते हैं। खेतों में काम करती चेनइया का गीत इस संदर्भ में द्रष्टव्य है। भाषा-शैली सार्थक एवं प्रवाहपूर्ण तो है ही उसमें प्रयुक्त मुहावरे एवं लोकोक्तियां जनभाषा की प्रयोगशीलता को प्रतिपादित कर कथा को आन्तरिक दीप्ति प्रदान करते हैं। विभिन्न बिम्बों, प्रतीकों, ध्वनियों, रंगों ने गाँव की धरती की धड़कनों को एवं मिट्टी की सोंधी को बखूबी पहचाना है तथा उपन्यास के लघु कलेवर में ग्राम-जीवन की एक और तस्वीर उभरकर आई है। कहा जा सकता है कि 'सूखता हुआ तालाब' पाखण्डों और टूटते सम्बन्धों का अजीबो-गरीब सिलसिला है जो खून के रिश्तों को पानी में और पानी के रिश्तों को खून में बदले जाने की कथा कहता है।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक अन्तर्विरोधों का सन्दर्भ : अपने लोग

डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी

रामदरश मिश्र के कथा-साहित्य का वह कौन-सा पक्ष है जो सबसे अधिक आकर्षक है ? रामदरश जी जिन पात्रों और घटनाओं से उपन्यास का ताना-बाना बुनते हैं वे बहुत परिचित होते हैं । वे हमें अपनी असाधारणता या असामान्यता से चौंकाते नहीं, बल्कि अपनी विश्वसनीयता से हमें आकृष्ट करते हैं और सहजता से निमन्त्रित करते हैं कि हम उनके साथ चलें, घूमें, उनकी जिन्दगी में जो हो रहा है उसे समझें-बूझें । यह उनके उपन्यासों का बहुत बड़ा गुण है । यह नहीं कहा जा रहा है कि हिन्दी में उनके जैसे या इस विवशता वाले अन्य कथाकार नहीं हैं । अनेक कथाकार हैं जो इस तरह के परिचित चित्र प्रस्तुत करते हैं—अमृतलाल नागर, नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त, यशपाल, शिवप्रसादसिंह आदि । रामदरश जी उपन्यास-कार की हैसियत से इन्हीं लोगों की राह पर चलने वाले हैं । जिन उपन्यासकारों का नाम लिया गया है वे दिल्ली या दिल्ली जैसे अन्य महानगर में रहते हैं । यह रामदरश जी का सामान्य भारतीय जीवन यानी ग्रामीण क्षेत्र और कस्बाई जीवन से गहरा लगाव का सबूत है कि उनका मन बार-बार उसी ओर लौटकर जाता है और वे वहीं की व्यथा-कथा चित्रित करने का प्रयास करते हैं । अगर वे इतने दीर्घकाल तक रचनाधर्मिता में सक्रिय रह सके तो इसका बहुत बड़ा कारण यह है कि वे अपनी वास्तविक रचनाभूमि को पहचानते हैं जो उन्हें रचना के लिए कच्चा माल देती है । यह साधारण बात नहीं है, अपने को नये औजारों से लैस कहने वाले आलोचक इस बात को महत्त्वपूर्ण नहीं मानते । लेकिन वस्तुतः यह पहचान साहित्य, विशेषतः कथा-साहित्य के कथानक ही नहीं, शिल्प को भी बहुत गहरे तौर पर प्रभावित करती है ।

अपनी रचना-भूमि पर उपस्थित होकर लिखने की दृष्टि मूलतः लोक-सामान्य को महत्त्व देने वाली दृष्टि है जो मन के अन्दर वाले संसार को नहीं, इस दृश्यमान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी समानान्तर नहीं चलती। अपने नौकर मुरतिया की पिटाई का पक्ष न लेकर उसके पिटने को ही सार्थक मानते हैं क्योंकि शिवलाल से टक्कर लेना उनके वश की बात नहीं। अपने छोटे भाई की बहू के साथ, अनैतिक सम्बन्ध-निर्वाह करते हैं उसके शरीर की बाइलोजिकल आवश्यकता मानकर। और जब गाँव में वितंडावाद खड़ा होता है तो पूजा-पाठ और भोजभात से शान्त करते हैं। राजनीति में भी अपने जमीन के स्वार्थ से बंधकर अपने गाँव के दसनंबरी शामदेव का समर्थन करते और करवाते हैं जबकि शंकर तुलनात्मक दृष्टि से कहीं बढ़िया उम्मीदवार था। शामदेव, शिवलाल, रामलाल, जैराम थोड़े बहुत एक-सी कोटि के यथार्थ पात्र हैं। कोई काईयां है, कोई धूर्त, कोई चालबाज है तो कोई थोड़ा शरीफ। हैं गाँव की धरती के जाने-पहचाने से पात्र। देवप्रकाश और चेनइया दोनों अपनी-अपनी अलग-अलग और थोड़ी विशिष्ट पहचान उभारते हैं। इन दोनों के रूपायन में लेखकीय द्विधा दृष्टिगत हो सकती है।

विविध प्रसंगों में गुंथे हुए लोकगीतों का इस्तेमाल दुहरे और जटिल अर्थों के रूपायन के लिए हुआ है। लोकगीत केवल गाँव की परम्पराओं से जुड़कर मात्र उनका सांस्कृतिक उद्‌घाटन नहीं करते अपितु नये सन्दर्भों में उनके बदलते रूप की ओर इंगित कर पात्रों की मनःस्थितियों, संवेदनाओं एवं चेतना के नये आवर्तों को खोलते हैं। खेतों में काम करती चेनइया का गीत इस संदर्भ में द्रष्टव्य है। भाषा-शैली सार्थक एवं प्रवाहपूर्ण तो है ही उसमें प्रयुक्त मुहावरे एवं लोकोक्तियां जनभाषा की प्रयोगशीलता को प्रतिपादित कर कथा को आन्तरिक दीप्ति प्रदान करते हैं। विभिन्न बिम्बों, प्रतीकों, ध्वनियों, रंगों ने गाँव की धरती की धड़कनों को एवं मिट्टी की सोंधी को बखूबी पहचाना है तथा उपन्यास के लघु कलेवर में ग्राम-जीवन की एक और तस्वीर उभरकर आई है। कहा जा सकता है कि 'सूखता हुआ तालाब' पाखण्डों और टूटते सम्बन्धों का अजीबो-गरीब सिलसिला है जो खून के रिश्तों को पानी में और पानी के रिश्तों को खून में बदले जाने की कथा कहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक अन्तर्विरोधों का सन्दर्भ : अपने लोग

डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी

रामदरश मिश्र के कथा-साहित्य का वह कौन-सा पक्ष है जो सबसे अधिक आकर्षक है ? रामदरश जी जिन पात्रों और घटनाओं से उपन्यास का ताना-बाना बुनते हैं वे बहुत परिचित होते हैं। वे हमें अपनी असाधारणता या असामान्यता से चौंकाते नहीं, बल्कि अपनी विश्वसनीयता से हमें आकृष्ट करते हैं और सहजता से निमन्त्रित करते हैं कि हम उनके साथ चलें, घूमें, उनकी जिन्दगी में जो हो रहा है उसे समझें-बूझें। यह उनके उपन्यासों का बहुत बड़ा गुण है। यह नहीं कहा जा रहा है कि हिन्दी में उनके जैसे या इस विवशता वाले अन्य कथाकार नहीं हैं। अनेक कथाकार हैं जो इस तरह के परिचित चित्र प्रस्तुत करते हैं—अमृतलाल नागर, नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त, यशपाल, शिवप्रसादसिंह आदि। रामदरश जी उपन्यासकार की हैसियत से इन्हीं लोगों की राह पर चलने वाले हैं। जिन उपन्यासकारों का नाम लिया गया है वे दिल्ली या दिल्ली जैसे अन्य महानगर में रहते हैं। यह रामदरश जी का सामान्य भारतीय जीवन यानी ग्रामीण क्षेत्र और कस्बाई जीवन से गहरा लगाव का सबूत है कि उनका मन बार-बार उसी ओर लौटकर जाता है और वे वहीं की व्यथा-कथा चित्रित करने का प्रयास करते हैं। अगर वे इतने दीर्घकाल तक रचनाधर्मिता में सक्रिय रह सके तो इसका बहुत बड़ा कारण यह है कि वे अपनी वास्तविक रचनाभूमि को पहचानते हैं जो उन्हें रचना के लिए कच्चा माल देती है। यह साधारण बात नहीं है, अपने को नये औजारों से लैस कहने वाले आलोचक इस बात को महत्त्वपूर्ण नहीं मानते। लेकिन वस्तुतः यह पहचान साहित्य, विशेषतः कथा-साहित्य के कथानक ही नहीं, शिल्प को भी बहुत गहरे तौर पर प्रभावित करती है।

अपनी रचना-भूमि पर उपस्थित होकर लिखने की दृष्टि मूलतः लोक-सामान्य को महत्त्व देने वाली दृष्टि है जो मन के अन्दर वाले संसार को नहीं, इस दृश्यमान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगत की अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देती है। इस दृष्टि से रचे जाने वाले साहित्य की विशेषता यह होती है कि वह स्थानीय होता है। स्थानीय होने के साथ-साथ वह सीमित कालखण्ड का होता है। यह सीमा उस चित्रण को विशिष्ट बनाने में सहायक होती है जिसके कारण रचना विशिष्ट बनती है। हम कहीं रहकर भी बहुत कुछ देख सकते हैं और लोगों को दिखला सकते हैं। सब जगह रहकर आप कहीं नहीं रहते। यही कारण है कि महान उपन्यास प्रायः देश-विशेष और काल-विशेष की ही परिधि में बँधकर लिखे गये हैं। 'वार एण्ड पीस' और 'गोदान' जैसे महाकाव्यात्मक उपन्यास। इसके विपरीत हिन्दी के वे उपन्यास हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि या सार्वभौम शाश्वत दृष्टि से लिखे जाते हैं, जिनमें जीवन का बाह्य या वस्तुगत चित्रण नहीं होता। देखा तो आपने कुछ ही है, सब नहीं। सब कुछ तो केवल आपके मन में है अतः जब आप सब कुछ की बात करना चाहते हैं तो अपने मन की बात करते हैं जो पाठकों के अनुभव से मेल नहीं खाती। हिन्दी का अपठनीय कथा-साहित्य मनोजगत का ब्यौरा देने वाला साहित्य है जिसमें आंखों से दिखलाई पड़ने वाले जगत का नहीं, मन में डूबे हुए धुंधलके का वर्णन होता है। इस प्रकार के कथा-साहित्य के पात्र और घटना-व्यापार परिचित और सामान्य नहीं होते। वे प्रायः निठल्ले और निष्क्रिय होते हैं। उन्हें सक्रिय संसार के विरोध में भी नहीं रखा जाता।

शुक्र है कि रामदरश जी इस तरह के शाश्वतवादी रचनाकार नहीं हैं। 'अपने लोग' में गोरखपुर का जीवन चित्रित है। लेखक ने प्रमोद को दिल्ली की नौकरी छोड़कर, गोरखपुर के एक कालेज में नौकरी करने के लिए गोरखपुर का वासी बनाया है। वह दिल्ली गोरखपुर से ही आया था। इसके बाल्यकाल की स्मृतियां वहीं से जुड़ी हैं—उसके सखा मित्र, सहचर वही के हैं। वहीं की नदी, बाग, खेतों, मिट्टी, हवा से उसके मूल व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है। एक ओर गोरखपुर की प्रकृति है दूसरी ओर गोरखपुर का समाज है। प्रकृति बहुत आकर्षक है, समाज बहुत विकर्षक है। दिल्ली रह लेने के बाद उसके अपने नगर की गन्दगी, वहाँ के लोगों का आलस्य, संकीर्णता, कुटिलता और भी अधिक घृणास्पद लगती है। गोरखपुर समाज की जो प्रतिक्रिया प्रमोद की होती है उससे लगता है कि वह गोरखपुर को दिल्ली की दृष्टि से देख रहा है जो अनुचित नहीं क्योंकि प्रमोद दिल्ली बहुत दिनों तक रह चुका है।

'अपने लोग' शीर्षक व्यंग्यपरक है। जो अपने समझे जाते हैं वे काफी घटिया, स्वार्थी और कुटिल हैं। लोग ऊपर से अपनापन बहुत प्रकट करते हैं लेकिन अन्दर से अपने अवसर की ताक में रहते हैं। जो सम्बन्धी चचेरे भाई आदि हैं वे दूर हो गये हैं। वे अपनापे का नाजायज फायदा उठाना चाहते हैं। इस कुटिलता और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वार्थ का सबसे बड़ा साधन ओछी राजनीति है। इस राजनीतिक गन्दगी में सभी पार्टियाँ शामिल हैं। अच्छे-अच्छे सिद्धान्तों की घोषणा के बावजूद राजनीतिक नेताओं और कार्यकर्ताओं का आचरण बहुत अमानवीय और सामाजिकता-विरोधी है। गोरखपुर के डॉक्टर, एम० एल० ए०, वकील, पुराने जमींदार, प्रिंसिपल, शिक्षक इन सबका जिस प्रकार से चित्रण किया गया है, उससे लगता है कि ये सब किसी-न-किसी रूप से इस कुटिल वातावरण के लिए जिम्मेदार हैं। साहित्यकार भी वैसे ही हैं। प्रमोद इन्हीं लोगों के सम्पर्क में आता है। इन्हें झेलता है। ज्यादातर अपनी प्रतिक्रिया संयमित रखने का प्रयास करता है। प्रमोद इन लोगों से भौतिक रूप से टकराने की स्थिति में नहीं है। यद्यपि वह अनेकशः अपने को मार्क्सवादी घोषित करता है किन्तु वह ऐसा मार्क्सवादी है जो राजनीति से कहीं कभी नहीं जुड़ता। प्रमोद के मार्क्सवाद पर एक बहुत सटीक टिप्पणी इन पंक्तियों में उसकी पत्नी संज्ञा कर देती है, अनजाने ही। प्रमोद साही से कहता है—"इस बात को जानते हुए भी कि मैं प्रगतिवादी आन्दोलन से जुड़ रहा हूँ अब भी जुड़ा हूँ" यहाँ तक तो गनीमत थी। लेकिन इसके बाद प्रमोद ने कहना शुरू किया..."और मेरा राजनीतिक चिन्तन मार्क्सवादी चिन्तन है और...।"

"देखिये आप फिर बहक रहे हैं" संज्ञा ने टोका और तीनों खिलखिलाकर हंस पड़े। संज्ञा की यह टिप्पणी और तीनों का खिलखिलाकर हँसना प्रमोद के मार्क्सवादी राजनीतिक चिन्तन की ज्यादा सही तस्वीर उभारते हैं।

राजनीति को लेकर प्रमोद के मन में निर्णयान्धता है। वह इतना निष्क्रिय और भावुक है कि उसका अपने को मार्क्सवादी चिन्तक कहना काफी हास्यास्पद लगता है। अगर रामदरश जी ने उसे भी गोरखपुरी समाज के अन्य लोगों की तरह ऊपर से कुछ और अन्दर से कुछ वाले व्यक्ति के रूप में चित्रित करना चाहा है तो और बात है। प्रमोद के चिन्तन की बिडम्बना यह है कि वह सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं पर शुद्ध व्यक्तिगत भावना के आधार पर सोचता है। शरीफ आदमी बहुत अच्छा आदमी होता है। शरीफ राजनीति बहुत बुरी राजनीति होती है। असफल आदमी के चरित्र की प्रशंसा होती है। असफल राजनीति की आलोचना होती है। शराफत, मानवीयता, कुटिलता, ईमानदारी का निर्णय व्यक्ति और पार्टी के धरातल पर एक तरह से नहीं होता। रामदरश जी के चरित्र व्यक्ति को राजनीति के चरित्र मानने की गलती करते हैं। फिर उन्होंने अधिकांशतः राजनीतिक पार्टियों के उन्हीं चरित्रों को लिया है जो कुटिल और अवसरवादी हैं। जनार्दन इस उपन्यास में एक है और शिवनाथ, सूर्यकुमार, भूपत, शिवराज, मंगलसिंह आदि अनेक हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीतिक दृष्टि से यह उपन्यास यथास्थितिवादी उपन्यास है। राजनीतिक उपन्यासों की विशेषता यह होती है कि वे यथार्थ के अन्तर्विरोध का चित्रण करते हैं, पक्षधर होते हैं और यथार्थ के बहाव की दिशा और प्रक्रिया का संकेत करते हैं। इसमें राजनीतिक विवेचन के नाम पर लोगों के व्यक्तिगत चरित्र का पर्दाफाश किया गया है जैसे कोई अपने पात्रों के चरित्र-हनन में रस लेनेवाला लेखक हो। उदारतावादी तटस्थता के नाम पर पक्षधरता से बचा गया है और सभी पार्टियों के बेईमान चरित्रों को भ्रष्ट बताकर यथार्थ के विकास की दिशा को भूल-भुलैया में छोड़ दिया गया है। बड़ा विचित्र लगता है जब अपने को मार्क्सवादी चिन्तक घोषित करने वाला प्रमोद कहता—"मैं अपने को किसी पार्टी की राजनीति का हथियार नहीं बनाना चाहता।" जिस मार्क्सवादी बनने के फैशन की बात उपन्यास में कही गई है उसकी मिसाल स्वयं प्रमोद है। 'अपने लोग' राजनीतिक उपन्यास नहीं है। उसमें देश की सक्रिय राजनीति को विश्लेषित करनेवाली घटनायें और पात्र नहीं हैं। कोई राजनीतिक उपन्यास एक साहित्यकार अध्यापक और कोरे चिन्तक के चरित्र के सहारे शायद लिखा भी नहीं जा सकता। यही कारण है कि उपन्यास में गलत राजनीति का विरोध करने वाला एकमात्र पात्र उमेश है जो पागल है। विषम अन्तर्विरोधों से ग्रस्त समाज को बदलने वाला व्यक्ति यदि केवल भावुक और शरीफ हो तो उसका परिणाम यही होता है। राजनीति का खेल संगठन का खेल है। वहाँ व्यक्तिगत नैतिकता राजनीतिक नैतिकता का पर्याय नहीं है।

'अपने लोग' सामाजिक उपन्यास है। इसके नायक प्रमोद नहीं, बी० लाल हैं। सामाजिक उपन्यास के रूप में 'अपने लोग' सफल और विशिष्ट उपन्यास है। बी० लाल जैसा जटिल अन्तर्द्वन्द्व और अन्तर्विरोधों से ग्रस्त चरित्र का निर्माण हिन्दी कथा-साहित्य की उपलब्धि है। इसमें यथास्थिति और निर्णयान्धता नहीं है। बी० लाल, उसकी माँ कलावती, मंजरी, मंजरी की माँ, बी० लाल के पिता, उनका पागलपन, के० लाल, इमरतिया के चित्रण में रामदरश मिश्र ने उत्कृष्ट कथा-शिल्प, व्यापक मानवीय संवेदना, समझ और संयम का परिचय दिया है। यह अकारण नहीं है कि राजनीति का चित्रण करते समय उपन्यास में कोई निम्न वर्ग और जाति का चरित्र नहीं दिखलाई पड़ता। निम्न-वर्ग की पात्र इमरतिया, फुलवा, सामाजिक और सेक्स के चित्रण के दौरान आये हैं। यह सामाजिक चित्रण अवश्य ही समस्याओं की सही समझ पर आधारित हैं। इन लांछित, परित्यक्त, अपमानित और विवश पात्रों ने उपन्यास में सरसता, जीवन्तता तो पैदा की ही है, सामाजिक अन्तर्विरोधों का चित्रण भी किया है और सामाजिक विकास की—सेक्स सम्बन्धों के विकास की दिशा भी संकेतित की है।

बी० लाल की माँ कलावती पुंश्चली है। ऐसी पुंश्चली जिसने अपने पति की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हत्या की है। पति वृद्ध थे, शारीरिक दृष्टि से उसके अयोग्य थे। वह सुन्दरी थी। पति जितने शरीफ थे उतने ही अयोग्य। अयोग्यता शराफत को बहुत तुच्छ और उपेक्षणीय बना देती है। फिर उनकी नाक भी ऊँची थी। सो कटी। कलावती तृप्त होती रही लेकिन पापबोध को भी उसने संजोये रखा। वह विमाता भी थी। सपत्नी के पुत्र को उसने कष्ट दिया, वह बौडम ही रह गया, सिर्फ भैंस चराने वाला, सिर्फ भोजपुरी, राप्ती नदी के प्रवाह जैसी भोजपुरी बोल पाने वाला। लेकिन बौडम होने के साथ वह निर्मल भी रहा। इतनी पवित्रता मूर्ख में ही सम्भव है। सो वह बुरी माँ का भी ध्यान रखता है, बुरे भाई का भी। वह दुराचारी और क्रूर भाई और दुराचारिणी और क्रूर माँ का सपूत और सगा है। बी० लाल जड़ से उखड़ें हैं। वे व्रजलाल से बी० लाल बने हैं, ब्राह्मण से अजात और जातिहीन बने हैं, समाज-तिरस्कृत और लांछित हैं। वेश्यागामी हैं मानो समाज से बदला ले रहे हों। अपने पिता की शराफत और उनकी शारीरिक अयोग्यता की क्षतिपूर्ति कर रहे हों। लेकिन जड़ इतनी जल्दी कहाँ खत्म होती है जब-जब लोग उन्हें लांछित करते हैं वे तिलमिलाते हैं और अपनी माँ को घृणा करते हैं। माँ से घृणा करने की मनःस्थिति कितनी दारुण होती है, इसे संसार के साहित्य में हेमलेट से ज्यादा कोई नहीं जानता। और ये बी० लाल जब जीवन में प्रेम के अनुभव से टकराते हैं तो भयंकर हीनता के शिकार होते हैं। प्रेमिका मंजरी नर्स है। वह अपनी असहायता के कारण पहले कम से कम दो डाक्टरों की वासना का शिकार हो चुकी होती है। सभी ईसाई अंग्रेजी ही नहीं बोलते, मोटी-मोटी रकमें भी नहीं काटते। स्वतंत्रता के बाद ईसाईयों की स्थिति बहुत खराब हुई है। खासतौर पर अपेक्षाकृत स्वच्छन्द आचार-विचार होने के कारण उनकी लड़कियों और स्त्रियों को संकीर्ण सवर्ण समाज बहुत नीची निगाह से देखता है। हिन्दी के कुछ प्रसिद्ध कथाकारों ने ईसाई लड़कियों को केवल प्रेमिका के रूप में चित्रित किया है। रामदरश जी ने ईसाई लड़की के शोषण और गरीबी का चित्रण करके उसे आत्मीय और व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रखा है। इस गहरी मानवीय संवेदना, उदारता और जनवादिता की जितनी तारीफ की जाए कम है :

"मेरे पिता जवानी में ही कैंसर से मर गए। माँ ने लोगों के घरों के छोटे-मोटे काम करके मुझे किसी तरह पढ़ाया-लिखाया था और अब मैं नर्स हूँ। मैं गरीब हूँ, नर्स हूँ, ईसाई हूँ।"

इस वाक्य में दृढ़ता, विवशता और यथार्थ की अपमानवीयता तीनों का दुर्लभ द्वन्द्व बरकरार है।

इन बी० लाल और मंजरी का प्रेम होता है। बी० लाल अपनी पशुवासना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को धीरे-धीरे मंजरी की धीरता और झाड़-फटकार के साथ खोते हैं। दुर्दान्त वासना और समझदार धीरता का परस्पर प्रभाव, टकराहट और विकास का चित्रण जिस ढंग से हुआ है वह बहुत विश्वसनीय है। दो उखड़े हुए लोग अपनी परम्पराविहीनता लांछन और स्वच्छदन्ता को धीरे-धीरे त्यागकर घर बसाना चाहते हैं। बी० लाल अपनी कुटिलता, वेश्यागामिता को एकदम किसी नाटकीय झटके से नहीं छोड़ते। लेकिन प्रेम उन्हें सामाजिकता और सदुद्देश्य की ओर विकसित करता है। वे सफल नहीं होते यह दूसरी बात है। उनके सफल न होने की स्थिति हृदयहीनता की मार्मिक व्यंजना करके उपन्यास बहुत सार्थक हो उठता है।

ध्यान देने की बात है कि उपन्यास में नारी अधिकारों के लिए लड़नेवाली पात्र केवल मंजरी है—गरीब, नर्स, ईसाई। यह पुरुषों की वासना से लड़ती है, आर्थिक पराधीनता से लड़ती और अपनी शारीरिक उत्तेजनाओं से लड़ती है। भारत की भावी नारी का रूप क्या होगा इसका संकेत मंजरी देती है। वह 'अपने लोग' का सबसे सार्थक पात्र है। हिन्दी कथा-साहित्य में इतने सार्थक और वर्तमान से लड़कर भविष्य का संकेत देने वाले नारी पात्र ज्यादा नहीं होंगे।

बी० लाल के बौडम भाई के० लाल प्रेम के क्षेत्र में भी बौड़म हैं। वे भैंस चराते हैं और चमार की जवान किन्तु विधवा लड़की इमरतिया बकरियाँ चराने आती हैं। ये जोड़ी ब्राह्मण और चमार की है लेकिन कृष्ण और राधा की हो आती है। के० लाल व्रजलाल के निरक्षर भाई किसनलाल इमरतिया के आकर्षण को केवल संवेदना के धरातल पर महसूस कर सकते हैं। जैसे कोई निरीह पशु शारीरिक आकर्षण की संवेदना को झेलता है। उनके यहाँ प्रेम, इन्द्रियबोध के ही धरातल पर विद्यमान है। चुम्मा इमरतिया को ही लेना पड़ता है। किसनलाल बौड़म हैं लेकिन सौभाग्यशाली हैं। मानो इमरतिया भी समझती हो इनके साथ कुछ करने से कोई हर्जा नहीं। जैसे कोई जवान लड़की किसी हिरन, बकरी या कुत्ते को प्यार कर ले वैसे ही, पहले तो इमरतिया आंखों में अजीब हँसी भरकर मुस्कराई फिर उसने चारों ओर देखा। फिर एक मोटे पेड़ की आड़ में खड़ी हो गई। उसे बुलाया। जब वह उसके पास आया तो उसने लपककर उसके गाल का चुम्मा ले लिया। अपने देह से उसकी बाँह रगड़ती कुछ दूर खड़ी हो गई—बोली "बोलो समझते हो इसे"! किसनलाल बोले—"इमरतिया ते आज बहुत महकत बाटे।" ब्राह्मण देवता ने स्पर्श को गन्ध बनाकर छुट्टी ले ली।

वे इस प्रीति-मिलन को भी भैंसों और बकरियों के मिलन के प्रतीक में बोलते हैं—"अरे हो देखबे रे भंइसिया और बकरिया एक्के में मिलि के ताले के ओह पार निकल गइलीं।"

भैंस किसनलाल की। बकरी इमरतिया की।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामदरश मिश्र की प्रगतिशील दृष्टि राजनीतिक समस्याओं पर रचना करते समय नहीं, सामाजिक स्थितियों का चित्रण करते समय उभरती है। जातिगत ऊँच-नीच की भावना को उन्होंने बी० लाल, कलावती, मंजरी और किसनलाल इमरतिया के प्रेम सम्बन्धों के माध्यम से तोड़ने का काम किया है। यह भी कि लांछित ब्राह्मण और गरीब ईसाई या चमार एक धरातल पर खड़े होकर सामाजिक विषमता को झेल सकते हैं, नए समाज की सृष्टि कर सकते हैं। यह दृष्टि स्वस्थ और गहरी नैतिकता से युक्त है और सच्चे अर्थों में जनवादी और प्रगतिशील है, यह बहुत मूल्यवान है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यातना का विद्रोह : रात का सफर

डॉ० अंजलि तिवारी

'कितनी लम्बी रात थी—छः वर्षों की लम्बी रात।' और ऋतु इस लम्बी रात का सफर करती रही। उसके साथ ही उसके पिता भी पूरी रात पल भर के लिए नहीं सोये।

यह उपन्यास ऋतु के इसी सफर की कहानी है और उन सारी लड़कियों के सफर की कहानी है जिन्हें विवाह के पश्चात् एक लम्बी अन्धेरी रात अजगर की तरह अपने गुंजलक में लपेट लेती है और जो टूट-टूट कर पल-पल रीत कर जीने के लिए अभिशप्त होती हैं। विवाह कितना मोहक दिवा-स्वप्न होता है—प्यार की सुगंध से भरा दिवा-स्वप्न। लड़की दिन में उनींदी रहने और रात में आलिंगन-बद्ध रहने के सपने से लदी-फदी जब ससुराल जाती है और पहली ही रात में जब पति की या ससुराल वालों की उदासीनता या अप्रिय संलग्नता से उसके सपने टूट जाते हैं तब उस पर क्या बीतती है और नित खुलने वाले उपेक्षा के नये स्तरों का जब साक्षात्कार करती चलती है तो उसका जीवन कैसे डर की एक उदास लय बन जाता है इसका साक्षात्कार करना हो तो इस उपन्यास की ऋतु से मिला जा सकता है।

ऋतु दिल्ली के एक मजिस्ट्रेट की बेटी है। उसका बचपन गाँव के स्वच्छंद वातावरण में बीता है और उसके बाद का जीवन नयी दिल्ली के सुविधापूर्ण वातावरण में—माँ-बाप के अतुल प्यार की छाया में। उसने अपने आँचल में न जाने कितना बटोरा है—प्रकृति का सौन्दर्य, घर की ममता, सहेलियों का प्यार और सबको सहेज कर जब ससुराल जाती है तो आंचल अचानक खुल जाता है और सारा प्रकृति-सौंदर्य, ममता और प्यार छूट कर बिखर जाता है जिसे कुचल रहे होते हैं पति दिनेश, श्वसुर वकील साहब बदतमीज़ ननदों की जोड़ी। पूरा घर उसे रहस्यमय लगता है। पति दिनेश सुहागरात को भी उसके पास नहीं आये और बाद में भी कभी नहीं आये, ननदें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे घेर कर सोती हैं और श्वसुर साहब सब कुछ जानते हुए भी चुप हैं बल्कि अपने बेटे के रहस्य को जानते हुए भी दहेज के लालच में उन्होंने बेटे को शादी के लिए बाध्य किया। एक सड़ांध घर से बाहर इस गंदे मुहल्ले में है, एक सड़ाँस इस घर के भीतर है। बाहर की सड़ाँध तो बर्दाश्त की जा सकती है किन्तु घर के भीतर की सड़ाँध को क्या कहा जाय ?

सच बात तो यह है कि ऋतु के पिता राकेश जी बाहर की इस सड़ाँध से परिचित थे, किन्तु उन्हें लगा था कि दिनेश जैसे होनहार और सुन्दर युवक का साहचर्य ऋतु को इस दीन-हीन अभाव-ग्रस्त और गंदे मुहल्ले की सड़ाँध से दूर खींच ले जायेगा और एक महकती हुई दुनिया बसायेगा। लेकिन यहाँ तो बात कुछ और ही निकली। ऋतु के पूर्व जीवन के घर के भीतर और घर के बाहर के खुले, सुन्दर और साफ वातावरण के विरोध में उसके अलीगढ़ वाले वर्तमान जीवन के अवरुद्ध और गंदे बाहरी-भीतरी वातावरण को तानकर ऋतु की विडंबना और उसके मानसिक संकट को अधिक गहराया गया है, संक्रान्त बनाया गया है।

नारी पुरुषों के लिए खिलौना रही है। उसकी इच्छा हो तो खेले, न इच्छा हो तो उसे पड़ी रहने दे, इच्छा हो तो उसे प्यार का दान दे दे, न इच्छा हो तो मौन रहे या दुतकारता रहे। उसकी अपनी स्मिता का सम्मान कभी नहीं किया गया। आधुनिक चेतना का दावा करने वाले आज के युग में भी यह क्रम टूटा नहीं है, बल्कि अधिक उलझ गया है। पढ़ा-लिखा सुशील-सा दीखने वाला सुन्दर युवक दिनेश एक नर्स से उलझा हुआ है तो भी ऋतु से शादी कर लेता है और शादी करने के बाद उसके साथ पल भर का भी सम्बन्ध नहीं बना पाता। उसने क्यों शादी की ? शादी उसकी इच्छा के विपरीत बाप की मर्जी से हुई यह तर्क उसे नहीं बचा सकता। उसकी सारी पढ़ाई-लिखाई मानवीय चेतना-रहित व्यर्थता का जाल भर है। आधुनिक शिक्षा प्राप्त कर न जाने कितने युवक आज नारी के संदर्भ में सही निर्णय ले पाने में असमर्थ दिखाई पड़ते हैं। इसलिए वे लड़की के चुनाव, दहेज के प्रश्न और स्त्री को दी जाती हुई यातना में या तो शरीक हो जाते हैं या विरोध करने की इच्छा रहते हुए भी विरोध नहीं कर पाते, बल्कि दर्शक की तरह मूक बने खड़े रहते हैं। और उनकी इस चरित्रिकता के कारण स्त्री का जीवन आनंद का नहीं, किसी तरह तिल-तिल कर पहाड़ से कठोर दिन काटने के क्रम का पर्याय बन जाता है। ऋतु का जीवन इसके सिवा और क्या है ?

लेखक ने दिनेश के माध्यम से आधुनिक कहे जाने वाले आज के पुरुष-वर्ग के घिनौने चरित्र का उद्घाटन किया है और उसके आघात से टूटती, पल-पल रिसती, एक अकाट सन्नाटे का बोझ अपने भीतर ढोती नारी को ऋतु के रूप में प्रस्तुत किया है जो सुन्दर है, सुशील है, गुणवान है, सम्पन्न और उच्च पदस्थ बाप की बेटी है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसके पास एक सुन्दर, स्वच्छंद अतीत के अनुभवों की मूल्यवान थाती है। लेखक प्रश्न जगाता है कि आखिर इस स्त्री का दोष क्या है, जिसकी सजा उसे इस परिवार में मिल रही है। पुलिस तो निरपराधियों को फाँसने के लिए कोई जुर्म गढ़ लेती है और उसकी सजा की एक सीमा होती है, किन्तु निरपराध स्त्री तो बिना किसी जुर्म के या अभियोग के पति-परिवार के कठघरे में खड़ी है और सज़ा भोग रही है—ऐसी सज़ा जिनका कोई अंत नहीं है।

हमारी पारिवारिक नैतिकता की कितनी बड़ी विडंबना है कि पति ने जिसे वरण किया है, उसका घर में या उस पर कोई अधिकार नहीं है और एक रखेल जैसी औरत अपना अधिकार समझती है—उस पर ही नहीं, पत्नी पर भी। और पत्नी पति की चुप्पी देखकर यह सब कुछ सहने के लिए अभिशप्त है। वह अपने ही घर में परायी है और पराया उस घर का अपना है। लेखक ने अनेक विषम संदर्भों में ऋतु को उपस्थित कर उसकी मानसिक बेचैनी को उभारा है और इस बेचैनी का एक कारण स्वयं ऋतु भी तो है। वह अनेक भारतीय नारियों की तरह पति के साथ बंधी रहने का संस्कार ढोती है। पति का इतना कुछ ढोते हुए भी वह उससे छूटने की कल्पना ही नहीं कर पाती, उसे बार-बार सहेजने के क्रम में स्वय बिखरती जाती है।

लेकिन यह उपन्यास नारी की व्यथा-कथा बन कर नहीं रह गया है। लेखक की आधुनिक और विद्रोही दृष्टि ने नारी-चरित्र का एक नया आयाम—ऊर्जा का आयाम उद्घाटित कर उसकी अस्मिता की रक्षा की है, उसे ताकत दी है। इस नरक में घुट-घुट कर मरती हुई ऋतु के भीतर कहीं इससे निकलने की मूक चाह थी कि मिसेज शर्मा ने उसे मुखर कर दिया, उन्होंने समझाया—"हाँ नया जीवन ! प्रेम के शव को ढोने से कोई फायदा नहीं ऋतु। जीवन अमूल्य होता है। इससे सम्बन्धित जब किसी वस्तु का मूल्य चुक जाय तो उसे छोड़ ही देना चाहिए।" ऋतु को लगा कि मैंने शायद मिसेज शर्मा के माध्यम से अपनी ही आवाज़ सुनी। उनके विचारों ने मेरे भीतर जन्म लेते हुए नये विचारों को जैसे मूर्त कर दिया। एक दिन उसने कैंची उठाकर ग्रुप फोटो को बीच से काटकर दोनों को अलग कर दिया। दोनों के चित्र कटकर अलग-अलग गिर पड़े। उसके मन में एक विचार कौंधा कि अपनी फोटो इनलार्ज कराऊँगी। इस प्रकार अपनी अस्मिता की निजता और विकास की एक गहरी चिंता उसके भीतर जाग उठी और उसी के फलस्वरूप अपने पति को चांटा मारकर अलग हो गयी और अपनी नयी दुनिया बसाने के लिए यहाँ से चल पड़ी। इस प्रकार यह उपन्यास एक नयी मूल्य-दृष्टि प्राप्त कर लेता है।

उपन्यास की कथा पूर्व-दीप्ति पद्धति पर कही गयी है। ऋतु पति को चाँटा मारकर रात की गाड़ी से गोरखपुर से वाराणसी लौट रही है और पिछले छः वर्षों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की व्यथा-कथा उसकी स्मृतियों में उतरा रही है। लेखक कवि है अतः उसने अपने काव्यात्मक कौशल से रेल की यात्रा को जीवन-यात्रा का प्रतीक बना दिया है। एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन की दूरी मानों ऋतु के जीवन के एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव तक की दूरी है। गाड़ी का सीटी देना, लाइन बदलना, स्टेशन का छूटना, किसी स्टेशन पर उसका ठहरना, मजिस्ट्रेट चेकिंग, भिखारी बच्चों द्वारा भीख माँगा जाना, पुलिस के डंडे से चिल्लाते हुए भागना, किसी स्टेशन पर विदेश के लिए किसी की विदाई, परिवार वालों का रोना, ये सभी संदर्भ अपनी प्रतीकात्मकता से कुछ न कुछ कहते हैं और मूल संवेदना से जुड़कर उसे गहराते हैं। इतना ही नहीं ये एक ओर ऋतु के दर्द को अधिक मूर्त तथा व्यापक बनाते हैं, दूसरी ओर व्यक्ति के दर्द के साथ समाज के दर्द को जोड़ कर एक बड़े दर्द की रचना करते हैं। गाड़ी में मजिस्ट्रेट चेकिंग होती है। ऋतु के पिता कहते हैं—"कैसे लोग हैं जो बिना टिकट के सफर करते हैं। ये देश की अर्थव्यवस्था को चौपट करते हैं। ठीक है इनको कड़ी से कड़ी सज़ा होनी चाहिए।" इस पर ऋतु सोचती है—"बिना टिकट के यात्रा करना जुर्म है और दूसरों के टिकट पर भी यात्रा करना जुर्म है। मैं भी तो ज़िन्दगी का सफर कर रही हूँ। मेरे पास तो सफर का टिकट था लेकिन मैं मुजरिम बनकर कठघरे में खड़ी हूं और श्यामा दूसरे के टिकट पर सफर कर रही है और उसका सफर कितना सुखी है।" यह सामाजिक प्रसंग ऋतु के प्रसंग से जुड़कर उसकी विडंबना को और तेज़ करता है।

यह उपन्यास अपने सीमित आकार में भी और व्यक्तिगत संवेदना के चरित्र में भी यथाशक्य एक व्यापक सामाजिक संवेदना की रचना कर लेता है। इस प्रकार इस उपन्यास के कथानक की संरचना में ऋतु के जीवन में आने वाली अनेक घटनाओं, उसके आसपास घटित घटनाओं, अनेक छोटे-छोटे प्रसंगों, मनःस्थितियों और वातावरण का योगदान है। साथ ही इन तमाम बीती घटनाओं, प्रसंगों, मनःस्थितियों तथा परिवेश के साथ गाड़ी-यात्रा के वर्तमान संदर्भ और परिवेश जुड़ गये हैं जिससे कथानक और संश्लिष्ट और विशिष्ट हो उठा है।

काव्यात्मक बिम्बों और अन्यान्य काव्य-युक्तियों ने इस उपन्यास को अनेक गहरे अर्थ-संकेत दिये हैं। इनके कारण एक ओर ऋतु की जटिल और गहरी मानसिकता का विधान हुआ है, दूसरी ओर कथा घटनात्मक स्थूलता से बचकर एक सांकेतिकता, संक्षिप्ति और आंतरिकता प्राप्त कर सकी है। अलीगढ़ की घुटन से मुक्त होकर ऋतु पहली बार दिल्ली लौट रही है। वसंत का उन्मुक्त वातावरण काव्यात्मक रूप में चित्रित होकर ऋतु की घुटन के साथ उसके अतीत की ओर इस यात्रा के समय की स्वच्छंदता को तान देता है और एक अद्भुत प्रभाव पैदा करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। ऋतु अपनी तनहाई में चित्र बनाती है। वे चित्र अपने विविध रूप-रंगों से उसके भीतर की कथा कहते हैं। स्टेशनों पर के विविध दृश्य मात्र बाहरी दृश्य न होकर अपना प्रतीकार्थ फेंकते हैं और उपन्यास की केन्द्रीय अर्थवत्ता को व्यापक और सघन बनाते हैं। एक देहाती स्टेशन का चित्र देखें :—

"कैसा लगता है छोटे-से देहाती स्टेशन का प्लेटफार्म विशेषतया रात में। एक्सप्रेस गाड़ियाँ उपेक्षा से इन्हें रौंदती हुई निकल जाती हैं। पहियों की घड़घड़ाहट की चोट से पलभर को तिलमिलाकर स्टेशन खामोश हो जाता है। कभी-कभी कोई सामान्य गाड़ी आकर ठहरती है। जगमगाती खिड़कियों से चेहरों के प्रतिबिम्ब प्लेट-फार्म पर पलभर के लिए बरस पड़ते हैं। अंधेरे सन्नाटे में डूबा प्लेटफार्म स्वरों से थोड़ी देर के लिए इस तरह स्पंदित हो जाता है जैसे सोया हुआ विराट हाथी अपना कान फड़फड़ा दे। कितना उदास लगता है चारों ओर…।"…"उसे आज यह सब क्यों याद आ रहा है ? कहीं वह भी देहाती टीसन तो नहीं ?" स्टेशन का यह काव्यात्मक बिम्ब अपने आप में बहुत प्रभावकारी है किन्तु अन्त में ऋतु में पर्यवसित होकर उसकी संवेदना का बिम्ब बन गया और अपने माध्यम से ऋतु के जीवन की न जाने कितनी पर्तों को संकेतित करने लगा।

इस छोटे-से उपन्यास में कथा-कथन की पद्धति में वैविध्य है। कहीं लेखक कथा कहता है. कहीं ऋतु, कहीं उसके पिता राकेश। वैसे लेखक कम ही बोलता है, ऋतु ही अधिक बोलती है—कभी मौन रूप से कभी मुखर रूप से। कभी सोच में कभी सन्दर्भों में। इससे उपन्यास को छवि प्राप्त हुई है। कथा वर्तमान में भी चलती है और अतीत में भी और अतीत के अतीत में भी। कहीं वह कही गयी है, कहीं चित्रित की गई है, कहीं नाटकीय पद्धति पर घटनाओं संदर्भों और मनःस्थितियों के तनाव से संकेतित की गयी है। वह बाहर भी चलती है और भीतर भी। सच तो यह है कि वह बाहर-भीतर के तनाव से चलती है।

भाषा में आद्योपान्त तमाम छोटी-छोटी अलग-अलग दीप्तियाँ हैं। भाषा भाषा का चमत्कार नहीं है वह संवेदना की अनिवार्य शाब्दिक उपस्थिति है। इस उपन्यास में संवेदनाओं के अनेक रंगों ने ही भाषा को कई रंग दिये हैं। कहीं संवेदना की लम्बी गति और साँस के अनुसार वाक्य लंबे और आवेगित हो उठे हैं "गाँव जाती थी तो नदी के किनारे खड़ी होकर वर्षा के उफान से लहराती नदी को देखती रह जाती थी।" कहीं त्वरा के साथ भागती संवेदनाओं या स्मृतियों या क्रिया-व्यापारों के साथ छोटे-छोटे वाक्य भागते नज़र आते हैं—"मैं करवट बदलती रही। पानी बरसता रहा। स्मृतियाँ भिगोती रहीं। एक झपकी-सी लगी, एक सपना आया और सुबह हो गयी। शब्द कहीं बड़े हैं कहीं छोटे, कहीं तत्सम, कहीं तद्भव, कहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देशज। कहीं वे पात्रों के संवादों के संदर्भ में हैं कहीं लेखकीय कथन के संदर्भ में हैं, कहीं कविता के संदर्भ में। कहीं वे मनःस्थितियों के साथ जुड़कर एक रंग ग्रहण करते हैं, कहीं घटनाओं या क्रिया-व्यापारों से जुड़कर दूसरा रंग। रूप, रंग, गंध, स्पर्श की अनेक छोटी-छोटी दीप्तियों से स्पंदित भाषा ने एक ओर इस उपन्यास को अधिक पठनीय बनाया है दूसरी ओर अधिक आंतरिक।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघर्ष की आवाज : आकाश की छत

डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ

एक खास किस्म की रचनाधर्मिता साहित्य को उत्पादन की वस्तु समझती है और बाजार की माँग पर लिखा करती है। जाहिर है, माँग-मूर्त्ति के इस समीकरण पर आधारित कृतियाँ 'जेनुइन' नहीं होंगी। कुछ चालू नुस्खों और फार्मूलों से इस तरह का साहित्य—विशेषतः कथा-साहित्य पिछले दिनों खूब लिखा गया, जिसका अधिकांश न केवल अविश्वसनीय संदर्भों और अप्रासंगिक सवालों के इर्दगिर्द लिखा गया है, अपितु वह कथाकार की अनुभव-भूमि से बुरी तरह कटा हुआ भी है। इसके विपरीत कुछ कथाकारों का लेखन व्यावसायिकता के दबाव से मुक्त रहकर लिखा गया है। उसमें एक ओर 'समय की प्रामाणिकता' है, दूसरी ओर यह साहित्य को 'शो पीस' बनाने की प्रवृत्ति के विरुद्ध एक मुनासिब कार्यवाही है। 'आकाश की छत' को पढ़ते हुए बराबर यह अनुभव होता है कि रामदरश मिश्र की कथा-दृष्टि अनुभूत सत्य को रचनागत यथार्थ में रूपान्तरित करते समय रचनात्मक ईमानदारी का सुबूत देती है।

बाढ़ में अचानक घिर जाने के क्षणों को लेकर हिन्दी में इने-गिने उपन्यास लिखे गए हैं। भगवतीचरण वर्मा की कृति 'सामर्थ्य और सीमा' में बाढ़ नियतिवादी दर्शन की पुष्टि के लिए इस्तेमाल की गई है।[1] मनुष्य न केवल बाढ़ के सामने विवश और निरुपाय दिखायी देते हैं, अपितु एक-एक करके नष्ट भी हो जाते हैं। रामचंद्र तिवारी कृत 'सागर सरिता और अकाल' में भी बाढ़ के ब्यौरे भर हैं। अमृतलाल नागर कृत 'अमृत और विष' में बाढ़ का अपेक्षाकृत सर्जनात्मक उपयोग देखा जा सकता है। लेकिन जैसा कि राजेन्द्र यादव ने लिखा है, बाढ़ नागर जी के लिए मृत्यु-संत्रास का अनुभव नहीं है। वे भी बाढ़ की सूचनाओं में अधिक दिलचस्पी लेते हैं। इन कृतियों के मुकाबले 'आकाश की छत' आश्वस्त करती है। दिल्ली की बाढ़ में

१. सामर्थ्य और सीमा, पृ० ३१२।

२. कहानी : स्वरूप और संवेदना, पृ० १६१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अचानक घिर गए 'यश' के बहाने मानव अस्तित्व के संकट का बोध इसमें बखूबी उभरा है। मिश्र जी के विचार में अस्तित्व-संकट और संत्रास के बोध के लिए देश के बाहर जाने की कोई आवश्यकता नहीं और न इसमें कोई आयातित दर्शन हमारी सहायता कर सकता है। 'अपने-अपने अजनबी' (अज्ञेय) में अस्तित्व का संकट, विदेशी सा लगने वाला परिवेश और अस्तित्ववादी चिन्तन के मेल से व्यक्त हुआ है। लेकिन उसमें लेखक की अपनी जमीन कहाँ है? जिसकी अपनी जमीन नहीं, वह जमीन को क्या पहचानेगा, जिसकी अपनी जड़ें नहीं, वह आकाश में क्या फैलेगा (पृ० २६)। मिश्र जी के विचार में एकदम विपरीत परिस्थितियों में वे कृतियाँ आदमी को बल देती हैं, जो उसकी समस्याओं और उन समस्याओं से जूझने वाली ताकतों की पहचान रखती हैं।

बाढ़ मिश्र जी के लिए नया विषय नहीं है। प्रेमकुमार के साथ लंबी बातचीत में मिश्र जी स्पष्ट किया है कि मैं उस परिवेश पर लिखता हूं, जहाँ का हूँ। वह कछार है, जिसे बनाने-बिगाड़ने में बाढ़ की मुख्य भूमिका है। जब भी उस परिवेश को लेता हूँ, बाढ़ की भूमिका मेरे सामने होती है। 'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ' में उस परिवेश की अनेक गहरी-उथली रेखाएँ उभरी हैं। 'आकाश की छत' में भी दिल्ली की बाढ के समानान्तर राप्ती की बाढ़ से घिर जाने वाले पूर्व परिचित प्रदेश की चर्चा नहीं छूटी है। लेकिन बाढ़ की विभीषिका को दुहराना 'आकाश की छत' का लक्ष्य नहीं है। एक ओर 'बाढ़' में घिरी मानवीन विवशता का बयान है, दूसरी ओर बाढ़ का प्रतीकार्थ भी है। डॉ० ललित शुक्ल ने सही पहचाना है कि यह बाढ़ भ्रष्टाचार की है।[1] यह बाढ़ आती नहीं, लायी जाती हैं। गाँव के स्तर पर इस बाढ़ का नियामक सेठ, एम०एल०ए० और पुलिस का गँठजोड़ है—जनविरोधी गँठ-जोड़। कामरेड जगत जनसमूह को संगठित करने में लगे हैं, ताकि वे इस कृत्रिम बाढ़ में डूबने से बच सकें। बदरी भैया का लोमहर्षक अंत इस बात का साक्षी है कि भ्रष्टाचार की पोषक शक्तियाँ राह के किसी रोड़े को सहन नहीं कर सकतीं। दैवी बाढ़ का प्रकोप एक कालावधि तक ही रहता है, लेकिन सेठ का बहीखाता बाढ़ से बड़ा है। यश ने इस विडम्बना को बहुत पास से देखा है : "ये खेत बार-बार पानी में से उबरते हैं और नयी जिन्दगी के साथ लहरा उठते हैं, लेकिन उसे लगता है कि बाढ़ से बड़ा इस सेठ का बहीखाता है, जिसमें एक बार जो चीज गयी, फिर उसमें से सिर नहीं निकाल सकी। उसके खेत भी सेठ के बहीखाते में ही डूब गये" (पृ० २९) गरज यह कि महाजनी सभ्यता की बाढ़ होरी की मरजाद को आज भी लीलती जा रही है। महानगर के स्तर पर भी स्थिति भिन्न नहीं है। आर्थिक दृष्टि से कमजोर

१. रूपकंचन, अगस्त १९६९, पृ० ५१।

२. दस्तावेज-१२, पृ० ६९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ग इस बाढ़ में सबसे ज्यादा खामियाजा भुगतता है। सम्पन्न वर्ग के लिए बाढ़ मनोरंजन या पिकनिक का निमित्त होती है। गाँव का क्रूर और शातिर सेठ महानगर में भी है। कभी उसे दूध के डिब्बे छिपाये व्यापारी के रूप में देखा जा सकता है तो कभी चोपड़ा साहब उसके प्रतिरूप लगते हैं। स्मगलिंग करने वाले चोपड़ा साहब दो-दो पैसे के लिए सब्जीवाले या मोची को फटकारते हैं। उन्हें लगता है कि छोटे लोगों में ईमान-धरम नाम की चीज नहीं रही। लेखक बहुत कटु होकर लिखता है : "ठीक कहते हैं, चोपड़ा साहब, इन छोटे लोगों में ईमान-धरम की कोई चीज नहीं बची है; कम्बख्त दो-दो पैसे की बेईमानी करते हैं। ईमानधरम को भी शरम आती होगी। अरे भाई, हजारों लाखों और करोड़ों पर हाथ साफ करो तो ईमानधरम को भी कुछ गौरव अनुभव होता है···' (पृ० २२)। चोपड़ा साहब व्यक्ति नहीं वर्ग हैं। अनैतिक तरीके से फलने-फूलने वाला नवधनाढ्य वर्ग आजादी के बाद तेजी से अपने मकड़जाल में सबको फँसाता जा रहा है। 'यश' जानता है : 'चोपड़ा साहब अनेक रूपों में हैं—छोटे रूप में, बड़े रूप में, पढ़े रूप में, बेपढ़े रूप में, गाँव में, शहर में, कस्बे में। इन सबके लिए पैसा सत्य है, वही बड़ा है, शिक्षा, मूल्य सभी दो कौड़ी के···" (पृ० २२)।

एक ओर सम्पन्न कहा जाने वाला वर्ग 'पैसे' को सब कुछ मानकर मानवीय मूल्यों का तिरस्कार करता है, दूसरी ओर निम्न वर्ग और निम्न मध्ययम वर्ग के बहुत से लोग 'मूल्यों' के लिए जोखिम उठाते देखे जा सकते हैं। कामरेड जगत, रूपमती, यश, बदरी भैया, यश के पिता वगैरह कई चरित्र 'आकाश की छत' में सकारात्मक मूल्यों के लिए लड़ रहे हैं। चूंकि यश के पिता और बदरी भैया की लड़ाई 'व्यक्ति' के स्तर से ऊपर नहीं उठ पाती, इसलिए वे टूट जाते हैं या हार जाते हैं। कामरेड जगत और रूपमती की लड़ाई के पीछे संगठित जनसमूह का बल है। मुक्तिबोध का यह कथन बहुत सार्थक है कि मुक्ति अगर है तो सबके साथ है। जगत जैसे लोग इस सत्य से अनभिज्ञ नहीं हैं। उनकी लड़ाई बहुत सोच-विचार कर शुरू की गयी है। कोरी भावुकता इसके पीछे नहीं है। जगत की लड़ाई किसी एक सेठ के विरुद्ध नहीं है। वह पूरी पूंजीवादी व्यवस्था का विरोधी है। उसे मालूम है : "सेठ को मारने से कुछ नहीं होगा। दूसरा सेठ पैदा होगा। हमें तो उस व्यवस्था को खत्म करना होगा, जिसमें सेठ पैदा होते रहते हैं, लेकिन यह भी तुम ठीक ही कहते हो कि हमें कभी-कभी सेठ को भी मारना होता है" (पृ० ६३)। वर्ग-संघर्ष की चेतना गाँव के स्तर पर अधिक तीखी है, क्योंकि वहाँ शोषण का रूप प्रत्यक्ष और अपेक्षाकृत अमानवीय है। यह आकस्मिक नहीं कि शोषण-विरोधी चेतना उन हरिजनों में अधिक तीव्र है, जिन्हें शताब्दियों से सताया जा रहा है। जगत के प्रयासों से हरिजन टोले की मानसिकता न केवल जुझारू हो चली है, अपितु पुरातन मान्यताओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के प्रतिकूल भी पड़ती है। लेकिन बाकी गाँव अभी भी मध्यकालीन मूल्य-मर्यादाओं को गले लगाये हुए है। रूपमती ने इस विसंगति को इन शब्दों में व्यक्त किया है : "गुनाह तुम्हारा बाभन होना नहीं है. गुनाह है एक अछूत जाति की औरत से पानी माँगना। वह पानी तो पिला देगी लेकिन सोचो, तुम्हारी जाति वाले तुम्हें कहाँ रखेंगे और फिर तुम्हें तो दोष कम देंगे, मुझे ज्यादा गाली देंगे···।" (पृ० ६६)।

व्यवस्था के अन्तर्विरोधों और सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों को 'आकाश की छत' में बार-बार कटघरे में खड़ा किया गया है। आजादी की लड़ाई में यश के पिता भी शरीक थे। आजादी के बाद उन्हें बहुत मुश्किल से प्राइमरी स्कूल की टीचरी मिली है। अंग्रेजों का पिट्ठू सेठ चोंकरदास स्वदेशी सरकार का चहेता बन गया। तब भी मजे करता था, अब भी मजे मारता है। चुनाव, साहित्य, पत्रकारिता आदि पर पूंजी और अमलातंत्र के दबाव की चर्चा भी की गयी है। मंत्री-नेता बाढ़ का मुआयना करने आये हैं, ताकि रेडियो-टेलीविजन आदि पर बयान दे सकें। उनकी प्रसिद्धि की हवस को तथाकथित पत्रकार पूरा करते हैं। उस पर तुर्रा यह कि ये पत्रकार अपनी निर्भीकता और विचार-स्वातंत्र्य का ढ़ोल भी खूब पीटते हैं : "··· लेकिन इनसे कोई पूछे कि आप इन नेताओं के आगे-पीछे क्यों दुम हिलाये रहते हैं, जनता की 'फोटो' छापने के बदले आप इन्हीं की फोटो क्यों छापते रहते हैं? जब किसी साहित्यिक गोष्ठी में ये नेता आते हैं तो आप उन नेताओं के औपचारिक अर्थहीन वक्तव्यों को तो छापते हैं, साहित्यकारों के अर्थपूर्ण वक्तव्यों की क्यों उपेक्षा कर जाते हैं?" (पृ० ६१)। अपनी आवारागर्दी को छिपाने के लिए 'राजनीति' का आधार लेने वाले व्यापारी-पुत्रों की एक जमात है जिसके पास न कोई सामाजिक दृष्टि है न सामाजिक हित की भावना। माता-पिता जिस 'दल' से संबद्ध हैं, उसी का गुणगान करते रहते हैं। व्यापारी वर्ग में कुछ शिक्षा के व्यापारी भी हैं। उन्हें जब लगता है कि मुनाफा हिन्दी माध्यम के स्कूल से है तो हिन्दी को माध्यम बना देते हैं: अंग्रेजी माध्यम में लाभ दिखायी देते ही स्कूल अंग्रेजी माध्यम अपना लेता है। कोढ़ में खाज यह कि पति और पत्नी ही क्रमशः प्रिंसिपल और वाइस-प्रिंसिपल बन जाते हैं और उन्हें न हिन्दी आती है, न अंग्रेजी (पृ ६२)। स्कूल के मैनेजर शराब के ठेकेदार रघुनाथ मल जैसे लोग हैं। अस्थायी अध्यापकों को न केवल ऐसे मैनेजरों की बेगार करनी पड़नी हैं, अपितु अपमानित भी होना पड़ता है।

यश के बहाने जैसे समूचे युवा वर्ग की मुश्किलों और उनसे जूझने वाली संघर्ष-क्षमता का विस्तृत बयान 'आकाश की छत' में उपलब्ध है। न पढ़ने-लिखने की सुविधा, न आगे बढ़ने की कोई प्रेरणा, आर्थिक मजबूरियां ऊपर से। ऐसी स्थिति में यदि यश जैसे युवकों को पैर रखने की जमीन मिल जाती है तो यह बड़ी बात है। यश के आत्मनिर्भर बनने की यात्रा में, जहाँ हतोत्साहित करने वाले तल अधिक हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहीं बदरी भैया के स्नेह, रूपमती की आत्मीयता और राधा के लगाव ने उसे बराबर बल दिया है। उपन्यास के आखिर में पद्मिनी का आगमन संकेत देता है कि संघर्ष यात्रा में अब यश अकेला नहीं रहा। पद्मिनी के आत्मीय लगाव के प्रति पहले वह शंकित था लेकिन बाढ़ में चल कर उसकी कुशलता जानने के लिए आने वाली पद्मिनी के अकृत्रिम राग से वह अपरिचित नहीं रहता।

समूची कथा 'यश' के अवलोकन 'बिन्दु से कही गयी है। एक चरित्र विशेष के कोण से लिखी गयी रचनाओं में लेखकीय सर्वज्ञता के दोष का तो परिहार होता ही है, एक संतुलन और कसाव भी आ जाता है। मिश्र जी ने सर्वत्र 'यश' के अवलोकन बिन्दु (Point of view) का अच्छा निर्वाह किया है। एक स्थान पर हल्का-सा व्यतिक्रम दिखायी देता है। दूध के डिब्बे वाले प्रसंग में बैंक कर्मचारी के मनोभावों की अभिव्यक्ति जिस प्रकार हुई है, वह अस्वाभाविक है। 'यश' पड़ोस के लोगों की बात सुन सकता है, चेहरे के भाव पढ़ सकता है, लेकिन उसके मनोभावों को हू-बहू, व्यक्त नहीं कर सकता। वहाँ उपन्यासकार हस्तक्षेप करता-सा दिखायी देता है। महानगर और गाँव की कथा को जोड़ने में उपन्यासकार ने शिल्पगत परिपक्वता का सुबूत किया है। किसी नए उपन्यासकार के हाथों पड़ यह उपन्यास केवल दिल्ली में आई बाढ़ से हुई हानि तक सीमित रह जाता है। मिश्र जी ने 'पूर्वदीप्ति' पद्धति के उपयोग से कछार के जीवन को भी मूर्त कर दिया है। नाटकीय, स्वप्नचित्र आदि पद्धतियों के उपयोग भी सर्जनात्मक हैं। गाड़ी की सीटी सुनकर यश का अतीत में खोते जाना, 'छपाक्' की आवाज सुनकर बदरी भैया की शहादत का याद आना आदि अनेक प्रसंग ऐसे हैं, जो गाँव-महानगर की कथा को अच्छी तरह जोड़ते हैं। हर घटना, हर चरित्र का अर्थ है। यहाँ तक कि 'ट्रांजिस्टर' से उभारते हुए सिनेमाई गीत भी यश की मानसिक बुनावट को समझने का निमित्त है।

'आकाश की छत' की भाषा बहुआयामी है। एक ओर 'चचरा', 'मोहगर', 'खाँची', 'हरवाही' जैसे आंचलिक शब्दों और 'एम्मेले', 'करान्ती' जैसे तद्भव शब्दों से निर्मित जनसाधारण की भाषा है, दूसरी ओर शिक्षित की परिमार्जित नागरिक भाषा है। उपन्यासकार की काव्यात्मक संवेदना का संस्पर्श कई जगहों पर मुखर है, लेकिन वहाँ उलझाव नहीं है। चट्टान की तरह समय, 'मीठा गुडमार्निंग' जैसे प्रयोग अच्छे लगते हैं। एक जगह 'सेमल' के पेड़ के ब्याज से बहुत थोड़े शब्दों में 'यश' जैसों की नियति को रेखांकित करने में उपन्यासकार की सफलता असंदिग्ध है : "हाय क्या किस्मत है, इस बेचारे की ! यह अपनी पूरी ताकत से अपने को बसंत के प्रति समर्पित कर देता है, लेकिन अब उसके फूलों को भगवान ने गंध नहीं दी तो वह क्या करे ? इसके लिए उसे लोग क्यों ओछी नजर से देखते हैं" (पृ० १०१)। शिल्प को सहज और संप्रेषणीय बनाने में इस तरह के भाषायी प्रयोगों की भूमिका सराहनीय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आकाश की छत' तमाम मुश्किलों के ब्यौरे के बावजूद निराशावादी जीवन दृष्टि से अनुशासित नहीं है। मिश्र जी का उपन्यासकार जहाँ बाढ़ को देखता है, वहीं धार से जूझती नाव को अनदेखा नहीं करता। इसमें न केवल 'अतीत' की चर्चा है, वर्तमान का कथन है अपितु 'भविष्य' की ओर इंगित भी है। 'और जवार को जीना हो तो सेठ को खतम करना ही होगा' इस पंक्ति में पूंजीवादी व्यवस्था के प्रतीक सेठ के अंत का संकेत मुखर है। जगत-रूपमती इस 'कल्पना' को 'वास्तविकता' में बदलने के लिए जनचेतना को उभारने में जुटे हैं। इस 'कथ्य' को औपन्यासिक रूप देने के लिए जिस 'शिल्पगत सहजता', 'भाषिक संरचना' और 'दो टूक कथन पद्धति' की आवश्यकता होती है, वह 'आकाश की छत' में है।

————

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बदलाव का सही दस्तावेज : बिना दरवाजे का मकान

हरजेन्द्र चौधरी

'बिना दरवाजे का मकान' हिन्दी के उन उपन्यासों की श्रेणी में आता है जो समसामयिक यथार्थ को पर्त-दर-पर्त उघाड़ने के लिए महत्वपूर्ण हैं। जैसा कि शीर्षक से ही ध्वनित होता है 'बिना दरवाजे का मकान' बढ़ती हुई सामाजिक-आर्थिक असुरक्षा की बेलौस अभिव्तक्ति है। इस असुरक्षा का रूप मूलतः महानगरीय है, परन्तु इस उपन्यास की नायिका दीपा की अनुस्मृतियाँ निम्नवर्गीय ग्रामीणों के मन और जीवन में प्रसार पाती असुरक्षा को भी अंशतः उद्घाटित करती हैं।

उपन्यास की नायिका दीपा सुरसो की भाँति फैलते असन्तुलित, कुनियोजित महानगर दिल्ली की एक नई बसती हुई कॉलोनी में एक 'बिना दरवाजे का मकान' बनाकर रह रही है। अपना और दुर्घटना में अपाहिज हुए अपने पति के जीवन निर्वाह के लिए वह अनेक घरों में झाड़ू पोंचा' और बर्तन माँजने का काम करती है। 'मइया मैनुँ लाल बख्श दे' जैसे भगवती-जागरण के गीत निःसन्तान होने के गहरे व्यक्तिगत दुःख की भट्ठी में झोंकते रहते हैं, तो एक दिन घर में आराम करने के विरल अवसर पर बीच-बीच में नोंचने आने वाली 'मालकिनें' उच्च वर्ग और उच्च मध्य वर्ग की नीचताओं, अन्तर्विरोधों, नैतिक भुरभुरेपन सामाजिक पतन और अमानवीयता की हदों तक पसरे जब-जब नंगे होते चोगाधारी स्वार्थों को दीपा के अनुचिंतन के माध्यम से हमारे सामने उघाड़ जाती हैं। इस प्रकार यह उपन्यास एक ओर महानगर के साथ-साथ ग्रामीण जीवन की विरूपताओं को अंशतः सामने लाता है तो दूसरी ओर दीपा के व्यक्तिगत दुःख-तकलीफ़ों के समान्तर घटित हो रहे व्यापक सामाजिक परिवर्तन की विश्वसनीय तस्वीर पेश करता है। समसामयिक यथार्थ और सामाजिक परिवर्तन की विश्वसनीय तस्वीर पेश करने की वजह से ही मुझे यह उपन्यास महत्वपूर्ण जान पड़ता है।

यहाँ पर मैं मूलतः सामाजिक संबंधों और सामाजिक परिवर्तने के उस रूप और दृष्टिकोण की चर्चा करना चाहूँगा जिसने इस उपन्यास को ताक़त बख्शी है। दीपा और उसकी अनेक मालकिनों के बीच का सम्बन्ध अपने समूचे अन्तर्विरोधों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ उभर कर आया है। जब किसी मालकिन को उससे कुछ 'काम' होता है तब स्वार्थ-अभिभूत मालकिन अप्रत्याशित मिठास और आसन्न सहानुभूति का समन्दर बन जाती है। परन्तु सामान्यतया उसे अपनी हर मालकिन से झिड़क और उपेक्षा के सिवाय कुछ नहीं मिलता, उसे कुत्ते की तरह दुत्कारा जाता है।

इन्हीं अनेक मालकिनों में से 'एक बुढ़िया' है जिसके घर 'राधा-बहू' आत्मदाह कर लेती है। यह त्रासदी दीपा की उपस्थिति में घटित होती है। राधा-बहू की सास दीपा को चाय पिलाती है, उसे अपनी बेटी के समान मानने का पाखंड करती है और उसे मकान बनाने के लिए सात सौ रुपये थमा देती है। परिणाम ? "सात सौ रुपयों ने मेरा सारा तेज पी लिया और मैंने पुलिस के आगे ऐसी गवाही दी कि साबित हो गया कि राधा स्टोव की आग लगने से मरी है। ये कसाई सब बच गये लेकिन मैं आज तक अपनी नज़रों में गिरी हुई हूं" (पृष्ठ ५६) राधा बहू की सास और दीपा—इन दोनों पात्रों का यह व्यवहार अनेक स्तरों पर भिन्न होने के बावजूद जिस एक बिन्दु पर समान है—वह बिन्दु है अपने-आप को अन्त तक सुरक्षित रख ले जाने की तड़प। लेकिन आत्म-सुरक्षा की यह तड़प अपने अन्तिम रूप में फिर से दो भिन्न रूपों में सामने आती है। दीपा स्वयं को तथा साथ-साथ अपनी और अपने समाज की गरिमा और मानवीयता को बचाना चाहती है, परन्तु बुढ़िया (राधा बहू की सास) की आत्मसुरक्षा के संकुचित दायरे में समाज और मानवीय गरिमा तो दूर, उसके अपने परिवार के सदस्य तक नहीं आते। वह अमानवीय बुढ़िया, वस्तु की अपेक्षा वस्तु को—बहू की अपेक्षा दहेज को—अधिक महत्त्व देती है।

समसामयिक भारतीय समाज की भीतरी नसों में—दूरदराज के गाँवों तक में—दूरदर्शन के साथ-साथ पसरती जा रही उपभोक्तावादी अपसंस्कृति के केन्द्र में यही वस्तु-भक्ति है जो व्यक्ति—मनुष्य—को लगातार परिधि की ओर धकेलती जा रही है। गंधाते हुए नासूरों पर इत्र छिड़कता वर्ग भी आज परेशान है और इस उच्च या उच्चमध्य वर्ग के तमाम सड़ियलपन और भुरेभुरेपन को जानबूझकर नजर-अंदाज करने वाला (दीपा का) वर्ग भी बेचैन है। मन से उठती गालियाँ उसके गले तक रह जाती हैं कड़वी से कड़वी गुस्सैल भावना होठों तक आते-आते एक खीझ भरी शब्दावली मात्र रह जाती है। इसीलिए 'बहुएँ जल रही हैं' और उन्हें जलाने वाले या उनके आत्मदाह की परिस्थितियाँ तैयार करने वाली अमानवीय बुढ़ियाएँ और उनके कमज़ोर रीढ़हीन बेटे भौतिक दृष्टि से फल-फूल रहे हैं। मनुष्य का महत्त्व घट रहा है, वस्तुओं का महत्त्व बढ़ रहा है। पारस्परिक प्राथमिकताएँ पलट रही हैं। उपभोक्तावादी अपसंस्कृति फल-फूल रही है। मानवीय सम्बन्ध उपभोग का विषय बनते जा रहे हैं।

सात सौ रुपए कर्ज के बदले दीपा का स्वाभिमान खरीदकर उसका उपभोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने वाली वह कमीनी बुढ़िया कुछ अन्तराल के बाद—अपनी सुरक्षा सुनिश्चित करने के बाद—फिर से अपने उसी मूल स्वभाव और अमानवीय व्यवहार की ओर लौट आती है। वह बीमार दीपा से इस तरह पेश आती है—"सबके पैसे खा-खा कर गयी है और किसी के यहाँ काम पर न जाकर सज-संवरकर घूमती दिखाई पड़ेगी तो लोग क्या कहेंगे ?···अरे, सभी जानते हैं तेरा मरद सड़ रहा है उससे तेरा जी नहीं भरता होगा। सज-संवरकर जाने में दोहरा लाभ है न ! पैसे भी मिलते होंगे और मज़ा भी।" (पृष्ठ ३८-३९) पर यहाँ दीपा का स्वाभिमान फुफकार उठता है—"खबरदार, अगर आपने एक भी और गंदा लफज मुंह से निकाला। हम गरीब हैं तो क्या हुआ हमारी इज्जत है। आप लोगों के घरों को देखा है। देखा है क्या होता है। कोई अपनी बहू जलाकर मार रहा है, किसी की बेटी किसी के साथ भागती है, किसी की बेटी मरद छोड़कर मायके में पड़ी होती है, किसी का मरद उसे रस्सी में बाँधकर मारता है, किसी का लड़का चोरी में पकड़ा जाता है और क्या-क्या नहीं होता ?" (पृष्ठ ३९) इस तरह तमाम ऊपरी तामझाम के बावजूद 'बड़े' घरों और 'बड़े' लोगों के सम्बन्ध में अर्जित दीपा के अनुभव उनकी आन्तरिक वास्तविकताओं को उघाड़ कर रख देते हैं। दीपा को बेटी मानने वाली बुढ़िया स्थिति बदलते ही उसे वेश्या बताने लगती है—क्योंकि अपने पक्ष में 'उपभोग' करने के बाद उसके लिए दीपा महत्त्वहीन 'वस्तु' मात्र रह जाती है। निःसन्देह यह सम्बन्ध मानवीय सम्बन्ध नहीं है—यह तो भूखे पशु और हरी-भरी लहलहाती घास के बीच का-सा सम्बन्ध है। पेट भरने तक चरते रहे, फिर रौंद कर चलते बने। मानवीय सम्बन्धों के ह्रास की यह चिन्ता परोक्ष रूप से इस उपन्यास की केन्द्रीय चिन्ता है।

राधा बहू के आत्मदाह का प्रसंग अपने समूचे विस्तार में हमारे समाज की पतनशीलता का प्रमाण है। यह पतनशीलता अब केवल महानगरों की 'थाती' नहीं है, आधुनिकता की चपेट में आते जा रहे ग्रामीण इलाके भी यदा-कदा इसमें अपना 'योगदान' देने लगे हैं। सामाजिक परिवर्तन की निर्धारित होती दिशाओं का चिन्ता-जनक प्रमाण प्रस्तुत करने वाली इस पतनशीलता का स्रोत हमारी राष्ट्रव्यापी निर्धनता—बल्कि कहें कि घोर आर्थिक विषमता है। जहाँ भी यह आर्थिक विषमता अधिक है वहीं पर अपराध-वृत्ति और महत्त्वाकांक्षाओं का डरावना गठजोड़ है; सोच और कर्म के बीच चौड़ाती हुई अँधेरी खाई है; झूठ, फरेब, चालाकी और व्यक्तिगत व सामाजिक व्यवहार का अन्तर्विरोधपूर्ण लीचड़पन है; मौकापरस्ती और सामाजिक-दलबदलूपन है; वहीं पर मानवीय प्रतिष्ठा व गरिमा के स्वस्थ प्रवहमान रक्त को अस्तित्त्वहीन बनाता उपभोक्तावादी अपसंस्कृति का गाढ़ा मवाद है।

उपन्यास में ऐसा कोई भाषण या वक्तव्य तो नहीं है, फिर भी घटना-क्रम व प्रसंगों से स्पष्ट है कि जब तक आर्थिक विषमता का यह व्यापकतर होता संकट है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब तक हमारे सामाजिक जीवन में भी अनेक तरह के संकट बने रहेंगे—बहुएँ जलतीं रहेंगी, झूठी गवाहियों के बल पर अपराधी बचते रहेंगे, नवधनाढ्यों द्वारा गरीब औरतों को 'अवेलेबल' मानने की अमानवीय मानसिकता का विस्तार होता रहेगा, नगरीकरण की बदहवास प्रक्रिया के साथ गरीबी और गुंडागर्दी बढ़ती रहेगी, चोर-डाकुओं का आतंक फैलता चला जाएगा, 'प्रोपर्टी-डीलर' जैसी नई व भयानकतर जातियाँ सामाजिक परिदृश्य पर लगातार उभरती रहेंगी। कुल मिलाकर यह कि असुरक्षा इस हद तक हमारे दैनिक जीवन का अविछिन्न तत्त्व बन जाएगी कि मकानों के दरवाज़े होने न होने के बीच कोई खास फर्क नहीं रह जाएगा। सामाजिक असुरक्षा और आर्थिक महत्त्वाकांक्षा कंधे से कंधा मिलाकर उपभोक्तावादी अपसंस्कृति के उस चरम बिन्दु तक अपनी यात्रा तय करेंगी, जिस बिन्दु पर पहुँचकर मानवीय गरिमा शून्य हो जाती है। निःसन्देह इस यात्रा की प्रक्रिया जितनी भयानक है, परिणाम इससे कई गुणा भयानक होगा।

इस उपभोक्तावादी अपसंस्कृति का एक पहलू है—हर वस्तु या व्यक्ति को उपभोग का विषय मानकर, पाश्विक स्तर तक गिरकर अपनी जैविक एषणाओं की अन्धी पूर्ति। 'आभा सुधेस-प्रसंग' के माध्यम से यह उपन्यास पारिवारिक सम्बन्धों में दरार पैदा करने वाले—अविश्वास, असम्पृक्ति और निजी जैविक भूख जैसे—तत्त्वों को उजागर करता है। दीपा की एक मालकिन है—सेठानी। उसका एक प्रेमी सुधेस' उसकी बेटी आभा को घर से भगाने की योजना बना रहा है। पार्क के अंधेरे में दीपा संयोगवश उनकी आवाज़ पहचान लेती है और योजना का भंडाफोड होने के कारण योजना ठप्प हो जाती है। एक ओर सेठानी और उसकी पुत्री आभा एक ही प्रेमी 'सुधेस' से जुड़कर 'अद्वैतवादी प्रेम' को 'शेयर' करती हैं तो दूसरी ओर सेठानी का पति इंस्पेक्टर साहब—एक दिन अकेले में अचानक दीपा के सौन्दर्य और उसकी 'ज़रूरतों' के प्रति सचेत और 'दयालु' होकर उसकी ओर सौ का नोट बढ़ा देता है। इस परिवार के सभी पात्र निजी जैविक भूख से त्रस्त हैं। दसवीं की छात्रा आभा अपनी माँ से कहती है--"कौन करता है इस घर की इज्जत का खयाल? और कौन किस आदमी का खयाल करता है? तुम करती हो पापा का खयाल? पापा या तुम करती हो हम लोगों का खयाल? भाई करता है किसी का खयाल? क्या खयाल करने का सारा ठीका मैंने ही ले लिया है? पैसे के सिवा इस घर में क्या है मम्मी, जिसका ख़याल किया जाए?" (पृ० ८९) पैसे की अधिकता ने पारिवारिक सुख को नहीं, बल्कि असम्पृक्ति और अविश्वास को जन्म दिया है। इसी घर में इंस्पेक्टर से दीपा कहती है—"साहब, एक बात कहूं? पैसा न रहे तो भी बहुत बुरा होता है और पैसा बहुत रहे तो भी बहुत बुरा होता है।" (पृ० ९२) उपभोक्तावादी मानसिकता और आर्थिक विषमता का गहराता संकट इस प्रसंग में पारिवारिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धरातल पर उजागर होता है। परिवार के भीतर पनपता असंतोष अन्ततः सामाजिक जीवन को विकृत करता है।

इसी तरह पुजारी जी के 'शुद्ध', 'पवित्तर' व 'धार्मिक' परिवार के सदस्यों के हाल देखिए ! पुजारिन गरीब औरतों के थैलों से दूध की बोतलें चुराती है, पुजारी-पुत्र लड़कियों से छेड़खानी करता घूमता है, पुजारी-पुत्री अपनी एक सहपाठिनी के पर्स से पैसे चुराती है। ये सामाजिक अपराध इसलिए होते हैं कि परिवार में असंतोष है। नैतिकता के उपदेश व्यवहार को अनुशासित नहीं कर पाते। कथन और व्यवहार की नित चौड़ाती खाई का ठोस साक्ष्य प्रस्तुत करता है यह पुजारी जी का परिवार। सामान्यतया आज अधिकतर नई पीढ़ी का व्यवहार घर में 'सात्विक' और घर के बाहर 'तामसिक' किस्म का है।

उपन्यासकार का दृष्टिकोण स्पष्ट है। नवधनाढ्य वर्ग (निओ-रिच-क्लास) की नई-नई नीचताएँ हों या पुजारी-वर्ग जैसे पारम्परिक वर्गों का नकाबपोश ओछापन—दोनों ही तात्विक रूप से समान हैं और किसी स्वस्थ सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में दोनों से ही कोई प्रत्याशा नहीं की जा सकती। यदि कोई प्रत्याशा की जा सकती है तो उस वर्ग से, जिससे सम्बन्धित दीपा यह कहने का साहस रखती है—"हम लोगों को क्या बीबी जी, अपना हाथ सही-सलामत रहे तो किसी की धौंस क्यों सहें ? हाथ सही-सलामत नहीं रहता तो कोई कौड़ी को भी नहीं पूछता। हाथ-पाँव सही-सलामत होने पर सौ लोग पूछते हैं। हम शान से काम करते हैं, शान से रहते हैं। हाथ-पाँव सलामत होने पर अपने मरद की भी धौंस नहीं सहते बीबी जी ! हम लोग खुद अपने बल पर जी सकती हैं। एक मरद बिगड़ैल निकलेगा, उस ससुरे को छोड़कर दूसरा कर लेंगे, लेकिन आप लोग तो वहीं सड़ती रहेंगी, घर के अन्दर सारा नरक भोगती रहेंगी और इज्जत का परदा टाँगे रहेंगी।" (पृष्ठ १०५-१०६)

उपर्युक्त वक्तव्य 'वीमेन-लिब' या 'फ्री सेक्स' जैसे किसी अमेरिकी सैद्धांतिक सनकीपन से निकला कोई अखबारी या क्रान्तिकारी वक्तव्य नहीं है, यह तो ठेठ भारतीय समाज के अनुभव से निष्कर्षित एक भुक्तभोगी, अधपढ़ी औरत की कही हुई सीधी-सच्ची बात है। ऐसी ही सीधी-सच्ची स्वीकृतियाँ सामाजिक परिवर्तन के सही दिशा-निर्धारण में योगदान दे सकती हैं। कर्मशक्ति पर यह गहरा विश्वास हर तरह से मानवीय और महत्त्वपूर्ण है।

उपन्यास के भीतर और बाहर हमारा समाज एक ओर तो पैसे की अधिकता से सड़ रहा है तो दूसरी ओर पैसे की कमी से फनफना रहा है। और फिर "पैसे तो उसी के पास होते हैं, जिसका ईमान खोटा होता है।" ईमान का यह खोटापन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे समूचे समाज को दुष्प्रभावित कर रहा है, आर्थिक विषमताओं और अपराधों को बढ़ा रहा है। स्पष्ट है कि निम्न वर्ग (दीपा) और मध्य तथा उच्चमध्य वर्गों (मालकिनों) के बीच पसरा आर्थिक विषमता का यह अजगर एक ओर तो हमारे सामाजिक सम्बन्धों को विषैला और मुर्दा बनाता जा रहा है तो दूसरी ओर सामाजिक परिवर्तन को अवांछित दिशा में उत्प्रेरित कर रहा है। इस अर्थ में यह उपन्यास वर्तमान सामाजिक सम्बन्धों व घटितमान सामाजिक परिवर्तन का एक खूबसूरत और विश्वसनीय दस्तावेज है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहजता से बनी जटिलता की दुनिया : दूसरा घर

डा० गंगा प्रसाद विमल

'दूसरा घर' स्वदेश के ही प्रवास में जीवन बिता रहे लोगों की 'जीवनी' जैसा एक उपन्यास है जो एक स्तर पर भीषण गरीबी से जूझ रहे लोगों की मार्मिक गाथा प्रस्तुत करता है तो दूसरे स्तर पर अपने ही देश के दूसरे हिस्से में बस जाने वाले लोगों को 'विदेशी' मानने की प्रवृत्ति को, उजागर करता है। यह उपन्यास इसी ज्वलंत समस्या को सामने रखता है। हमारे देश में इस वास्तविकता पर बहुत ही कम लिखा गया है। ऐसा नहीं कि इस समस्या से हम-दो चार न हुए हों—क्योंकि लगभग सभी प्रदेशों में ऐसी स्थितियाँ उपलब्ध हैं। हम उन स्थितियों के कारण उत्पन्न समस्याओं को निरन्तर सरकारी उत्तरदायित्व समझकर टाल देते रहे हैं। वास्तविकता के इस रूप में इन वर्षों में पूरे भारतीय महादेश के प्रान्तों में अपने पैर जमाये हैं। कहना होगा कि हमारी क्षेत्रीय एवं घटकवादी राजनीति ने निरन्तर ऐसी समस्याओं को उकसाने, उन्हें ज्यादा जटिल बनाने एवं उन्हें एक ऐसी अंधी गली में ला पटकने का कार्य किया है। जहाँ से कोई भी शुरूआत सम्भव नहीं है। रामदरश मिश्र ने इस समस्या को, इसके सही परिदृश्य में चित्रित किया है। गुजरात के अहमदाबाद जैसे बड़े नगर में बहुसंख्या में पूर्वी उत्तर प्रदेश के लोग आ बसे हैं। वे अपने घर, गाँव खेत-खलिहान छोड़ किसान इस ओर आये होंगे। यह स्वयं स्पष्ट प्रश्न है। गरीबी और शोषण की मार से प्रताड़ित गरीब लोग रोजगार के लिए अपने घरों से बाहर निकलते हैं। वे उन्हीं क्षेत्रों में जाते हैं जहाँ उन्हें न केवल रोजगार मिलने की उम्मीद होती है बल्कि 'अपने लोगों' के आश्रय का अनुमान होता है। ऐसे ही पूर्वी उत्तर प्रदेश के बहुत से लोग गुजरात और महाराष्ट्र की ओर गये है। अपने घर से बाहर जो दूसरा घर उन्होंने बनाया है उसकी स्थिति बिना उदाहरण दिये शायद स्पष्ट नहीं की जा सकती। 'चाली के एक-एक कमरे में छह-छह सात-सात आदमी रहते हैं। छोटी-छोटी बातों को लेकर प्रायः तू-तू मैं-मैं हो जाती है, फिर भी एक आत्मीयता की गंध वातावरण में तैरती है···' परन्तु यह 'दूसरा घर' उन्हें उतना ही बेघर बनाये रखता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है जितना उनका अपना पहला घर। जहाँ से वे लोग वर्षों के लिए, आर्थिक विवशताओं के कारण 'निष्कासित' हो जाते हैं और अपने घर लौटने पर उनका अपना रक्त भी जैसे उन्हें पहचानने से इन्कार कर देता है—'आज परिवार की बहुत याद आ रही है। दो साल के मास्टर दीपू। जब पिछली बार घर गया था तो घर के बाहर मिल गये थे—नंग धड़ंग, धूल में लिपटे हुए, साल भर बाद घर गया था, पहचाना भी नहीं। मैं उसके पास जाकर, खड़ा हो गया था। वह मुझे अजनबी समझकर विस्मय की दृष्टि से देखता रहा। किसी ने कहा—"दीपू है।" मैंने उसे गोदी में उठाया तो वह रो पड़ा।'

'बेघर' होने का बोध इस उपन्यास का केन्द्रीय बोध है। कथा की मुख्य धारा इसी संघर्ष से जुड़ी हुई है कि ऐसा क्यों है ? वे कौन सी शक्तियाँ हैं जो हमारे अपने घर में, अपने ही देश में 'घर', 'स्थायित्व', 'स्वामित्व' और 'सुख' का बोध नहीं दे पाती। अपने घर में आर्थिक रूप से दैन्य का नरक है जो आदमी को कहीं बाहर किसी 'स्वर्ग' की खोज में भटकाता है। वह 'स्वर्ग' भी क्या है—बस अपने लिए एक अर्थ-मुक्त छोटे से संसार की रचना करना, परन्तु बाहर से आये ये लोग छोटे-छोटे दादाओं, दलालों, शोषक नेताओं के हाथ चढ़ जाते हैं और विवश हो जाते हैं कि वे वैसे ही रहे। कितने नारकीय लोक में ये लोग रहते हैं—केवल एक उदाहरण ही इसके लिए पर्याप्त होगा। 'चाली क्या थी, दुर्गंधशाला थी। चालियों के सामने एक गंदी चौड़ी नाली बह रही थी। जिस पर जगह-जगह बैठे हुए बच्चे फारिग हो रहे थे। नाली के बजबजाते पानी में मल तैर रहा था, एक भयानक दुर्गंध उठ रही थी, पब्लिक स्थानों की दीवारों पर चिथड़े टंगे हुए हैं। कुछ सूख रहे हैं, कुछ परिवारों में आड़ के काम आते हैं। मक्खियाँ भिनभिना रही हैं, पास ही में एक चाय की दुकान खोली हुई है। जिसमें कुछ खाने-पीने की चीजें खुली हुई हैं। एक सीधी रेखा में कुछ कमरे बने हुए हैं . कमरे क्या हैं मिट्टी से ईंटें जोड़ दी गयी हैं और उन पर टिन का छप्पर रख दिया गया है···'

इस नरक से संबंध है पढ़े-लिखे लोगों का, शोषण करने वालों का और राजनीति का, उस राजनीति का जो क्षेत्रीयता के नरभक्षी चेहरे के रूप में हमारे एकतावादी समाज को खण्डित करने के लिए निरन्तर कोशिश में लगी हुई है। यह समस्या केवल गुजरात की ही नहीं जैसा हम पहले कह चुके है—इसका विकृत रूप अनेक प्रान्तों में समस्याएँ उत्पन्न कर रहा है। रामदरश मिश्र ने गरीबी के चक्र से इस समस्या को जोड़ा है। यदि हम आर्थिक रूप से सबल हों—यदि हम आर्थिक स्वतंत्रता के अपने सपने को साकार कर लें तो शायद ऐसा नहीं होगा। मेरे खयाल में एक समाजशास्त्री के आकड़ों से अधिक विश्वसनीय है यह कृति, जो बिम्बों की मार्फत सच के असंख्य वृत हमारे सामने ला खड़ा करती है। शंकर या विनोद या कमलेश या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० गौतम या पी के तथा ऐसे ही अनेक लोग हमारे समाज के उस वास्तव का हिस्सा है जो एक छोटी सी क्षेत्रीय इकाई में अपने अपने रूपों में क्रियारत हैं। इस उपन्यास में गुजरात के एक नगर में छोटे से अत्तर प्रदेश की जो कल्पना की गयी है—वह मात्र कल्पना या असत्य नहीं। बड़े-बड़े नगरों में आपको ऐसे छोटे छोटे द्वीप मिल जायेंगे जहाँ वे अपनी छोटी सी सांस्कृतिक दुनियाँ निर्मित कर स्वयं को 'मूल' से जोड़े रखते हैं। स्वयं को मूल से जोड़े रखना आदमी की सबसे बड़ी कमजोरी है—वह अपने मूल में अपने 'निर्वाण' की कल्पना को फलीभूत मानने के लिए विवश होता है परन्तु अधिकांशतः अपने मूल की ओर लौटना एक तरह की मनोसुरक्षा का भाव है। यह मनोसुरक्षा का भाव 'असुरक्षा' के कारण पनपता है। आप आर्थिक रूप से सम्पन्न वर्गों में ऐसा नहीं पायेंगे। उनमें जहाँ 'कास्मोपालिटन' होने का दर्द पनपता है, आर्थिक रूप से विपन्न लोगों में अपने मूल की ओर लौटने की इच्छा बलवती होती है। यह अलग प्रश्न है कि कभी-कभी समर्थ लोग अपनी राजनीति का मोहरा 'मूल की ओर' लौटने के नारे को भी बना डालते हैं।

'दूसरा घर' एक ही दुनिया में हमें मनुष्य के विश्वास' अविश्वास, कल्पना और यूटोपिया की दुनियाओं की तस्वीर दिखाता है। शायद किसी उपन्यास की सामर्थ्य का, उसके महत्व का मूल आधार भी यही है कि उसमें कितनी विस्मृति है। इस रूप में रामदरश जी के इस उपन्यास पर बहस अनिवार्य लगती है क्योंकि 'विस्मृति' में 'गहराई' का तत्व क्या उसकी कलागत बुनावट से आता है या संवेदनात्मक प्रधानता से? यह प्रश्न उठाने की मेरी मंशा केवल इतनी है कि इससे हम उपन्यास की रचना से जुड़े कई सवालों के उत्तर भी दे पायेंगे। मसलन उपन्यास की भाषा को ही लें—भाषा में मिश्र जी एक कवि होते हुए भी व्यर्थ के भावुकतापूर्ण विन्यास के पक्षधर नहीं हुए हैं। उन्होंने स्थिति के अनुरूप भाषा के सृजन का पक्ष लिया है। चाहिए कि ऐसी भाषा कथ्य के समानुरूप होती है—उस अर्थ में नहीं कि 'कथ्य' केवल भाषा से ही उपजता हो वलिक इस अर्थ में कि भाषा भी कथ्य की समानान्तर प्रक्रिया है।

उपन्यास से बाहर से आये लोगों के अन्तर्विरोध भी स्पष्ट होते हैं। रूपलाल पहलवान और गोरख पहलवान उन दो दलों की लगाम संभाले हुए हैं। जो क्षेत्रीयता के भीतर छोटे स्वर की संकीर्ण क्षेत्रीयता का प्रतिनिधित्व करते हैं। जातिवाद, धर्म और आर्थिक आधारों पर निर्मित अलगाव के अनेक विश्वसनीय वृत इस उपन्यास में हैं। कहना होगा कि रामदरश मिश्र ने अपनी अतीत की स्मृतियों से एक ऐसे कथानक का निर्माण किया है जो प्रकाशन से पूर्व ही पूरे देश के राजनीतिक फलक पर चित्रित सा था। इस चित्रित दृश्य कथा में श्रम की महत्ता को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस तरह कथाकार ने अंकुरित किया है उससे विद्रोही चेहरे की क्रान्तिवादिता खण्डित नहीं होती अपितु श्रम के प्रति नये संकल्प में व्यवस्था की जड़ता और दमनकारी चरित्र का उत्तर भी है। 'दूसरा घर' अपनी सहजता में हमारी जटिल दुनिया की तस्वीर है। वह चाहे कला दृष्टि से निर्मित प्रति संसार न लगता हो पर इस बारे में दो राय नहीं है कि वह हमारी हीं दुनिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहानी

परिवेश और आक्रोश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवेदना और निर्णय के द्वन्द्व की कहानियाँ

डॉ० नरेन्द्र मोहन

एक लम्बे अरसे से निरन्तर लिख रहे और कुछ विशिष्ट कृतियाँ देने वाले लेखक की रचनात्मक पूंजी के बारे में सन्देह करने का कारण नहीं रह जाता। उसकी सृजनात्मक प्रवृत्तियां और मनो-दृष्टियाँ रचनाओं में प्रतिबिंबित हो चुकी होती हैं। उसकी रचनात्मक शक्ति और सीमा भी एक हद तक तय हो चुकी होती है। रामदरश मिश्र ऐसे ही लेखक हैं, जिन्होंने एक लम्बी-रचना-यात्रा में कविता, कहानी, उपन्यास और अन्य कई विधाओं में लिखा है और अपनी पहचान बनाई है। उनकी सृजनात्मकता का ताप सभी विधाओं में एक सा महसूस किया जा सकता है।

प्रश्न हो सकता है कि उनकी सृजनात्मक की धुरी और केंद्रीय तत्व क्या है? हमारे विचार में उनकी रचनाओं की धुरी है मनुष्य और केंद्रीय तत्व है मानवीय करुणा। वे कविता लिख रहे हों या कहानी, उपन्यास लिख रहे हों या आलोचना, मनुष्य को वे कभी ओझल नहीं होने देते। मनुष्य की तकलीफ उन्हें भीतर तक विचलित कर देती है और उनके संवेदना-तंत्र में खलबली मचा देती है। यह खलबली उन्हें सृजन के लिए—कविता, कहानी और उपन्यास लिखने के लिए प्रेरित करती है। यह महज़ भावनात्मक किस्म की होती तो उसका कोई मतलब न होता। भावना के साथ-साथ यहां विचार भी है जो उनके सृजन के स्तर को उठाता है और उन्हें बेहतर मानवीयता के पक्ष को प्रबल करने की ओर अग्रसर करता है। कला और साहित्य के क्षेत्रों में इस ढंग के प्रयत्न, अक्सर, अमूर्त मानवतावादी आशयों में उलझ कर या सिमट कर रह जाते हैं पर रामदरश मिश्र इन प्रयत्नों के ज़रिये निजी और सामाजिक परेशानियों के द्वंद्व को उभरते हैं और उन्हें ठोस सामाजिक-आर्थिक आधार देने का उपक्रम करते दिखते हैं—अपनी कविताओं, कहानियों और उपन्यासों में। यह वह खास बिन्दु है जो भारत के सामाजिक-आर्थिक संक्रमण के विविध पक्षों को उनकी रचनाओं में प्रामाणिकता से पेश करने में सहायक हुआ है।

मनुष्य की चिन्ता की इस वैचारिक धुरी में से ही उनके साहित्य की मानवीय चेतना फूटी है और यही चेतना उन्हें मनुष्य के दुःख-दर्द के साथ गहराई से जोड़ती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और उन्हें मानवीय पीड़ा और अन्तर्वेदना के विभिन्न धरातलों पर ले जाती है। मानवीय करुणा वह मूल तत्व है जो उनकी रचनाओं में समाया हुआ है और उनका अविछिन्न हिस्सा है, इस तत्व से जुड़े सैकड़ों स्तर, प्रकार और रूप उनकी कृतियों में बिखरे मिलेंगे। कविता में इन धरातलों की बनावट जितनी सूक्ष्म, जटिल, सघन और बिंबात्मक है, कथा-साहित्य में उतनी ही सीधी, साफ और सार्थक ब्यौरों से सम्पन्न है—काव्यात्मकता के गुणों के साथ। उनके कथा-साहित्य में मानवीय करुणा के एहसास से परिपूर्ण पात्रों की "रेंज" में अद्भुत वैविध्य है।

ऊपर हमने उनके साहित्य की धुरी मनुष्य की चिन्ता मानी है और केंद्रीय तत्व माना है मानवीय करुणा। इन दो बातों को उनके साहित्य के आधार के रूप में स्वीकार करके चलें तो उनकी कहानियों को बेहतर तौर पर समझा जा सकता है। देखना यह है कि ये दोनों उनकी कथात्मक दृष्टि के साथ कैसे जुड़ते और टकराते हैं। यह दृष्टि है क्या? हमें लगता है कि यह दृष्टि गांव और शहर के विविध सन्दर्भों और संक्रांत अनुभवों से बनी रागात्मक दृष्टि है जिसमें एक ओर मानवीय चिन्ता समाई हुई है. दूसरी ओर उससे लिपटा हुआ है मानवीय करुणा का गहरा एहसास। "चिट्ठियों के बीच" कहानी का केंद्रीय पात्र डॉ० देव एक स्थल पर कहता है: "लेकिन चीजों को अलग-अलग समझना ही तो समझना नहीं है, तमाम चीजों को एक साथ समझना भी समझना होता है और वही बेहतर समझना होता है और यह समझना ही तो जीना नहीं है, जीना तो एक जटिल प्रक्रिया है—समझने की, भोगने की, समझ कर भी न समझने की, यानी उसे राग में डुबो देने की, पाने की और त्यागने की और वह किसी को कैसे समझाए कि वह अपने गांव से, घर से जुड़ा हुआ है—समझ से नहीं, एक अतिरिक्त राग-लय से।" ये पंक्तियां रामदरश मिश्र की रचना-दृष्टि को और कहानी के केंद्रीय पात्र की मानसिकता को समझने में दूर तक सहायक है।

"चिट्ठियों के बीच" कहानी में निजी और गाँव की परेशानियों के बीच फंसे व्यक्ति का बोध कराया गया है। शहर में रहते हुए उस पर परिवार की ज़रूरतों के, गांव में रह रहे अपने आत्मीय जनों के और परिस्थितियों के दबाव हैं। ये दबाव भावात्मक सम्बन्धों को तनावपूर्ण बना देते हैं। संबंधों का तनाव और द्वंद्व इस कहानी में मानसिक स्तरों पर फैलता चलता है जिसे लेखक ने रागात्मक दृष्टि से संयोजित करना चाहा है। इस दृष्टि को लेखक के आत्मीय अनुभव निर्धारित करते चलते हैं। उनकी कहानियों में, इसीलिए, गहरी रागात्मक संपृक्ति का भाव है। रागात्मक संपृक्ति वाले लेखक के लिए इतनी चौकसी बरतना ज़रूरी हो जाता है कि वह देखे कि रागात्मक संपृक्ति भावात्मक प्रवाह में न डूब जाए। "चिट्ठियों के बीच" और "खण्डहर की आवाज" कहानियों की रागात्मकता का मुकाबला "भटकी हुई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुलाकात" और "लाल हथेलियां" कहानियों की भावुकता कैसे कर सकती है? ये कहानियां पढ़ते हुए रागात्मकता और भावुकता के विभाजक बिन्दु को ध्यान में रखना जरूरी है।

रामदरश मिश्र की सृजनात्मक मानसिकता में गाँव और शहर एक साथ समाए हुए हैं। उन्हें अलगाना मुश्किल है। शहर की कहानी लिखते-लिखते वे कब गांव में लौट जायेंगे और गांव की कहानी कहते-कहते कब शहरी जिन्दगी की परतें उघाड़ने लगेंगे, कहना कठिन है। एक जगह उन्होंने स्वयं कहा है: "शहरी कथानकों में एक देहात है और देहाती कथानकों में एक शहर है। उनकी कहानियों में "गंवई" मिट्टी के प्रति अटूट लगाव झलकता है। यह लगाव ही बताता है कि उनके कथा-सृजन की जड़ें गांव में गहरे तक धंसी हुई हैं वहीं से वे खुराक हासिल करते हैं, वहीं से उनकी कहानियों का पेड़ पल्लवित और विकसित हुआ है। "मां, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो" कहानी लें। इस कहानी में गांव से जुड़े व्यक्ति का दर्द व्यक्त हुआ है जिसे लेखक ने बृहत्तर आयाम में प्रस्तुत किया है। बाढ़ आ जाने और अकाल से गांव की जो दुर्दशा होती है और जो त्रासदी यहां घटती है, उसका बड़ा यथार्थ चित्रण इस कहानी में किया गया है। गांव की दुर्दशा और देशव्यापी पाखंड का संदर्भ इस कहानी की संरचना में गुंथे हुए हैं।

यह कहानी व्यापक स्तरों पर फैली हुई विषमता और खालीपन का संवेदनात्मक धरातल पर बोध कराती है। मां के मर जाने से पैदा हुई उदासी इस विशाल भू-भाग की उदासी के साथ मिलकर गाढ़ी हो रही है। गांव की दुर्दशा, नेताओं की पाखंडपूर्ण उक्तियों और करतूतों से और अधिक उधड़ आई है। घर-घर भूख दहाड़ रही है। पैसा देने पर भी अन्न नहीं मिलता। पिता कहते हैं: "भयंकर अकाल फैला हुआ है, न पशुओं को चारा मिलता है न मनुष्यों को भोजन।" मंत्री जी के भाषण निजी और सामाजिक स्तरों पर संक्रांत उदासी और सन्नाटे को और बढ़ा देते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह कहानी देशव्यापी भयानक सन्नाटे की कहानी है। कहानी में यह सन्नाटा तीन धरातलों पर पसरा हुआ है—निजी, सामाजिक और राजनीतिक। एक धरातल दूसरे धरातल से इस कदर गुंथा हुआ है कि अलगाया नहीं जा सकता। परिवेशगत स्थितियों की प्रामाणिक पहचान गहरे अन्तरंग अनुभवों के ज़रिये यहां उभरी हैं। इन अनुभवों को लेखकीय दृष्टि से बांधे हुए है। इससे कहानी में संवेदनात्मक सघनता और संश्लिष्टता पैदा हुई है।

रामदरश मिश्र के बार-बार गांव की ओर लौटने की प्रवृत्ति पर कुछ लोग नाक-भौं सिकोड़ सकते हैं और इस तरह पीछे लौटने को यथार्थ विरोधी और प्रगति विरोधी करार दे सकते हैं। इस प्रवृत्ति को "नास्टेलजिया" भी कह दिया जाता है। यह सही है कि रामदरश मिश्र में अतीतजीवी प्रवृत्ति है, गांव में बार-बार लौटने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति अधिकतर कहानियों में उनके लेखकीय स्वभाव के हिस्से के तौर पर झलकती मिलेगी, पर जहां कहीं वे इसके बल पर किसी स्थिति या समस्या के मूल्यांकन में जुड़ते हैं या किन्हीं मूल्यों के समर्थन या पुष्टि का आभास देने लगते हैं वहां उनकी मूल्य-दृष्टि की दरारें उभर आती हैं।

गांव की ओर उनके लौटने का कारण सृजनात्मक मजबूरी है, यथार्थ से पलायन या "नास्टेलजिया" नहीं है। यह वह जमीन है जहां वे खड़े हैं, उनकी कहानियां खड़ी हैं। एक स्थल पर वे स्वीकार करते हैं "लगता है मेरे भीतर सदा मेरा गांव जीता रहा।" कहने की आवश्यकता नहीं कि यही वह जमीन है जहां से उनके तमाम मानवीय सरोकार फूटे हैं।

रामदरश मिश्र की अधिकतर कहानियां परिवेश की अन्तरंग पहचान देने वाली, सामाजिक स्थितियों को धीरे-धीरे खोलती चलने वाली कहानियां हैं। परिवेशगत स्थितियों को जिस अन्तरंगता से यहां खोला गया है, वह लेखकीय दृष्टि का परिणाम है जिसमें स्थितियों को उलीचने की हड़बड़ी और निर्णय-निष्कर्षों तक पहुंचने की उतावली नहीं है। यह नहीं कि निर्णय यहां नहीं है, हैं पर उन तक पहुंचा गया है यातनाओं और विसंगतियों के लम्बे दौर को तय करने के बाद। इस दृष्टि से उनकी दो कहानियां "एक औरत एक जिन्दगी" और "अपने लिए" लें। "एक औरत एक जिन्दगी" कहानी ग्रामीण परिवेश के यथार्थ को बड़ी ईमानदारी से चित्रित करती है। एक स्थल पर नेरेटर कहता है : "मैं देखकर मर्माहत सा रह गया। भवानी कल वाले खेत में अपने लड़के के साथ हेंगा खींच रही थी और लड़की हेंगे पर चढ़ी हुई थी। मैंने कल्पना नहीं की था कि स्वतंत्र भारत में एक औरत बैल की तरह हल-हेंगा खींच सकती है।" भवानी का चरित्र परिस्थितियों की देन है। वह विपरीत परिस्थितियों से जूझती है और संघर्षरत होती है।

"अपने लिए" कहानी रामदरश की नवीनतम कहानी है। वे कहानी को पूरे परिवेश के साथ उठाते हैं और उसी में से अपने मंतव्य को गुंजाने का प्रयत्न करते हैं। हिन्दुस्तान के निम्न-मध्यवर्गीय परिवार में लड़की की दुर्गत की धुरी के गिर्द इस कहानी को रचा गया है। विवाह से पूर्व पिता के घर में और विवाह के बाद ससुराल में—पागल पति के साथ ब्याह दिये जाने का कटु अहसास, उसकी पीड़ा को गहराता ही नहीं है, कई आयामों में फैला भी देता है। कहानी की अंतिम पंक्तियां हैं : "आखिर मेरी ही तरह इस आदमी का क्या दोष है? कौन चाहता है पागल होना? लोग पागल बना देते हैं। क्या मैं उन्हें असहाय छोड़ दूं? मेरे भाग जाने से क्या यह व्यक्ति और बरबाद नहीं हो जाएगा? और भागने पर मुझे क्या मिलेगा मौत के सिवाय? नहीं मैं कहीं नहीं जाऊँगी। लड़ूंगी इस आदमी के लिए। लड़ूंगी अपने लिए।" यहां "अपने लिए" लड़ना उन सभी विरोधी शक्तियों के खिलाफ़ लड़ना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है जो हमें जिन्दगी से वंचित कर देना चाहती हैं। "पड़ोसिन" कहानी में सामाजिक परिवेश की तहों में लिपटे हुए एक अन्य पहलू की ओर संकेत है। इसमें अभिजात वर्ग के तथाकथित मूल्यों की चुनौती देने वाले ऐसे वर्ग के लोगों का चित्रण हुआ है जो समाज के हाशियों पर पड़े हुए हैं, गंदगी में जीते-मरते हैं और आवारगी में जिंदगी व्यतीत करते हैं—हर प्रकार की दिखावट से दूर, पाखंड से परे—प्रेम के वास्तविक एहसास से बंधे हुए। "गीतू", "टूटे हुए रास्ते", "एक वह" और "घर" कहानियाँ भी परिवेश के अन्तरंग और आत्मीय पहलुओं को उभारने वाली कहानियाँ हैं।

रामदरश मिश्र की कहानियों में सामाजिक स्थितियों के चित्रण-निरूपण के साथ-साथ, उन्हें छीलते चलने की, परिवर्तन के लिए उन्हें नियोजित करने की, विद्रोहात्मक रवैये में उन्हें ढालने की प्रवृत्ति भी मिलती है। यह प्रवृत्ति उनके अन्य रवैयों की तरह सामाजिक से वैयक्तिक और राजनीतिक धरातलों तक फैली हुई है। उदाहरण के लिए "पशुओं के बीच", "मुक्ति" और "सड़क" कहानियाँ देखी जा सकती हैं। "पशुओं के बीच" कहानी में अलेना और सरपंच सिमंगला की प्रतिक्रियाओं को ताना गया है। अलेना सोचती है: "मुंशी जी को आदमी ही तो खा गए। आदमी क्यों, अपना ही सगा भाई बसंत···मुआ बसंत तुझे नरक में भी जगह नहीं मिलेगी। तेरे मुँह में कीड़े पड़ेंगे।" सरपंच चाहता है कि जिस किसी की जमीन पाए अपने नाम लिखवा ले। वह यही करता है। अलेना के घर को लूट लेता है। और अलेना सोचती है: "अरे, ई गांव है, हिजड़ों की बस्ती है। सब उससे डरते हैं। कोई अब नियाव-अनियाव की बात नहीं करता—"। अलेना की यही चिन्ता है कि उसका लाल महेश इन जानवरों के बीच कैसे रहेगा? लेकिन महेश बदला लेने का निश्चय करता है: "मां, मैं इसका बदला लूंगा। मैं पशुओं के साथ समझौता नहीं कर सकता। कहानी के अन्त में जो निश्चय उभरता है वह कृत्रिम और किताबी नहीं लगता। वह विषमताओं और विसंगतियों के बीच में से उभरता है, इसलिए विश्वसनीय लगता है। कहानियों के अन्त में जो निश्चय या निर्णय झलकता दिखता है, वह आकस्मिक या आरोपित नहीं है, पूरी कहानी में से निथर कर आया है। यहां विद्रोह उपजा है क्रूर सामाजिक स्थितियों के भीतर से सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा से जब कि "मुक्ति" कहानी में विद्रोह का तेवर और मिज़ाज वैयक्तिक है उसके पीछे गहरी व्यक्तिगत छटपटाहट है यद्यपि पारिवारिक सामाजिक स्थितियाँ जुड़ी हुई हैं। चन्दा नेरेटर से कहती है: "इसी मकान के लिए बापू और बहनें दिन-रात अपने को गला रहे हैं। इसीलिए बहनों की शादी नहीं हो पा रही है। कभी आपने बहनों को और लड़कियों की तरह सज-धज कर बाहर निकलते देखा है। और यह सब चाहते हैं कि मैं भी इस मकान के लिए उन्हीं की तरह मशीन बन जाऊँ।" चन्दा तीखे व्यक्तित्व-बोध के रूप में कहानी में उभरी है। वह एक तड़पती हुई चेतना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है मशीन से छुटकारा पाने के लिए। औरों से वह जुड़ना चाहती है अपने यांत्रिक परिवेश से निकल कर। उसके भीतर उफनता हुआ यौवन दीवारों में चिन दिये जाने के लिए तैयार नहीं। चंदा की यौवन-वासना और किसी के साथ उसका भाग जाना, यांत्रिक और व्यापारिक जीवन-पद्धति की गिरफ्त से मुक्त होने की उसकी तीव्र छटपटाहट को व्यक्त करता है। और चंदा घर की मशीनी जिन्दगी से ऊब कर, परिवार की जड़ता को तोड़कर भाग जाती है अपने स्वाधीन व्यक्तित्व के निर्माण की दिशा में—अचिन्हें रास्ते पर। संबंधों के मशीनीकरण के विरुद्ध विद्रोह की प्रवृत्ति सहज ही है। इस प्रवृत्ति को "हद से हद तक" कहानी में भी देखा जा सकता है। थीम की दृष्टि से "हद से हद तक" कहानी "मुक्ति" कहानी का किस्सागोई में विस्तार है। उसमें "मुक्ति" कहानी जैसी कसावट नहीं है। "सड़क" कहानी में राज-नीतिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह का स्वर मुखरित हुआ है। इसके साथ सांस्कृतिक संदर्भ भी जुड़े हुए हैं। खादी को त्यागना उसके आक्रोश को व्यक्त करता है।

रामदरश मिश्र ने सीधी-सादी कहानियाँ ही लिखी हैं—सीधे-सादे वर्णनात्मक शिल्प में। उनमें बड़े कथ्य को सहज ढंग से कहने की अपूर्व शक्ति है। सहजता को कई बार सरलता और अनुभव की कमी के तौर पर पेश किया जाता है, पर हम यह मानते हैं कि बिना जटिल या वर्तुल हुए अनुभव की सघनता और सम्पन्नता को, विभिन्न आयामों में पेश करना—सहज दृष्टि का परिणाम हो सकता है। रामदरश मिश्र की कहानियों में इस सहज दृष्टि का उत्कर्ष देखा जा सकता है। सादगी और सहजता उनके कथाकार के ऐसे गुण हैं जो उनकी कहानियों में सर्वत्र मिलेंगे। व्यंग्य उनकी कहानियों की प्रमुख प्रवृत्ति नहीं है, तो भी व्यंग्यात्मक विन्यास की दृष्टि से उनकी दो कहानियाँ—"आधुनिक" और "मिसफिट" अच्छी बन पड़ी हैं। फैंटेसी शिल्प में रचित उनकी एक मात्र कहानी है "एक इन्टरव्यू उर्फ़ कहानी तीन शतुरमुर्गों की"। फैंटेसी के ज़रिये यहां यथार्थ की भयावहता सामने आई है। फ़ैंटेसी की अवास्तव सी दिखने वाली दुनिया वास्तव को उजागर कर देती है। यहां सच्चाई को अपने हक में इस्तेमाल करने वाले लोगों को बेनकाब किया गया है। इसके साथ ही सत्य को जानने-समझने वाली जनता के आक्रोश की ओर भी संकेत किया गया है। फैंटेसी और व्यंग्य का समायोजन कथ्य के मर्म को उजागर कर देता है।

कहानी में काव्यात्मकता का प्रयोग हो या न हो, यह एक विवादास्पद विषय है। हमें लगता है कि कोई कहानीकार अगर कवि भी है तो उसका लाभ, चाहे अन-चाहे उसे मिलेगा ही। सृजनात्मक तौर पर यह संभव नहीं है किसी कवि की काव्यात्मक प्रवृत्तियों का प्रभाव उसकी कहानी पर न पड़े। पर यहां देखना यह होगा कि यह प्रभाव किस रूप में है? क्या कहानी के आन्तरिक दबावों की वजह से यह प्रभाव आया है? क्या पात्रगत मानसिकता को उभारने के लिए काव्यात्मक तत्त्वों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का सहारा लिया गया है ? क्या काव्यात्मक भाषा पूरे माहौल और पात्रों की वास्तविक दुनिया को उभारने के लिए इस्तेमाल की गयी है ? इनमें से एक या एकाधिक कारण हो सकते हैं। लेकिन जब तक इनमें से कोई भी कारण न दिखे तो मान लेना चाहिए कि लेखक पर कविता हावी हो गयी है। इस दृष्टि से देखें तो रामदरश मिश्र की अधिकांश कहानियों में काव्यात्मक तत्वों का विन्यास मिलेगा। "खाली घर" और "मुक्ति" के संदर्भ में इसे खासतौर पर लक्षित किया जा सकता है। "खाली घर" कहानी में बीनू की मनःस्थिति को उभारने के लिए मार्मिक बिम्ब-विधान हुआ है : "बीनू…जैसे एक बड़े तपते हुए सुनसान में कोई चिड़िया का बच्चा आ फंसा हो।" आकाश में चील के टिहा उठने का बिम्ब उनकी कहानी "खाली घर" में पहली बार आया है। लेकिन "सीमा" में यह बिम्ब व्यापक अनुगूंजों वाली संश्लिष्ट संरचना का हिस्सा बनकर आया है। कहानी की प्रारंभिक पंक्तियां हैं : "चील एकाएक टिहा उठी और उदास सूखे ताल सी टंगी हुई क्वार की दुपहरी में छोटी-छोटी दरारें उभर आई हैं मानो ताल की लिपियां हों।…सीमा ने चील का ठहाका सुना और आकाश को पूर्ववत् ताकती रही। चील का टहाका तो थर्रा कर चुप हो गया था, मगर उसकी प्रतिध्वनि सीमा के मन में जख्मी पंछी सी गिर कर हांफ रही थी।"

इन पंक्तियों की काव्यात्मकता, बिम्बात्मकता की व्याख्या करने की जरूरत नहीं। अपंग सीमा की मनःस्थिति को खोलने में ये पंक्तियां समर्थ हैं। उसकी असहायता, बेबसी, अकेलापन और असीम अन्तर्वेदना-बिम्बों के ज़रिए प्रत्यक्ष हुई है। प्राकृतिक उपकरण जैसे धूप, पेड़, चिड़िया, चील और क्वार की दुपहर—सीमा की मानसिक दशा को उभारने का ध्वनि-चित्र-अभिशप्त लड़की की व्यथा को आंकने के लिए काफी हैं।

चील का टहाका उसके निकट अकेलेपन और शून्य को ही नहीं गहराता, उसकी प्रतिध्वनि उसके मन में जख्मी पंछी सी गिर कर हांफ रही थी।" हांफना कैसे उसकी नियति बन गयी है इसे लेखक ने बिम्बों के ज़रिये झलका दिया है। इसी तरह मां, पिता की मनःस्थितियों के साथ जुड़ा अपंग लड़की का एहसास कितना करुण और तकलीफदेह है। "सीमा के सूखे पांव शब्द बनकर गले में अटक जाते हैं और उनके सामने एक लड़की का विराट एकाकी जीवन रेंगता हुआ नज़र आता है।" कहानी की संरचना में गुंथे हुए प्रतीक, बिम्ब और भाषा का काव्यात्मक रुझान यहां पात्रों की मनःस्थितियों को खोलने में ही सहायक नहीं हुए हैं, कहानी के माहौल को बनाने में भी उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

एक लम्बे अरसे से लेखन-कार्य में जुड़े हुए लेखक की प्रासंगिकता के बारे में प्रायः प्रश्न उठाया जाता है। यह प्रश्न वाज़िब ही है कि ऐसे लेखक हमारे लिए और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे समय के लिए कितने काम के हैं, कितने प्रासंगिक हैं। इस दृष्टि से रामदरश मिश्र की रचनाओं, यहां सीमित अर्थ में उनकी कहानियों को देखा जाए तो हम पायेंगे कि ये आज भी हमसे आ जुड़ती हैं—६३ में लिखी गई कहानी हो या इधर लिखी हुई, कहानियों का इस तरह आज पाठक से आ जुड़ना और एक रिश्ता कायम कर लेना कहानीकार की शक्ति का परिचायक है। ये कहानियां संवेदनात्मक धरातल पर हमें आज भी विह्वल कर जाती हैं। ये कहानियां परिस्थिति-परिवेश के जो ब्यौरे देती हैं, उन ब्यौरों से जुड़ते-टकराते जो पात्र उठते हैं, वे हमें हिला जाते हैं। ये ऐसे पात्र हैं जो गाँव की जिन्दगी के स्वप्नों और दुःस्वप्नों से घिरे हुए हैं। ये परिस्थितियों में पड़े हुए निरीह पात्र नहीं हैं; न ही नियति के हाथों की कठपुतली हैं। पर वे ऐसे भी नहीं हैं कि परिस्थिति से कन्नी काट कर अपनी ही ऊर्जा से गौरवान्वित महसूस करते हों। "मुर्दा मैदान" और "सर्पदंश" कहानियों को इस दृष्टि से देखा जा सकता है। "मुर्दा मैदान" में विराट मुर्दाखाना है—पूरे देश की दुर्दशा का चित्र। इनमें परिस्थिति पात्रगत-ऊर्जा से और पात्रगत ऊर्जा परिस्थिति से टकराहट लिए हुए है। इस बारे में बहस हो सकती है कि टकराहट सामान्य कोटि की है या असामान्य कोटि की, या यह भी कि इस टकराहट का रूप और दिशा क्या है, पर टकराहट से से इंकार नहीं किया जा सकता। परिस्थिति चित्रण से वे आगे बढ़ते भी हैं—पात्रों को उनमें से सर उठाते हुए दिखते भी हैं, लेकिन उतना जितना उनके अनुभव से और गांव-शहर की उनकी संक्रांत चेतना से बनी दृष्टि से प्रमाणित हो। यह अनुभव दृष्टि जहां उनकी कहानियों को सच्ची और ईमानदार अभिव्यक्ति की ओर ले गई है वहीं इससे कहानियों की वैचारिक और चेतनागत प्रवृत्तियां, लेखक के न चाहते हुए भी कथात्मक धरातलों पर फैलते फैलते रुक गई हैं। स्थिति, समस्या और चरित्र के साथ रचनात्मक सलूक हर पीढ़ी के साथ बदलता है और वह इन दिनों बदला भी है, तो भी समाज के पीड़ित-दलित शोषित वर्ग के प्रति गहरी मानवीय सहानुभूति से रबरेज़ ये कहानियां आज भी हम से आ जुड़ती हैं—रागात्मक दृष्टि की शक्ति और सीमा के साथ।

यह प्रश्न, अक्सर, उठाया जाता है कि समयगत सच्चाइयों को पकड़ने की सजगता, और सामर्थ्य किसी लेखक में कितनी है? लेखक का देश और काल से जुड़े होना एक बात है और उससे स्पन्दित होकर दूर तक दृष्टि को फैलाना एक अलग बात है। कोई समय कितना भी बलवान क्यों न हो, लेखक की दृष्टि और विवेक का नियोजन-निर्धारण नहीं कर सकता। इसलिए लेखक समय को केवल दर्ज ही नहीं करता. उसे दिशा भी देता है, आगे भी ले जाता है। समय के प्रति और यथार्थ के प्रति भी यह विवेक सम्मत दृष्टिकोण ही समयगत सच्चाइयों को पकड़ने की लेखकीय क्षमता को धार दे सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक के लिए यह ज़रूरी है, दर्शनवेत्ता के लिए हो न हो कि नयी परिस्थितियों से टकराते हुए चेतना के स्तरों पर दृष्टि को लगातार मांजता चले। रामदरश मिश्र जैसे लेखक के लिए जो किसी सिद्धांत या विचारधारा की सीधी गिरफ्त में न हो, उसके लिए यह लाज़मी है कि वह बदलते हुए दृश्य-फलक पर अपनी नज़र बराबर रखे क्योंकि नयी परिस्थितियों से जुड़ाव और टकराव उसकी मानसिकता को रूढ़ होने से बचायेगा और दृष्टि के इंवाल्व होने में सहायक होगा। रामदरश मिश्र का ढंग और नज़रिया जीवनानुभवों के बल पर कहानियां लिखने का रहा है वे इन अनुभवों को अपने आसपास से, समय और समाज के सच से जोड़कर चले हैं और बदल रहे सामाजिक ढांचे के बरक्स उन्हें तानते रहे हैं। इस दृष्टि से "निर्णयों के बीच एक निर्णय" कहानी देखी जा सकती है। यह कहानी बाह्य परिवेश से टकराती अन्तःप्रकृति को यह कहानी बखूबी चित्रित करती है। सभी तरह के घटिया लोगों द्वारा घिरा हुआ व्यक्ति अपने संतुलन को कैसे बनाए रखे—अपनी प्रकृति को खो दे या पागल हो जाए? आज के भ्रष्ट परिवेश में क्या विकल्प बच रहा है? "भगवान का निर्णय, समाज का निर्णय, मां-बाप का निर्णय और सबके बीच एक निर्णयहीन व्यक्ति, अपने ही हारे हुए निर्णयों के साथ छटपटाता हुआ"—कहानी के अन्त में कहानी का "मैं" अपनी अन्तःप्रकृति को झुठलाता हुआ सहाय से ज़ोर-ज़ोर से बात करने लग जाता है। इस कहानी में केवल संबंधों का नहीं, अन्तःप्रकृति के विघटन का भी निरूपण किया गया है। अपने से लड़ने का बोध भी रीतता जा रहा है। अपने को अपनी नज़रों में खुला छोड़ने, आत्म-संघर्ष करने की वजह से उनकी कहानियां लम्बे दौर में लिखे जाने के बावजूद रूढ़ सांचों में ढलने से स्व-निर्मित रचना-रूढ़ि का शिकार हो जाने से बच गई हैं और अपनी पहचान बना सकी हैं।

रामदरश मिश्र की कहानियां अक्सर द्वंद्व से शुरू होती हैं और एक तरह की स्तब्धता में समाप्त हो जाती हैं। कहानियों में यह द्वंद्व महज मानसिक कोटि का नहीं है, भीतर-बाहर से, सामाजिक हालात से पैदा हुआ है। कहानियों में व्याप्त स्तब्धता केवल भावनात्मक कोटि की नहीं है, बुनियादी सवालों के ऐन सामने पड़ने से पैदा हुई है—अन्याय, अत्याचार, शोषण का विरोध करने के बावजूद, जोखिम न ले पाने के परिणामस्वरूप पैदा हुई स्तब्धता। यह स्तब्धता संवेदनात्मक प्रतिक्रिया और निर्णयात्मक रवैये के बीच की चीज़ होती है। द्वंद्व और स्तब्धता की मनःस्थितियों में में वे संबंधों, स्थितियों और मनोदशाओं का चीर-फाड़ करते या उनका जायज़ा लेते दिखते हैं। "अतीत का विष", "सवाल के सामने" आदि दो-चार कहानियों में वे निर्णय तक पहुंचते बेशक दिखें, पर संबंधों, स्थितियों, मनोदशाओं को निर्णय तक पहुचाना या उनमें से किसी निर्णयात्मक रवैये को झलकाना उनकी कहानी-कला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का उद्देश्य नहीं है। वे सबंधों और स्थितियों के भीतर से उभरने वाली मानवीय पीड़ा के जो मनुष्य होने की शर्त है, के कथाकार हैं। इसीलिए उनका रास्ता एक एक लम्बे अरसे में पल रही मानवीय पीड़ा, द्वंद्व और दुविधा, विसंगति और विरोधाभास का रास्ता है। यह रास्ता उनका देखा-भाला है। इस रास्ते की ज़मीन पर वे मजबूती से खड़े हैं। इस रास्ते के अनुभव उनके पास हैं। इन अनुभवों को तटस्थ होकर देखने की आंख भी उनके पास है। यह बात, निश्चय ही, उनकी कहानियों को महत्वपूर्ण बनाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामदरश मिश्र की कथा-यात्रा

डॉ० गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव

रामदरश मिश्र की कहानियों पर बात करना एक दुष्कर कार्य है क्योंकि उनका अनुभव-संसार बहुत व्यापक और जटिल है। रामदरश मिश्र की कहानियों के अब तक पांच संग्रह 'खाली घर' (१९६९), 'एक वह' (१९७४) 'दिनचर्या' (१९७९) 'सर्पदंश (१९८२), 'बसंत का एक दिन' (१९८३) प्रकाशित हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त कई और कहानियां अन्यत्र संकलनों एवं पत्रिकाओं में छप चुकी हैं। '६१ कहानियां' लगभग उनकी समग्र कहानियों का संग्रह है जिसमें उपर्युक्त संग्रहों की कहानियां तो हैं कुछ और कहानियां भी हैं। इन कहानियों का अनुभव-संसार तीस-पैंतीस वर्षों की अवधि में फैला हुआ है। सजग लेखक हमेशा समयगत सच्चाई से जूझता है, उसे आत्मसात करता है, उसे दिशा देता है। रामदरश मिश्र की इन कहानियों को पढ़कर निष्कर्ष निकलता है कि एक सजग लेखक होने के कारण वे हमेशा समयगत सच्चाइयों से टकराते रहे हैं।

रामदरश मिश्र ने 'नयी कहानी' आन्दोलन के समय से अपनी रचना-यात्रा प्रारंभ की। यह वह समय था जब नयेपन के नाम पर हिन्दी के अधिकांश कहानीकार कुंठा, संत्रास, हताशा, सेक्स, अजनबी जैसे आयातित अनुभवों के सहारे अपनी रचनाओं का ताना-बाना बुनने में अपनी रचनाशीलता का अपव्यय कर रहे थे। ग्राम-बोध की कहानियों को सीमित अनुभवों की कहानियां कहकर खारिज कर दिया था और "नगर-बोध वाली भिक्षान्तजीवी कहानियां चर्चित होने लगी"[1] थीं। अतः 'नयी कहानी' आन्दोलन की अधिकांश कहानियां लीवन से कटी हुई कहानियां थीं। रामदरश मिश्र ने अपने को 'नयी कहानी' आन्दोलन से अलग रखा। 'जहां 'नयी कहानी' आन्दोलन के झंडाबरदारों ने आयातित अनुभवों को आधार बना कर कहानियां लिखी, वहां रामदरश मिश्र ने जीवन से जुड़ी कहानियां लिखीं। उनका प्रथम कहानी संग्रह' 'खाली घर', १९६९ में प्रकाशित हुआ जिसकी अधिकांश कहानियां

---

१. डा० विवेकीराय, कल्पना, अगस्त सितंबर १९६६, पृ० १६१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'खण्डहर की आवाज', 'मां, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो', 'खाली घर', 'एक और यात्रा', 'मंगल यात्रा', 'एक औरत : एक जिन्दगी' मूलतः ग्राम जीवन की कहानियां थीं जिनमें आजादी के बाद सत्ता की गलत नीतियों के फलस्वरूप तिरस्कृत ग्राम जीवन के टूटन, क्षोभ, आक्रोश की प्रामाणिक कथा प्रतिबिम्ब है। इन कहानियों ने उन्हें ग्राम-बोध के कथाकारों—रेणु, नागार्जुन, शिवप्रसादसिंह, भैरवप्रसाद गुप्त, मार्कण्डेय, केशवप्रसाद मिश्र, अमरकान्त, शेखर जोशी, शैलेश मटियानी, विवेकीराय, शानी, रांगेय राघव, हिमांशु जोशी आदि कथाकारों की पंक्ति में प्रतिष्ठित कर दिया।

मूलतः रामदरश मिश्र ग्राम-संवेदना के रचनाकार हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं—कविता, कहानी, उपन्यास में उस गाँव की मिट्टी की आदिम गंध है जो भारतीय जन-जीवन की आधारशिला है। उन्होंने स्वयं इसका उल्लेख किया है कि "भारतीय जीवन की सही और गहरी पहचान गांव के संदर्भ में ही हो सकती है।"[1] परन्तु उन्होंने ग्राम-बोध को गांव तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि इसका विस्तार नगरों तक किया। आजादी के बाद गांव टूटने लगे, आर्थिक तंगी के कारण गांव के लोग नौकरी की तलाश में नगरों में बसने लगे। लेकिन नगरों में बस जाने के बाद भी गांवों से जुड़ने की ललक उनमें शेष है। परन्तु अपनी आर्थिक विवशताओं के कारण नगरों में बसे ये ग्रामीण, गांव से जुड़ भी नहीं पाते। फलस्वरूप एक निरंतर द्वन्द्व में वे जीते रहते हैं। रामदरश मिश्र की ग्राम-जीवन की कहानियों के पात्र इसी द्वन्द्व के शिकार हैं जिसे हम 'खाली घर' संग्रह की कहानियों के पात्रों—'चिट्ठियों के बीच' के देव, तथा 'मां, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो', 'खंडहर की आवाज' और 'खाली घर' के कथानायकों में देख सकते हैं। उनके बाद के संग्रहों में भी हम ऐसे पात्र पाते हैं जो नगरों में बसे ग्रामीणों के तनावपूर्ण द्वन्द्व को जीते हैं जैसे 'पराया शहर' का पंकज और 'दूरियां' का शरद। ये कहानियां गांव और नगर के संदर्भों से जुड़े चरित्रों के द्वंद्व को बड़ी बेबाकी से चित्रित करने में ही अपनी विशिष्ट पहचान बनाती हैं। यह स्वातन्त्र्योत्तर भारत की वास्तविकता है कि गांवों के लोग शहरों में बस जाने के कारण गाँव से कटते जा रहे हैं। यह एक वास्तविकता है कि वे गांव से कटने के दर्द से पीड़ित भी हैं। परन्तु उनका यह दर्द रोमानी नहीं है। यह दर्द अपनी गतिशील जीवनधारा के मूल स्रोत से कटने का दर्द है जो एक कटु वास्तविकता है और जिसे रामदरश मिश्र जैसे ग्राम-संवेदना के धनी रचनाकार ही सशक्त अभिव्यक्ति दे सकते थे।

निम्न मध्यवर्गीय जीवन में व्याप्त रूढ़ियों, विसंगतियों एवं आर्थिक संकट से उत्पन्न विवशताओं, पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों में आये तनावों और

---

१. सारिका, अगस्त, १९८१ पृ० १७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वार्थपरता को रामदरश जी ने अपनी कहानियों में प्रतिबिम्बित किया है। देश की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने जो संकट उत्पन्न किया है, उसका जबरदस्त प्रभाव निम्न-मध्यवर्गीय जीवन पर पड़ा है। इस वर्ष की ट्रैजिडी यह है कि एक ओर उच्च वर्ग की नकल में वह निम्नवर्ग से कटता जा रहा है तो दूसरी ओर रूढ़ियों, विसंगतियों और आर्थिक दबावों से वह खोखला और जर्जर होता जा रहा है। 'मुक्ति' पूंजीवादी मानसिकता से ग्रस्त एक ऐसे निम्न मध्यवर्गीय परिवार की कहानी है जो मकान बनाने की जरूरत को रोटी और कपड़े से भी अधिक महत्व देता है क्योंकि मकान सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक बनता जा रहा है। इसी मकान को बनवाने के लिए पटेल की लड़कियां अपने को गलाती जा रही हैं, उनकी शादियां नहीं होती। यह सब इसलिये कि आदमी को मकान जरूर चाहिए चाहे वह रहे या न रहे। यह निम्न मध्य वर्ग सामाजिक रूढ़ियों से इतना ग्रस्त है कि वह अपना स्वतंत्र निर्णय नहीं ले पाता। 'निर्णयों के बीच निर्णय' का ज्ञान अपना निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र नहीं है। उसके विभाग में जहां वह काम करता है, उसके जूनियर को विभागीय पत्रिका का संपादक बनाकर उस पर थोप दिया जाता है। यही नहीं बल्कि एक लंगड़ी और बदसूरत लड़की को बीवी के रूप में उस पर मढ़ दिया जाता है और इन थोपे हुए निर्णयों को ढोने के लिए वह अभिशप्त है। फलतः आजीवन एक द्वन्द्व में फंसा वह छटपटाता रहता है। यहां तक कि वह अंत में विक्षिप्तावस्था में पहुंच जाता है। ज्ञान का यह चरित्र एक तरह से 'एक और यात्रा' के दिनेश का एक्सटेन्शन है। लेकिन दिनेश का चरित्र उतना प्रभावित नहीं करता जितना ज्ञान का क्योंकि 'एक और यात्रा' के दिनेश की विक्षिप्तावस्था को सामाजिक सन्दर्भों से जोड़ने में लेखक असफल रहा है। परन्तु यह कमजोरी 'निर्णयों के बीच निर्णय' में नहीं है क्योंकि लेखक ने बड़ी पैनी दृष्टि से ज्ञान की विक्षिप्तावस्था की जिम्मेदार रूढ़ियों को निर्ममता से एक्सपोज किया है। ठीक यही बात 'अतीत का विष' के बारे में भी कही जा सकती है। सुषमा के मानसिक असंतुलन के जिम्मेदार सामाजिक रूढ़ियां हैं जिसके कारण एक वेश्या, वेश्या बने रहने के लिए अभिशप्त है। 'बेला मर गयी' की बेला और 'आखिरी चिट्ठी' की प्रभा भी इन्हीं निम्नवर्गीय रूढ़ियों एवं विकृतियों की शिकार होती हैं। देश में कान्वेन्टी शिक्षा के प्रति तेजी से पनप रही निम्नमध्य वर्गीय रुझान एक पूंजीवादी मानसिकता है। वास्तव में यह एक आत्मघाती प्रवृत्ति है जिसके फलस्वरूप यह वर्ग मुख्य जीवन धारा से इतना कट जाता है कि अन्त में वह समाज में मिसफिट हो जाता है। 'मिसफिट' कहानी में इसी समस्या को लेखक ने बड़े ही प्रभावी ढंग से उठाया है जिसका पात्र अमित कान्वेन्टी शिक्षा के कारण समाज में मिसफिट होने लगता है।

दिन प्रतिदिन गहराती आर्थिक संकट ने शहरों और गांवों में रहने वाले निम्न मध्यवर्गीय जीवन को अत्यधिक तोड़ा है। उनकी विवशतायें बढ़ी हैं। सम्बन्धों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तनाव और स्वार्थपरता आई है। आर्थिक तंगी से उपजी इन निम्नमध्यवर्गीय मजबूरियों को आधार बनाकर रामदरश जी ने कई कहानियां लिखी हैं जिनमें प्रमुख हैं 'एक रात', 'गीतू', 'आरंभ' और 'प्रतीक्षा'। 'एक रात' कहानी में आर्थिक तंगी से ग्रस्त निम्नमध्यवर्गीय परिवार के यहां किसी मेहमान का आना ऐसा लगता है जैसे कोई महाजन अपने दिये हुए कर्ज का हिसाब माँगने आ रहा है। 'गीतू' में भी गीतू का परिवार अर्थाभाव के कारण जर्जर और भुतहे मकान में रहने के लिए विवश है। इसी आर्थिक तंगी के कारण 'आरंभ' का नायक दूध की बोतल के लिए रात भर जागता है। निम्न मध्यवर्गीय जीवन में गरीबी एक अभिशाप है। 'प्रतीक्षा' में आशा के परिवार वाले अर्थाभाव के कारण उसकी शादी नहीं कर पा रहे हैं। आर्थिक तंगी से निम्नमध्यवर्गीय संबंधों में स्वार्थपरता और दूरियाँ भी आयी हैं। 'दूरियां' कहानी में लेखक ने इस बात पर बल दिया है कि आर्थिक तंगी आदमी और आदमी के बीच दूरियां पैदा कर देती है। यह आर्थिक तंगी है जो 'संबंध' के विधुर को अपने संबंधों को भुनाने के लिए विवश करती है। यह कहना अतिश्योक्तिपूर्ण नहीं होगा कि निम्न मध्यवर्ग के सारे संबंध अर्थ पर टिक गये हैं। 'घर लौटने के बाद' के दीनू भाई रिटायर्ड होने के बाद अपने ही घर में पराये हो गये हैं। जिन लोगों के लिये उन्होंने जीवन भर कड़ी मेहनत की, रिटायर्ड होने के बाद उन्हीं लोगों के बीच उन्हें एक गलाजत की जिन्दगी जीनी पड़ती है। थके-हारे दीनू भाई को रिटायर्ड होने के बाद परिवार के बीच विश्राम चाहिए। लेकिन घर का कोई भी व्यक्ति जैसे उन्हें पहचानता ही नहीं। आर्थिक स्थिति की चरम स्थिति में पहुंचकर निम्न मध्यवर्ग में कभी-कभी विरोध का भी स्वर उठने लगा है। 'मुक्ति' कहानी में चंदा का घर भाग जाना पूंजीवादी मानसिकता के प्रति विरोध का स्वर मुखरित करता है। लेकिन निम्नमध्यवर्गीय जीवन की इन कहानियों में रामदरश जी ने उनकी रूढ़ियों, विकृतियों और आर्थिक तंगी से उपजी उनकी विवशताओं, सम्बन्धों में तनाव और स्वार्थपरता को कहीं भी गलोरिफाई नहीं किया है। इस अर्थ में अमरकान्त और उनमें काफी समानता है। किन्तु इन दोनों के निम्नमध्यवर्गीय पात्रों में एक असमानता भी है। अमरकान्त ने निम्न मध्यवर्गीय जीवन की विडम्बनाओं को अधिक तीव्रता से व्यंजित किया है, वहीं रामदरश जी ने निम्नमध्यवर्गीय जीवन की विवशताओं को अधिक गहराई से अभिव्यक्त किया है।

सातवें दशक में पाश्चात्य अस्तित्ववादी दर्शन हमारे कथा साहित्य पर छाया हुआ था जिसके माध्यम से कथाकारों ने निम्न मध्यवर्गीय जीवन के नग्न यथार्थ से साक्षात्कार करने की चेष्टा की निश्चय ही हमारे सामाजिक जीवन में भी अस्तित्व बोध की स्थितियाँ हैं। परन्तु हमारा अस्तित्व बोध हमारे आर्थिक अभावों से जुड़ा है जबकि पाश्चात्य अस्तित्व बोध यूरोपीय समाज की समृद्धि और प्रचुरता की उपज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इस मूलभूत अन्तर को भीष्म साहनी, अमरकान्त, शैलेश मटियानी और रामदरश मिश्र जैसे कुछ समर्थ रचनाकारों को छोड़कर अधिकांश लेखक नहीं समझ पाये जिससे उनकी रचनायें जमीन से कटी हुई लगीं। असल में "लेखक अस्तित्ववादी दर्शन और विचारों से आवश्यकता से अधिक प्रभावित होने के कारण विराट विश्व में अपने को अकेला पाकर अपने को समस्त मानने लगा है और अपने संत्रास की प्रेषणीयता को ही अपनी रचना का प्रमुख उद्देश्य बताता है।"[1] अतः कहना न होगा कि अस्तित्ववादी दर्शन से 'आवश्यकता से अधिक प्रभावित होने के कारण' ही इन कहानीकारों की कहानियां फेक लगने लगीं। परन्तु रामदरश मिश्र ने अस्तित्ववाद को जमीन से जोड़कर उसे एक सार्थक अभिव्यक्ति दी। उनकी कहानी 'चिट्ठियों के बीच' का नायक डॉ० देव अपनी निजी और गांव की परेशानियों का द्वंद्व लेकर तड़पता है। शहर में रहते हुए उस पर अपने अभावग्रस्त पारिवारिक जीवन का दबाव है तो दूसरी तरफ उस पर गाँव में रह रहे उसके आतमीय जनों की अभावजनित परिस्थितियों का दबाव है। आर्थिक तंगी से उपजी निम्न मध्यवर्गीय विवशता तनाव और द्वन्द्व के इस अस्तित्व बोध को रामदरश जी ने डॉ० देव के माध्यम से बड़े ही सशक्त ढंग से उभारा है। 'पराया शहर' का पंकज भी इसी तनाव और द्वन्द्व का शिकार है। अतः यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि रामदरश जी का अस्तित्वबोध हमारी सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों से जुड़ा हुआ है। इसे हम उन्हीं की एक अन्य कहानी 'माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो' में भी देख सकते हैं जिसमें कथा-नायक की प्रथम पंक्तियां दृष्टव्य हैं "गांव से कल लौटा हूं मां का क्रियाकर्म करके। एक अजब सन्नाटा मन में अंटा पड़ा है। नदी के कटे हुए तट, खेतों में खुली हुई दरारें, उजड़े हुए सिवान···ठूंठ होते हुए पेड़,···चारों ओर घूमती मृत्युगंध···" फिर कथानायक को अपनी माँ की याद सताने लगती है जो मृत्यु की अन्तिम साँस तक उसे देखने के लिए तरसती रही "मेरे भीतर एक हूल सी मारने लगी। मां की तरल निरीह आँखें मुझमें भर आईं। मैं भीतर ही भीतर गलने लगा। मेरे रक्त में बचपन से लेकर अब तक का समय बहने लगा—हर पल में, हर मोड़ पर, हर व्यथा में मां···हर संघर्ष में मां···जब से शहर में रहने लगा था मां अकेली छूट गयी पिता जी के साथ। मैं एकलौती संतान परिवार के साथ शहर में।" सातवें दशक के उत्तरार्ध में पूर्वी उत्तर प्रदेश में पड़े भयंकर अकाल के संदर्भ में लिखी इस कहानी का नायक अपनी व्यक्तिगत पीड़ा को अन्त में सामाजिक पीड़ा में आत्मसात कर लेता है।" गांव की बहुत-सी औरतें बीमार हैं, हर औरत मां है, मुझे हर औरत की तड़प में मां की तड़प दिखाई दी।··· अभावों से घिरा

---

१. इलाचन्द जोशी : विकल्प, विशेषांक मई १९६९, पृ० १९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्तब्ध वायुमंडल, इसमें भटकती मृत्यु की गंध और घर में दम तोड़ती एक मां···मां मैंने तुम्हें देख लिया।" कहने का तात्पर्य यह है कि रामदरश जी का अस्तित्व बोध हमारी अपनी आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों की उपज होने के कारण एक स्वस्थ और सहज मानवीय प्रवृत्ति के रूप में उभरकर सामने आई है। इसीलिये ये कहानियां हमें अधिक प्रभावित करती हैं।

अतः रचनाकार का यह दायित्व होता है कि समय की वास्तविकता को आत्मसात करे और उसे एक सर्जनात्मक अभिव्यक्ति दे। तभी उसकी रचना महत्व-पूर्ण और जीवन्त हो सकेगी क्योंकि रचना जब अपने समय से संगति खो देती है तो वह महत्वहीन, तापहीन और अप्रभावी हो जाती है। यह प्रसन्नता की बात है कि इस वास्तविकता को अपनी रचनाओं में प्रतिबिम्बित कर समकालीन रचनाकारों ने अपनी पक्षधरता को स्पष्ट किया। मारकण्डेय, अमरकान्त, भीष्म साहनी, शैलेश मटियानी, शेखर जोशी, इसराइल, शानी, हिमांशु जोशी जैसे समर्थ लेखक सामने आये जिन्होंने निम्न वर्गीय विवशता, असहायता, अभावग्रस्तता को अपनी कहानियों में चित्रित किया। रामदरश जी की पक्षधरता की चेतना 'खाली घर' के बाद के कहानी संग्रहों में विकसित होती दिखाई पड़ती है। निम्न वर्ग की असहायता, विवशता और असुरक्षित जिन्दगी को उन्होंने करीब से देखा है और उसे गहराई से अपनी कहानियों में उतारा है। इसे हम उनकी 'जमीन', 'दिनचर्या', 'मुर्दा मैदान', 'कर्ज', 'ऊँची इमारत', 'सर्प-दंश', 'टूटे हुए रास्ते' और 'सवाल के सामने' जैसी कहानियों में देख सकते हैं। 'जमीन' के जोखू हरिजन को सामंती व्यवस्था की मानक शक्तियों ने इतना निकम्मा और कुंद बना दिया है कि वह अपनी गरीबी के खिलाफ आवाज भी नहीं उठा सकता। वह सामंती शोषण से इतना पस्त हो चुका है कि जब उसके बेटे मोहन में मंत्रियों के कोरे वायदों और झूठे नारों के खिलाफ चेतना जगती है तो उसके बपई जोखू उसकी इस चेतना को दबा देना चाहते हैं। घोर आर्थिक तंगी का शिकार यह निम्न वर्ग एक विवश जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। 'दिनचर्या' का कतवारू अपनी रोटी के लिए लारी में बैल की तरह जुतने के लिए विवश है। 'मुर्दा मैदान' के भोला और हट्टी पढ़ाई-लिखाई छोड़कर गंदे मैदान के कूड़े में लोहा-प्लास्टिक बीनने के लिए मजबूर हैं। 'कर्ज' के भीखू को ठाकुर धर्मचन्द का कर्ज उतारने के लिए हर महीने अपना खून बेचना पड़ता है, 'ऊँची इमारत' के मधुवन को मजूरी करना पड़ता है, 'सर्पदंश' के गोकुल हरिजन को प्रधान की अमानवीय हरकत का शिकार होना पड़ता है। 'टूटे हुए रास्ते' का राय जी नौकरी पाने की लालच में रुपये ऐंठने वाले गिरोह का शिकार होता है। हमारे समाज का यह शापग्रस्त दलित वर्ग की एक घोर असुरक्षा की जिन्दगी जी रहा है। नेता, मंत्री, वकील, थानेदार जैसे सुरक्षा के ठेकेदार भी उन्हें कोई सुरक्षा नहीं दे सकते। 'सवाल के सामने' के गरीब औरत को कहीं कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुरक्षा नहीं मिलती जिससे वह विवश होकर अपने पति के हत्यारों की शर्त स्वीकार कर लेती है ताकि वह अपने बच्चे के जान की रक्षा कर सके। आज भी हरिजनों पर आयेदिन अत्याचार किये जा रहे हैं, उनके घर जलाये जा रहे हैं, उनके साथ पाशविक व्यवहार किया जाता है, उनकी औरतों-बहू-बेटियों के साथ सामूहिक बलात्कार किया जाता है। फिर भी उन्हें कहीं भी सुरक्षा नहीं मिल पा रही है। कहना न होगा कि दलित-पीड़ित वर्ग की असुरक्षा का सवाल हमारी समूची व्यवस्था की निरर्थकता को एक्सपोज करता है। यह सवाल जिसे रामदरश जी ने बड़े ही प्रभावशाली ढंग से उठाया है, आज भी उतना ही ज्वलंत है।

अत: पूंजीवादी-सामंती गठजोड़ के शोषण ने आम जनता को बेबसी, सामाजिक असुरक्षा और भयंकर आर्थिक संकट की अंधेरी गलियों में भटकने के लिए मजबूर कर दिया है। 'समाजवाद', 'गरीबी हटाओ' के नारे खोखले और निरर्थक प्रमाणित हुए। इसीलिये 'समाजवाद' और 'गरीबी हटाओ' जैसे खोखले नारों के प्रति आम जनता का मोहभंग भी हुआ है। आम जनता के इस मोहभंग को रामदरश जी ने अपनी कहानियों में प्रतिबिम्बित किया है। ताऊ (एक वह) समाजवाद के खोखलेपन को समझने लगा है। वह समझने लगा है कि समाजवाद गरीबों की गरीबी मिटाने के लिए नहीं है बल्कि नेताओं, सेठों, अफसरों की तिजोरियाँ भरने के लिए है। गांव के सारे हरिजन बालकों में मोहन (जमीन) बहुत अच्छा है—नेक, ईमानदार और पढ़ने में होशियार। लेकिन वह हरिजन है इसलिए नारकीय जीवन जीने के लिए विवश है। जोतने बोने के लिये उनके पास खेत भी नहीं हैं। मोहन का बपई जोखू भी मोहन को बताता है कि जब वह सुराजी था, वह झंडे लेकर गांव-गांव घूमा करता था और ये जो मंत्री जी उसके गांव आये हैं उन्हीं के साथ उसने जेल काटी है। परन्तु वे मंत्री बन गये और उसकी स्थिति बदतर होती जा रही है। खद्दर जो कभी आम आदमी की ईमानदारी और राष्ट्रभक्ति का प्रतीक बनता जा रहा है। मास्टर चन्द्रभान पांडे (सड़क) की खद्दर पर आस्था बनी रहती है। रिटायर होने के बाद अपनी आर्थिक तंगी के कारण वे सड़क के किनारे एक चाय की दुकान खोल लेते हैं। वहीं जंगबहादुर यादव चाय पीने आता है जो अपने विद्यार्थी जीवन में उनके क्लास का सबसे बोदा लड़का था। एक बार तो उसने गांधीजी की तसवीर पर पेशाब कर दिया था। वही जंगबहादुर यादव अब एम०एल०ए० हो गया है। जंगबहादुर उनकी दुकान पर एक कप चाय के लिए पांच रुपये उन पर फेंककर उनका अपमान करता है। फिर खद्दर के प्रति उनका मोहभंग होता है। अपने परिवार की फटेहाली देखकर पांडेजी को चोट सी लगती है कि घर के बच्चे नंगे रहते हैं और वह इतनी मंहगी खादी पहनता है। वह सोचते हैं "कि उसे क्यों नहीं मालूम हुआ कि खादी-खादी में भेद होता है। एक खादी उसकी है, एक यादव जी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की। यादव ही खादी पहनने का हकदार है क्योंकि उसके शरीर पर खादी का विकास हुआ है और वह? वह नहीं, उसके शरीर पर तो खादी फटती ही गयी।" और अंत में वह खद्दर की धोती उतारकर मिल की बनी धोती पहन लेता है। निःसन्देह रामदरश जी की कहानी 'सड़क' अमरकांत की कहानी 'डिप्टी कलक्टरी' की तरह आजादी के बाद आदर्श और आशाओं के मोहभंग की सही तसवीर पेश करती है।

रचनाकार का राजनीति की ओर उन्मुख होना स्वाभाविक है क्योंकि यह हमारे जीवन की एक सच्चाई बन गई है। वास्तव में राजनीति हमारे संपूर्ण जीवन पर हावी है। रामदरश जी की कहानियों में भी यह राजनीतिक चेतना विकसित होती दिखलाई पड़ती है। जिन कहानियों में उन्होंने राजनीतिक भ्रष्टाचार को बेनकाब किया है उनमें प्रमुख हैं 'खण्डहर की आवाज', 'एक इंटरव्यू उर्फ कहानी तीन शुतुरमुर्गों की', 'कहां जाओगे' और 'गपशप'। 'खण्डहर की आवाज' दलबदल के अवसरवादी राजनीति को एक्सपोज करती है, 'एक इन्टरव्यू उर्फ कहानी तीन शुतुरमुर्गों की' में आज की गंदी चुनावी राजनीति पर व्यंग्य किया गया है, कहां जाओगे' में राजनेताओं की धोखाधड़ी को एक्सपोज किया है और 'गपशप' में आज की राजनीतिक दुरवस्था पर व्यंग्य किया गया है।

लेकिन इस पूंजीवादी-सामंती व्यवस्था में निरन्तर शोषित होते रहने के बावजूद आदमी ने टूटना नहीं सीखा। भवानी (एक औरत : एक जिन्दगी) ऐसी ही एक औरत है। अपने पति की मृत्यु के बाद विषम परिस्थितियों में पड़कर भी भवानी टूटती नहीं हैं बल्कि उनसे संघर्ष करती है क्योंकि वह जानती है कि दुखी वह नहीं है बल्कि दुखी वे लोग हैं जो खूब खा-पीकर दूसरों का हड़प कर मुंह लटकाये रहते हैं। भवानी की यह वर्ग-चेतना आरोपित नहीं है बल्कि उसके जीवन की परिस्थितियों के बीच से उपजी है। इसीलिए जब धनपतिया अपने हलवाहों को भवानी के खलिहान से आधा डांठ उठा लेने के लिए ललकारता है तो भवानी हाथ में गंड़ासा लिये तन जाती है : "जिस किसी ने डांठ पर हाथ लगाया उसे बता दूंगी। यह डांठ हमारे खून-पसीने से सिंचा है।" भवानी की यह संघर्ष चेतना बड़े ही स्वाभाविक ढंग से विकसित होती है। शोषित-पीड़ित लोग अभिशप्त रहने के बावजूद संघर्ष करने की हिम्मत रखते हैं। महेश (पशुओं के बीच) अपने शत्रुओं के खिलाफ लड़ने का संकल्प लेता है क्योंकि वह इन पशुओं के बीच अब और नहीं रह सकता। प्रभा (आखिरी चिट्ठी) में भी संघर्ष-चेतना है। इसीलिए एक घुटन भरी जिन्दगी जीने के बावजूद वह निराश नहीं है क्योंकि उसका विश्वास है कि उसकी बेटी "एक विद्रोह की कविता है उसके प्यार और आग-भरे हृदय से फूटी हुई एक मूर्त कविता। वह घूरे पर नहीं फेंकी जा सकती। वह अवरोध पाकर और-और उठेगी, वह अपनी ही लपटों की झालर में अपनी रक्षा करेगी।" वास्तव में भवानी, महेश और प्रभा की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह संघर्ष-चेतना इस जुझारू तेवर का प्रतिनिधित्व करती है जो सातवें दशक के उत्तरार्ध में हमारे देश की विकट सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों में प्रकट होने लगी थीं और जिसकी अभिव्यक्ति मार्कण्डेय, इसराइल, विजेन्द्र अनिल, विजयकांत जैसे रचनाकारों की कहानियों में होने लगी थीं। परन्तु अपनी इन उपर्युक्त कहानियों में संघर्षशील चेतना का वर्गीय चरित्र रामदरश जी को संभवतः स्पष्ट नहीं था। यही वजह है कि भवानी, महेश और प्रभा की संघर्षशील चेतना व्यक्तिकेन्द्रित है। लेकिन उनकी बाद की कहानियों—'मुर्दा मैदान', 'सर्पदंश' और 'इज्जत' में संघर्षशील चेतना वर्गीय चरित्र विकसित होता दिखलाई पड़ता है। रामदरश जी यह समझने लगे हैं कि निम्न मध्यवर्ग से संघर्षशील चेतना की आशा रखना व्यर्थ है क्योंकि वह अत्यधिक कुंठित और बुझा हुआ है। वे यह भी समझने लगे हैं कि निम्न वर्ग में ही अपने वर्ग-शत्रुओं के खिलाफ उठ खड़ा होने की आब है बशर्ते वह संगठित होकर लड़े। अतः "यह आकस्मिक नहीं है कि एक जुट और संगठित होने और संघर्ष की बात उस तबके से उठ रही है जो सर्वाधिक सताया हुआ है।"[1] 'मुर्दा मैदान' में इसी वर्ग-चेतना की ओर संकेत मिलता है। इस कहानी का एक पात्र है मलखा जो निम्नवर्ग की संगठित शक्ति को समझता है। वह लोगों को ललकारता है "तुम सभी डरपोक हो और एक दूसरे से कटे हुए हो। इसलिए तो यह हरामजादी पुलिस जो चाहे सो कर लेती है। बाप से बेटी को छीनकर बाप को मारती है। पैसे वाले गुंडों की गुंडई की सजा लोगों को देती है और हम अलग-चुपचाप सह लेते हैं। संगठन करके तो देखो कैसी आग फूटती है तुम लोगों के भीतर से। वह आग पुलिस नहीं पुलिस के बाप को भी न झुलस कर रख दे तो मेरा नाम मलखा नहीं।" संगठित लड़ाई की यह चेतना 'सर्पदंश' कहानी में और भी प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त हुआ है। हरिजन टोली के गोकुल का लड़का अपने बाप की मौत के जिम्मेदार सामंती ताकतों से बदला लेने के लिए अकेले नहीं बल्कि संगठित होकर लड़ने का संकल्प करता है। अपने बाप की लाश को छोड़कर गोकुल का लड़का उठ पड़ता है और भागने लगता है : "वह दूसरे गांव की ओर भागा जा रहा था अपने जाति-भाइयों को सूचना देने। उसे याद है उस दिन उस गाँव का हरिजन नेता आया था और उसके बपई से कह रहा था कि जीने के लिए हमें एक होकर सांपों से लड़ाई करनी होगी।" अपने तेवर में यह कहानी प्रेमचन्द की कहानी 'सद्गति' की याद दिलाती है। लेकिन एक मूलभूत अन्तर भी है इन दोनों कहानियों में। 'सद्गति' में हरिजनों के संगठित विरोध का स्वर उभरता है और 'सर्पदंश' में हरिजनों में एक-जुट होकर संघर्ष करने की चेतना का स्वर उभरता है। रामदरश जी की एक अन्य कहानी 'इज्जत' में भी उनकी वर्ग-चेतना की दृष्टि स्पष्ट है। जन संघर्षों से जुड़ने की

---

१. डा० वेदप्रकाश अमिताभ : संचेतना, मार्च, १९८३, पृ० ६५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिबद्धता रामदरश जी की रचना-प्रक्रिया की विकास-यात्रा की एक महत्वपूर्ण पड़ाव को रेखांकित करती है। सामाजिक परिवर्तन के लिये प्रतिबद्ध रचनाकार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह पूंजीवादी-सामन्ती शोषण के खिलाफ उठती संघर्षशील जन चेतना को आत्मसात कर उसे सृजनात्मक अभिव्यक्ति दे। यह हर्ष का विषय है कि इधर कहानीकार सामने आये हैं जिन्होंने अपनी कहानियों में संघर्षशील जन चेतना को सशक्त अभिव्यक्ति दी है जिससे यथार्थ का एक नया आयाम उद्घाटित हुआ है।

'खाली घर' कहानी संग्रह की समीक्षा करते हुये डॉ० नित्यानन्द तिवारी ने लिखा है कि "रामदरश जी की कहानियों में अभिशप्त चरित्रों की वेदना का उभरना एक विशेष प्रवृत्ति को लक्षित करता है। किसी भी कारण जो शारीरिक दृष्टि से अक्षम और अपंग हैं अथवा भावात्मक दृष्टि से कहीं गहरा सदमा पहुंचा है उनकी पीड़ा की सघन अभिव्यक्ति हुई है।"[1] डॉ० तिवारी के इस अभिमत से मेरी सहमति है। रामदरश जी में एक गहरी मानवीय संवेदना है। यही वजह है कि अभिशप्त चरित्रों की मार्मिक अभिव्यक्ति वे कर सके हैं चाहे वह सीमा (सीमा) जैसी अपंग लड़की की पीड़ा हो, या चार वर्षीय विनोद (खाली घर) की मर्मान्तक व्यथा हो जिसकी मां उससे हमेशा के लिए छीन ली गयी है अथवा पोलियो का रोगी मुन्ना (माँ : एक बिखरा हुआ दिन) की व्यथा हो। लेकिन रामदरश जी को अभिशप्त नारी की मार्मिक अभिव्यक्ति में विशेष सफलता मिली है। इसे हम भवानी (एक औरत : एक जिन्दगी), सुषमा (अतीत का विष), प्रभा (आखिरी चिट्ठी), सोहागी भऊजी (एक अधूरी कहानी) और जगरानी फुआ (अकेला ककान) जैसे नारी पात्रों में देख सकते हैं। इन कहानियों में एक खास बात और देखने को मिलती है। रामदरश जी इन अभिशप्त नारी चरित्रों के प्रति सिर्फ हमारी सहानुभूति को ही नहीं जगाते वरन बड़ी बारीकी से वे पतनशील सामंती संस्कृति को एक्सपोज करते हैं। सुषमा अतीत का विष) के नाटकीय जीवन के पीछे रुढ़िग्रस्त सामंती समाज की संस्कृति को बेन-काब किया गया है जिसमें एक वेश्या आजीवन वेश्या बने रहने के लिये अभिशप्त है और जो सुषमा के मानसिक असंतुलन का जिम्मेदार है। 'एक अधूरी कहानी' भी विकृतियों से ग्रस्त उस पुरुष-सत्ता प्रधान सामंती संस्कृति को एक्सपोज करती है जिसके सारे वेद-शास्त्र, कायदे-कानून, थाना-कचहरी, नारी के भोग-धर्म के खिलाफ उंगली उठाने के लिये हैं, परन्तु उनके शरीर-धर्म को कोई लांछित नहीं करता। मर्द चाहे जो भी करता रहे लेकिन वह हमेशा गंगाजल की तरह पवित्र रहता है। लेकिन सोहागी भऊजी जैसी औरत यदि औरत की भूख से परेशान होकर कुछ कर गुजरती

---

१. रामदरश मिश्र : खाली घर की भूमिका, पृ० १५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है तब उसे लोग बदनाम करते हैं, उसे छिनाल और वेश्या कहते हैं और एक बार जो औरत बदनाम हुई तो जीवन भर वह उबर नहीं पाती। जगरानी फुआ (अकेला मकान) की यातना के माध्यम से लेखक ने विकृतियों से ग्रस्त उस सामंती संस्कृति को बेनकाब किया है जो औरत के बांझपन को औरत के लिये अभिशाप समझता है। निःसंतान होने का सारा दोष औरत के मत्थे मढ़ दिया जाता है। पुरुष को इसके लिये कोई दोषी नहीं ठहराता। जगरानी फ़ुआ की यातना का कारण उसका बांझपन है। उसका पति संतान के लिये दूसरी शादी कर लेता है और जगरानी को अपनी हाल पर बेसहारा छोड़ देता है। अतः स्पष्ट है कि इन अभिशप्त नारी चरित्रों के माध्यम से लेखक का मूल उद्देश्य उस पतनशील सामंती संस्कृति को एक्सपोज करना है जिसमें आम आदमी एक नाटकीय जीवन जीने के लिये मजबूर है। जन संघर्षों को तेज करने के लिये यह जरूरी है कि पतनशील सामंती संस्कृति को बेनकाब किया जाय। यह लेखकीय उत्तरदायित्व रामदरश जी ने बखूबी निभाया है।

रामदरश जी की कहानियों से गुजरना एक अनुभव-संसार से गुजरना है। उनकी कहानियों में एक चिर-परिचित, जाना-बूझा संसार देखने को मिलता है। जीवन का यथार्थ एक संश्लिष्ट अनुभव है जिसे एक समर्थ लेखक उसके पूरे अन्त-र्विरोधों के साथ प्रस्तुत करता है। तभी उसकी रचना हमारी चेतना को झकझोरने में सफल होती है। लेकिन यह तभी सम्भव है जब लेखक का अनुभव प्रामाणिक हो यानी यथार्थ जीवन से जुड़ी हो। अमृतराय जी ने भी इस बात पर बल दिया है कि "आधुनिक हो या पुराना, सच्चा लेखक वही है जिसमें लेखक देखे हुए, अपने भोगे हुए को अपने कलात्मक सामर्थ्य-भर-अधिक से अधिक पूर्णता के साथ चित्रित करता है।"[1] लेकिन कृति में जिस प्रामाणिकता-बोध की मांग की जाती है "वह एक लम्बी साधना का प्रतिफलन ही हो सकती है।"[2] अवधनारायण मुद्गल जी के साथ बातचीत में रामदरश जो ने भी अनुभव की प्रामाणिकता पर बल दिया है : "साहित्य हमारी पूरी संक्षिप्त जिन्दगी की तस्वीर पेश करके सही बिम्ब को संकेतित करता है और इसलिये पाठक या आलोचक जो कोई भी जब साहित्य से गुजरता है तो वह उस जिन्दगी का ताप बनकर रहता है। जिन्दगी की सारी पीड़ा, जिन्दगी का सारा ताप, जिन्दगी की सारी विषमताओं का अनुभव करता हुआ चलता है तो जाकर वह चीज उसके अनुभव में आती है, केवल बुद्धि में ही नहीं आती।"[3] रामदरशजी की कोई भी कहानी उनके अनुभव के दायरे के बाहर नहीं है परन्तु जीवन के अनुभवों को वे हूबहू

---

१. विकल्प परेशांक, मई १९६७ पृ० १६७।
२. डा० महीप सिंह : हिन्दी कहानी दो दशक की यात्रा, संपादक डा रामदरश मिश्र एवं डा० नरेन्द्र मोहन पृ० १६।
३. सारिका, अगस्त १९८०, पृ० १४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचना में उतारते नहीं बल्कि रचना में उसे फिर से अर्जित करते हैं। इससे उनके अनुभवों में निजता और तटस्था का एक विचित्र सम्मिश्रण देखने को मिलता है जो कुछ ही रचनाकारों में पाया जाता है। उनके अनुभव की निजता जहां पाठक से रचना का तादात्म्य कराती है वहीं अनुभवों के प्रति उनकी तटस्थता अनुभवों में गहराई लाती है। रामदरश जी के इस सामर्थ्य की सफल अभिव्यक्ति का प्रमाण 'सीमा', 'एक भटकी हुई मुलाकात', 'दिनचर्या', 'जमीन', 'मुर्दा मैदान', 'अतीत का विष', 'आखिरी चिट्ठी', 'सर्पदंश', 'पशुओं के बीच' और 'सबाल के सामने' जैसी कहानियां हैं। परन्तु उनके अनुभवों का दायरा सीमित नहीं है बल्कि व्यापक है। उन्होंने स्वयं कहा है कि "साहित्यकार के लिये कोई भी जमीन या कोई भी प्रदेश वर्जित नहीं है। सबाल इतना है कि उस जमीन के साथ हमारा अनुभवात्मक सम्बन्ध कितना गहरा है।"[1]

रामदरश जी ने अपनी कहानियों में कविता के तत्वों-बिम्बों और प्रतीकों-का इस्तेमाल किया है। इससे उनके अनुभवों में सघनता आयी है। कविता के तत्व उनकी अधिकांश कहानियों में देखने को मिलेंगे लेकिन 'सीमा', 'बेला मर गयी', 'एक रात' और 'ठहरा हुआ समय' विशेष उल्लेखनीय है। सीमा (सीमा) के अभिशप्त जीवन को प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से लेखक ने व्यक्त करने की कोशिश की है: "चील एकाएक टिहा उठी और उदास सूखे हुये ताल सी टंगी क्वार की दुपहरी में छोटी-छोटी दरारें उभर आईं। मानों ताल की लिपियां हों।" चील के टिहा उठने, उदास सूखे हुये ताल तथा दुपहरी में उभरी छोटी-छोटी दरारों के बिम्ब-योजना से सीमा की बेबसी-जनित तनाव को उभारने में रामदरश जी ने अद्भुत कलात्मक संयम का परिचय दिया है। 'आखिरी चिट्ठी' में प्रभा की विद्रोही चेतना को उभारने में लेखक ने प्रतीकों और बिम्बों का सहारा लिया है। 'बेला मर गई' में भी बेला की बेबस जिन्दगी को बड़ी गहराई से प्रतीकों और बिम्बों द्वारा अभिव्यंजित किया गया है। बेला के सूखे यौवन को, मिट्टी की ऊँची-नीची धारियों की तरह उभरी हुई उसकी नीली-नीली नसों को और उसके चेहरे पर काली-काली झांइयां देखकर कथानायक चिन्तित हो उठता है। उसे लगता है जैसे "किसी सद्यः प्रस्फुटित सूर्यमुखी की मौत हो गयी है, बसन्त की एक सुन्दर सुबह को ओले से भरे हुए बादलों ने कुचलकर मार डाला है" और जो कुछ शेष बचा है उस पर मरसिया पढ़ने के लिये वह और मात्र वह छोड़ दिया गया है। बेला के सूखे हुये यौवन को 'प्रस्फुटित सूर्थमुखी' तथा 'बसन्त की एक सुन्दर सुबह' की मौत बताकर उसकी घुटन भरी, बेबस जिन्दगी को अधिक सघनता से व्यंजित करने में लेखक को सफलता मिली है। परन्तु 'एक रात' के प्रवीन के द्वन्द्व को उभारने में, अति भावुक हो जाने के कारण

१. सारिका, अगस्त १९८१ पृ० १०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे असफल हो जाते हैं "सामने खड़ी पत्नी को देखकर प्रवीन कांप गया। रेखा चुपचाप पति को फटी-फटी आंखों से देखती रही। एक ओर पत्नी खड़ी थी, दूसरी ओर कामायनी के पृष्ठ पर श्रद्धा। शाम दोनों ओर थी—एक ओर गुनगुनाती हुई लज्जा की लाली को छिपाती हुई कोमल संध्या दूसरी ओर रोकर चुकी हुई आंखों की लाली की तरह पूस की भारी-भारी सांझ।" इन पंक्तियों में सहज गीतात्मकता का भावोद्रेक भले ही मिले परन्तु प्रवीन के अन्तर्द्वन्द्व को उभारने में ये नितान्त असफल हैं। यहां रामदरशजी अपने कवि हृदय पर अंकुश लगाने में सफल नहीं हो सके हैं जिससे सम्प्रेषण में एक अवरोध उत्पन्न हुआ है। यही अवरोध 'ठहरा हुआ समय' में भी उत्पन्न होता है जिससे विजय के अकेलेपन की वेदना की तीखी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। कहानी में कविता का इस्तेमाल आरोपित न होकर कहानी की शर्तों पर आधारित होना चाहिए अन्यथा कहानी भावुकता का शिकार हो जायेगी। रामदरश जी ने स्वयं इस बात को स्वीकारा है कि कहानी में कविता का प्रवेश "उसकी रचनात्मक मांग के रूप में होनी चाहिये।"[1]

रामदरश जी की रचना प्रक्रिया में एक और दोष मुझे दिखाई पड़ता है। अक्सर वे स्थितियों के अनावश्यक विस्तार में चले जाते हैं जिससे कहानी बोझिल और ऊबाऊ हो जाती है। ऐसा शायद वे इसलिपे करते हैं क्योंकि वे पूरी स्थिति के चित्र खीचने के लोभ का संवरण नहीं कर पाते। परन्तु ऐमा करके वे पाठक की सोच के लिये कुछ भी नहीं छोड़ते। 'एक अधूरी कहानी', 'आखिरी चिट्ठी', 'अकेला मकान' आदि कहानियों में कई जगह अनावश्यक विस्तार किया गया है जिससे ये कहानियां ऊबाऊ हो गई हैं।

परन्तु इन थोड़ी सी त्रुटियों के बावजूद रामदरश जी एक समर्थ रचनाकार हैं। उनकी त्रुटियाँ भी एक समर्थ रचनाकार की त्रुटियां हैं। वास्तव में रामदरश जी का अनुभव संसार इतना व्यापक और जटिल है कि उसके सभी आयामों को एक छोटे से लेख में समेट पाना कठिन है। फिर भी उनकी सानाजिक सोच, जन समुदाय के दुःख-दर्द, आशा-आकांक्षाओं से जुड़ने का उनका दायित्व-बोध, जन संघर्षों को सृजनात्मक अभिव्यक्ति और पतनशील पूंजीवादी-सामन्ती संस्कृति का पर्दाफाश उनकी रचना-यात्रा के कुछ ऐसे महत्वपूर्ण आयाम हैं जिनसे उन्होंने निस्सन्देह समाजधर्मी सशक्त कहानीकारों में अपना स्थान बना लिया है। आलोचकों का दायित्व है कि दलगत भावना से ऊपर उठकर उनकी कहानियों का वस्तुपरक मूल्यांकन करें।

———

१. सारिका, अगस्त १९८१, पृ० १५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक परिवर्तन में पात्रों की भूमिका

धर्मेन्द्र गुप्त

कहानी में आये पात्रों से सीधा संवाद तभी सम्भव हो पाता है जब पात्र सीधे जिन्दगी के बीच से आये हों। वह या तो स्वयं कुछ प्रश्न सामने रख दें या फिर वह जिस स्थिति में जी रहे हैं उसे लेकर हमारे मन में चन्द सवाल पैदा हो जायं। कई बार यह सवाल एक बड़ा आकार ले लेते हैं, जो मन को बेचैन तो करते ही हैं, साथ ही इस बात को भी बार-बार सोचने पर बाध्य कर देते हैं कि आखिर ऐसे हालात पैदा हुए ही क्यों जिसमें पात्र गहरे मानसिक तनाव को लगातार झेलता रहे। यह सोच ही समकालीन कहानी की नींव है, और यही आज की कहानी को एक अलग पहचान देती है। आज के आदमी के पैर जिस जमीन पर टिके हैं उसमें मनुष्य को और उससे जुड़े समाज को नकार कर आगे नहीं बढ़ा जा सकता। नितान्त व्यक्तिगत सोच के लेखक के लिये भी यह मजबूरी पैदा हो गई है कि वह अपने घर से बाहर की दुनियां को भी थोड़ा झाँककर देख ले। अपने आसपास और अपने से दूर घटनेवाली घटनाओं से भी व्यक्ति का अलग होना संभव नहीं रहा गया है। राजनीति में भी इकाई के रूप में व्यक्ति की शक्ति साफ उभर रही है, भले ही वह पाँच साल बाद उभरती हो, और समाज में भी व्यक्ति की आवाज अगर ज़रा भी घुटती है तो सारे समाज की चूलें हिल जाती है। व्यक्ति समूह के छोटे या बड़े दबाव को नज़र अन्दाज करना अब सम्भव नहीं रह गया है।

ऐसे में कहानी लेखक के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपनी रचना में अपने पात्रों के चुनाव में सर्तकता रक्खे, क्योंकि उसी के माध्यम से तो वह अपनी बात कह रहा है और उसकी बात भी बजनी तभी हो सकती है जब वह सशक्त पात्रों से जुड़ने के प्रति सतर्क रहे। किन्तु यह सब तो उनके लिये कहा जा सकता है जो लेखन के प्रारम्भिक दौर में हों, उनके लिये नहीं जो अपनी रचनाधर्मिता के कई सोपान पार कर चुकें हैं। ऐसे कथाकार तो पात्रों के साथ एक यात्रा करते हैं। जिन्दगी को जीते हुए वह बराबर अपने पात्रों से संवाद की स्थिति बनाये रखते हैं, और यही पात्र पाठक से भी जाने अनजाने सीधे संवाद से जुड़ जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथाकार रामदरश मिश्र की कहानियाँ पढ़ते हुए एक नहीं कई ऐसे चेहरे सामने आते हैं जिन्हें भूलने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, बल्कि कहा जाये वे तो राह रोक कर खड़े हो जाते हैं और अपनी बात कहकर जब सामने से हटते हैं तो कई सवालों की जकड़न इस तरह छोड़ जाते हैं कि जिसमें परत-दर-परत अर्थ खोजते रहने का आग्रह छाया रहता है ।

सच तो यह है कि कथाकार रामदरश मिश्र पात्रों के साथ लगातार यात्रा करते रहे हैं । इस तरह वह पात्रों के सुख-दुख के ही भागीदार नहीं बनते बल्कि उनकी एक एक गतिविधि के भी गवाह बनते हैं । यह जरूर है कि वह चूंकि स्वयं एकाकी जीवन नहीं जीते, न ही अकेलेपन और संत्रास की पीड़ा के हिमायती हैं इसलिए उनके कथा लेखन का मुख्य आधार सामाजिक सरोकार ही है । वह बहुत सहज होकर जीने और सहज जिन्दगी से जुड़ाव के निकट हैं अतः उनके पात्र किसी विशिष्ट वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करते, न ही चौंकाने के लिये वह किन्हीं खास मुद्राओं को अपनाते हैं । गाँव से शहर तक आज जो जिन्दगी जन साधारण की फैली हुई है उसी में जी रहे पात्रों से वह अपना परिचय गहरा करते हैं, जो धीरे धीरे इतनी निकटता में बदल जाता है कि वह पात्र के मन में छिपे दर्द को बाहर तक खींच लाने में सफल हो जाते हैं । सीमा के घर के सामाने से गुजरते हुए सीमा को देखकर पूछ लेते हैं—'कोई बात हो तो कह बेटा !' सीमा संकोच के साथ कहती है—"कुछ खास नहीं चाचा जी, एक ही जगह बैठे-बैठे नसें दुखने लगीं हैं । चाहतीं हूं जरा रेलिंग के सहारे खड़ी होना··· "यह ले, कहकर डा० शर्मा उठाकर उसे रेलिंग के सहारे खड़ी कर देते हैं ।" इसके बाद का दृश्य और भी पीड़ा जनक है । लेखक के ही शब्दों में—"चील फिर टिहा उठती है, आकाश बड़ा होने लगता है और चील का टहाका छिन्न-भिन्न होकर आकाश में डूबने लगता है । सीमा के पांव थर थरा रहे हैं । उसे लगता है कि सड़क पर चलने वालों से धीरे-धीरे कट रही है, वह चारों ओर देखती है, कोई दिखाई नहीं पड़ता । वह धम्म से गिर पड़ती है और सड़क चलती रहती है । वह सबसे कट-कर अपने बिन्दु पर आ सिमटती है ।"

एक अपाहिज लड़की है सीमा, जिसके पांव सूखी लकड़ी जैसे निर्जीव हैं । यह दुख उसका है, जिसके 'भाग्य में यही जिन्दगी बदी थी', कह कर दिलासा दिया है । मगर पड़ौस के उस बारह साल के लड़के को क्या कहा जाय जो अपने से तीन वर्ष बड़ी सीमा से, सड़क से गुजरते हुए बार बार पूछता है—'सीमा चलेगी घूमने !' जब सीमा की मां लड़के को डांटती है तो लड़का रोता हुआ घर गया और लड़के की मां लड़ने आ गई । सिर्फ लड़का ही सीमा के लिये नश्तर सावित नहीं होता बल्कि पड़ोस में रहने वाली अठारह वर्षीय लड़की मिस कुमुद भी एक मुसीबत हैं । सीमा हंसती है तो कुमुद को लगता है उसी को देखकर हंस रही है—"क्यों हंसती है रे, लगंड़ी ? जलन होती हो तो तू भी कर ले ।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीमा लंगड़ी है, यह उसका अपना दुर्भाग्य है, पर पड़ौस में रहने वाला बारह वर्ष का लड़का और अट्ठारह वर्ष की लड़की उस पर क्यों हंसते हैं, क्यों व्यंग्य करते हैं। इन्हें रोकने वाला भी कोई नहीं। इनकी अमानवीयता को चुनौती देने वाला दूर दूर तक नहीं दिखाई देता। कैसे हो गया है ऐसा कठोर समाज, जहां एक अपाहिज अपने अपाहिजपन को लेकर भी जी नहीं सकता। सीमा की आंखें कुछ न कह कर भी बहुत कुछ कह देती हैं। दर्द का लम्बा विस्तार है, जहां सीमा अपने दुख में डूबती उतराती हमारे निकट आ जाती है इतनी, कि हमारा अपनापन उसे अपने दुख को झेलने और जीभ की दुआ देने लगता है।

रामदरश मिश्र की एक और कहानी है 'लड़की'। यह सीमा की तरह अपाहिज नहीं है भाग दौड़ कर काम करती है, सबकी सेवा करती है, पढ़ती भी है, फिर भी सबकी डांट खाती है, छोटे भाई की मार भी खाती है। इस पर खाने और पहनने को भी ठीक से नहीं मिलता। भाई इतना खाता है कि पेट दर्द हो जाता है, और लड़की को इतना भी नहीं मिलता कि पेट भर जाये। जब उससे उसके बारे में पूछा जाता है कि—"तुम्हें बुरा नहीं लगता?" "क्या दादा जी?" "अरे यही, जो कुछ तुम्हारे साथ होता है।" उसने इनकार में सिर हिलाया और कहा, "लड़की हूं न।"

यह जो संवाद लेखक और लड़की के बीच में हुआ वह आज के सामाजिक स्थिति को उघाड़ देता है। एक ही परिवार में लड़के लड़की में इतना बड़ा भेद! इस पर भी लड़की सारी पीड़ा को अपनी नियति मान कर चुपचाप स्वीकार कर लेती है, क्योंकि उसे संस्कार ही ऐसे दिये जाते हैं कि वह कभी पुरुष प्रधान समाज में सर उठाकर न चल सके। बहुत छोटी सी कहानी है, लेकिन इसकी गूंज बहुत दूर तक फैलती है।

इन दो पात्रों की निकटता से यह सोचना स्वाभाविक है कि क्या लेखक सिर्फ निरीह पात्रों से जुड़ने में ही संतोष पाता है। "एक औरत एक जिन्दगी" कहानी में भवानी इसका उत्तर देती है। भवानी कुछ दूसरी ही मिट्टी की बनी हुई है। उसने गाँव वालों की, और ईश्वर की दी हुई सारी विपदा झेली, लेकिन हिम्मत नहीं हारी। वह खुद भी जिंदी रही और दूसरों को भी जीने की प्रेरणा दी। कहानी का प्रारम्भ ही भवानी के परिचय से होता है।...."कौन है यह?...मैंने अपने साथ चलते हुए अपने गंवई दोस्त सुकुमार से पूछा।...."अरे, यह नरेश की बहू है! आप नहीं पहचानते?" (इकसठ कहानियाँ-पृष्ठ १५७)

कैसे पहचानेगा कोई, जब चार-चार साल बाद कोई गांव आयेगा। फिर अब तो भवानी विधवा है, खेत में कुदाली चलाती है। मानो, सारे गांव को चुनौती दे दी।

और एक दृश्य यह भी है—"भवानी कल वाले खेत में अपने लड़के के साथ हेंगा खींच रही थी और लड़की हेंगे पर चढ़ी हुई थी। मैंने कल्पना नहीं की थी कि स्वतन्त्र भारत में एक औरत बैल की तरह हल-हेंगा खींच सकती है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुख-दर्द, विपरीत परिस्थितियां, गांव में फैली ओछी मानसिकता'''इस सबके बीच भवानी खड़ी है। एक ऐसा चरित्र जो निरीह था, लेकिन अपने आत्मविश्वास के बल पर कद्दावर बन गया। इसी भवानी चरित्र के बारे में लेखक ने एक स्थान पर कहा है—"मेरे लिए गांव की भवानी अधिक आधुनिक औरत लगी है, बनिस्बत उन तमाम शहरी औरतों और पुरुषों के जो आधुनिक विन्यास और शिक्षा के बावजूद भीतर रूढ़िवादी, व्यक्ति-केन्द्रित और कायर हैं। भवानी अपनी ऊर्जा और समझ से सारी रूढ़ियों और अन्यायों के खिलाफ उठ खड़ी होती है लेकिन उसका निर्माण मैंने किसी अवधारणा से नहीं किया है, उसे मैंने अपने परिवेश में से ही चुनकर उसके व्यक्तित्व को एक दिशा दी है।"

परिवेश के प्रति अत्याधिक सजगता ने ही कथाकार को गांव की धरती से अधिक जोड़ा है, बावजूद इसके कि जीविका के लिये उसे शहर और महानगर की जिन्दगी को भी अपनाना पड़ा, परन्तु फिर भी गांव के पात्र अधिक आकर्षित करते रहे हैं। कथा ऐसे ही पात्रों में अधिक विकास पाती रही है, अधिक मुखर होकर जीवन-सत्य को उद्घाटित करती रही है, क्योंकि स्वयं लेखक के शब्दों में "शहर की अपेक्षा गांव का आदमी अपने परिवेश से जुड़ने को ज्यादा विवश है। वहां आपकी सारी सम्पत्ति बाहर है, बैंक में नहीं। इसलिये वहां जो दर्द है वह निरन्तर गतिशील है और बेचैन करने करने वाला है।" (इकसठ कहानियां-पृष्ठ २८)

"एक भटकी हुई मुलाकात" में जो स्त्री है वह गांव की नहीं है। वह शहरी वातावरण में बड़ी हुई। उसके अन्दर सारे शहरी संस्कार हैं। उसे पिछड़ा हुआ या अपढ़ नहीं कहा जा सकता। वह समाज में अपनी और पुरुष दोनों की स्थिति से परिचित है। इसलिए पुरुष के आगे झुकती नहीं, बराबरी का दर्जा मांगती है, यहां तक कि अगर पुरुष का अह्म टकराता है तो तलाक के लिये भी तैयार हो जाती है। इससे भी आगे की स्थिति को सहती है। कोर्ट का अमानवीय निर्णय कि कानूनन बच्चा पिता का है, और पांच वर्ष की उम्र तक ही मां के पास रह सकता है उसने धीरज से स्वीकार किया। पांच वर्ष बाद जब पति के रूप में सुधांशु अपने बच्चे 'मनोज' को मांगने आया तो अंजना "सारा अभिमान छोड़कर अनुनय पर उतर आई'''" "सुधांशु, इतने क्रूर मत बनो। माना कि यह कानूनन तुम्हारा बेटा है, तुम्हारा रहेगा। लेकिन मुझे इसकी सेवा कर पाल-पोस लेने दो। स्वावलम्बी होगा तो तुम्हारे पास भेज दूंगी। आखिर मैं भी तो कुछ हूं'''"

"तुम इसकी कोई नहीं हो। केवल पैदा करने की मशीन हो।"

मैं ताव खा गई—"आखिर तुम अपनी जाति पर उतर आये सुधाँशु! तलाक के बाद तुम्हें मेरा अपमान करने का कोई हक नहीं है, ले जाओ अपने बेटे को।" मैं फफकती हुई अन्दर चली गयी।" यह 'मैं' और कोई नहीं अंजना ही है, जिसने अपनी ममता को भी दबा लिया लेकिन पुरुष के दर्प के आगे नहीं झुकी। कई वर्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाद एक अवसर और आया जब वह गाड़ी के एक ही डिब्बे में वह सुधांशु की दूसरी पत्नी और कुछ बड़े हो गये मनोज के साथ सफर कर रही है। एक बार फिर उसकी परीक्षा का समय आया और वह सफल हुई। सामने मनोज को देखकर भी वह चुप रही। मनोज के गाल पर सुधांशु की दूसरी पत्नी ने चांटा मारा, वह कुछ नहीं बोली, सुधांशु से आंखें मिली वह फिर भी खामोश रही। बस अपना स्टेशन आने पर मनोज के लिये एक पैकट छोड़कर प्लेटफार्म पर उतर गई।

यह कहानी गहरे अर्न्तद्वन्द्व को उजाकर करती है। अंजना अंजना स्त्री है, लेकिन कहीं भी उसने वह भावुकता नहीं दिखाई जो अक्सर भारतीय नारी पर मढ़ दी जाती है। परिस्थितियों ने जहां पहुंचा दिया उसने उसे स्वीकार किया। एक ऐसा चरित्र जो बिना झुके जीना जानता है, अतः यह सोचना गलत होगा कि कथाकार रामदरश मिश्र केवल ग्रामीण नारी चित्रांकन में ही कुशल हैं। उनकी कुशलता तो उस प्रत्येक पात्र में देखी जा सकती है जो अपनी चारित्रिक विशेषताओं के कारण उन्हें अपनी ओर खींच लेता है, भले ही वह गांव की जमीन पर उपजा हो या शहरी जमीन पर।

अपने कहानी लेखन के सम्बन्ध में मिश्र जी ने लिखा है—"मेरी दो तीन कहानियां सन् १९५४-५५ के कहानी पत्रिका के अंकों में आयीं और उन्होंने पहली बार कहानीकार के रूप में मेरा बिम्ब स्पष्ट किया।" तब से लेकर आज तक की कहानी लेखन की यात्रा में अनेक पात्र उनकी रचनाओं में उभरे हैं, इन पात्रों की अगर गिनती की जाये तो काफी समय लग जायेगा। यहां एक पुरुष पात्र का विशेष उल्लेख करने का मोह मन में उपज आया है यह पात्र है,—"मनोज जी।" प्रारम्भिक दौर में लिखी कहानी के पात्र हैं मनोज जी, लेकिन कई दशकों के बीत जाने के बाद भी लगता है, मनोज जी कहीं आसपास खड़े जीवन की एक नई चेतना से हमें जोड़ रहे हैं। यह एक विशिष्ट चरित्र है जो अपने ढंग से जीवन जीते हुए गहरे सामाजिक सन्दर्भ से जुड़े प्रश्न उठाता है। कहानी के बीच एक पंक्ति आयी है—"यह सही है कि मनोज जी आज भी बूढ़े नहीं हुए, यद्यपि वह जिन्दगी भर परिस्थितियों की काली परछाइयां से युद्ध ही करते रहे।" यह काली परछाइयां सभी को अपना परिचय देती हैं किन्तु मनोज जी जैसे कितने हैं जो इनके बीच वीतरागी के समान जीने का साहस जुटा पाते हैं? सीधे सादे शब्दों में "मनोज जी" कहानी लिखी गई है, लेकिन जगह-जगह व्यंग्य की गहरी मार से पाठक अपने को बचा नहीं पाता। कहानी के बीच एक जगह मनोज जी कहते हैं—"यह स्वराज्य क्या मिला है, धूर्तों की बन आमी है। शिक्षा मंत्रालय कहता है कि शिक्षा का प्रसार हो रहा है, मगर हालत यह है कि शिक्षा दिन-दिन महंगी होती जा रही है—अहम् ढपोरशंखो वदामि च ददामि न।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मनोज जी' कहानी का अन्त इन शब्दों में होता है—"ऊपर से देखने वालों को हमेशा यही दिखायी पड़ा कि 'मनोज जी' रास्ते के किनारे पर बैठे एक हैं, लेकिन उन्हें नजदीक से जानने वाले जानते हैं कि उन्होंने सारी मंजिल चलकर ही काटी है। हां उन्होंने कभी चिल्ल-पों नहीं मचायी, हंसी का दामन नहीं छोड़ा, इसलिए गंवार लोग समझते हैं कि इनमें जीवन की परेशानियां नहीं हैं, रास्ते का तर्जुबा नहीं है।"

कथाकार रामदरश मिश्र के जिन चन्द पात्रों से निकटता मिली है उनके सम्बन्ध में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या वह सब अपनी-अपनी परिस्थितियों के बीच जीते हुए किसी गहरे सामाजिक परिवर्तन की मांग कररहे हैं ? सामाजिक बदलाव की बात बहुत स्वाभाविक है, क्योंकि यह सभी पात्र जिस बेचैनी और कसमसाहट का अनुभव कर रहे हैं, या एक चीख है जो उनके गले में कहीं अटक कर रह गई है, इस बात का सबूत है कि सब कुछ वैसा सीधा और सहज नहीं है जैसा कि अक्सर खुशफहमी में आदमी सोच लेता है। दोषी कहीं वह सामाजिक व्यवस्था है जो आदमी को खानों में बांट देती है। विशेष रूप से नारी पर तो दोहरी मार पड़ती है। उसे समाज की हेय दृष्टि को ही भोगना तो पड़ता है, साथ ही पुरुष प्रधान समाज में आर्थिक रूप से भी वह जीवन भर अभाव ही नहीं, द्रारिद्रय को भोगने पर मजबूर हो जाती है। विरोध न कर पाने के पीछे और भी कारण हैं, किन्तु आर्थिक स्वावलम्बन सीढ़ी का वह पहला भाग है जिस पर पैर रखते ही वह फिसल जाती है। भवानी ने इसी फिसलन पर अपना पैर मजबूती से जमा दिया। उसने अपनी सक्रियता से यह सिद्ध कर दिया कि सड़ी-गली सामाजिक परम्पराओं और रूढ़ियों के विरुद्ध उठ खड़े होने से ही नये युग की नई सामाजिकता की शुरूआत होगी।

अपने कथा लेखन के सम्बन्ध में रामदरश मिश्र कहते हैं—"अपने समय के सवालों के सामने पात्र कुछ अधिक निर्णयात्मक मुद्रा में खड़े हैं। निर्णयात्मक मुद्रा अपने आप में मूल्यवान नहीं होती, उसे न जाने कितनी तकलीफों, संशयों से गुजरना पड़ता है। वह स्वयं सिद्ध रूपमें आकर रचना के लिए बौद्धिक बोझ बन जाती है किन्तु लहू-लुहान पात्रों और परिस्थितियों से निकलकर निर्मित होने की स्थिति में मूल्यवान होती है। निर्णय लाद देना बहुत आसासान होता है, किन्तु उसे पात्रों और परिस्थितियों में चरितार्थ करना बहुत कठिन।" लेखन की यह कलात्मकता है कि कथाकार मिश्र जी ने न किसी नारे को पात्रों से जोड़ा और न किसी वाद विशेष की सूक्तियों के सहारे पात्रों को खड़ा करने का प्रयास किया। वह तो विभिन्न परिस्थितियों के बीच जीते पात्रों की गतिविधियों के गवाह बन गये हैं। पात्रों के साथ लगातार चलते रहने में कथाकार संतोष पाता है, और पात्रों की जिन्दगी की लम्बी यात्रा में आये उतार-चढ़ाव के सुख-दुख को बहुत सहजता से बटोर लेना ही उसकी लेखकीय पूंजी बन जाता है।

मिश्र जी की साठ से ऊपर कहानियां पढ़ने के बाद यह सुखद आश्चर्य होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि उनकी कहानियों में एक भी पात्र उदास या अजनवी का मुखौटा लगाये नहीं मिलता। जिस जीवन को पात्र जी रहा है उसमें वह अपनी गति से कुछ आगे बढ़ने का प्रवास करता है। इस प्रयास की गूंज ही बहुत बड़े फ़लक पर छा जाती है, और यह गूंज ही गहरे सामाजिक बदलाव के अर्थ को सामने ला देती है। यह मिश्र जी की कहानियों की अलग पहचान भी बनती है, और उनके कहानी लेखन की विशिष्टता को भी अंकित करती है।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामदरश मिश्र की लंबी कहानियाँ

डॉ० अश्विनी पाराशर

कथाकार रामदरश मिश्र का नाम हिन्दी के क्षेत्र में एक जाना-पहचाना नाम है। १६५५-५६ से, नई कहानी के प्रारंभिक काल से ही मिश्रजी कहानी रचना में रत हैं। 'बसन्त का एक दिन' मिश्र जी की अपेक्षाकृत लम्बी कहानियों का संग्रह है। एक कहानी आकार में यदि लम्बी है तो उसमें सामान्य कहानी से भेद के स्तर पर कुछ तात्विक भिन्नता अवश्य होती है। क्योंकि कोई कहानी अपने कथ्य में चरित्र, घटना, विषय अथवा वर्णिति के स्तर पर जितना गहरे भीतर तक धंसती है उतना ही उसमें चीजों को समेटने का आग्रह भी विद्यमान रहता है। कहानी की गहराई और उसका फैलाव जब इतना अधिक व्याप्त हो जाए कि केन्द्रीय पात्र से कथानक पूरे माहौल में फैल जाए उस समय पात्र पात्र न रहकर एक प्रवृत्ति एक मानसिकता भी ढल जाए तो कहानी सामान्य नहीं रहती। मिश्र जी की लम्बी कहानियां इस दृष्टि से अतिरिक्त पड़ताल की अपेक्षा करती हैं।

कथाकार रामदरश मिश्र की लम्बी कहानियां, कहानीकार और उपन्यासकार, या कहें कहानी और उपन्यास के बीच एक पुल बनाती हैं। कहानी में लम्बी कहानी उस प्रकार की बहुमान्य विधा नहीं है, जिस प्रकार कविता और प्रबन्धकाव्यों के बीच 'लम्बी कविता' एक प्रचलित फॉर्म के रूप में स्वीकार भी हो गई है और बतौर फ़ैशन और कहीं बतौर जरूरत आज लम्बी कविताएँ लिखी भी खूब जा रही हैं। कहानी में लम्बी कहानी को लेकर यदि बात आगे बढ़ाई जाए, तो अनेक लम्बी कहानियों को देखने पर दो बातें साफ तौर पर कही जा सकती हैं—पहली वे लम्बी कहानी हैं, जिनमें शिल्प औपन्यासिक प्रयुक्त हुआ है, लेकिन वस्तु कहानी के स्तर की है। दूसरी वे लम्बी कहानी हैं, जिनमें वस्तु औपन्यासिक है लेकिन शिल्प कहानी का है।

रामदरश मिश्र की लम्बी कहानी के फॉर्म और प्रकार को केन्द्र में रखकर यदि कहें तो, 'एक अधूरी कहानी', 'वसन्त का एक दिन', 'अकेला मकान', 'आखिरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिट्ठी', जैसी लम्बी कहानियाँ, औपन्यासिक और अपेक्षाकृत जटिल कथावस्तु को लेकर कहानी के शिल्प में रची गई, कहानियां हैं। जबकि 'पराया शहर', निर्णयों के बीच निर्णय', 'मुर्दा मैदान', और 'खंडहर की आवाज' कहानी की वस्तु को औपन्यासिक शिल्प में प्रस्तुत करती हैं। शिल्प और वस्तु के साथ एक दूसरी बात यह है कि इन कहानियों में कथा का फलक और समय का अन्तराल, कहानी के समय से अधिक फैला हुआ है। यानि जैसे वह देते हैं कि कहानी जीवन प्रसंग के एक अंश को पूर्ण त्वरा के साथ सीधे चरम पर पहुंचकर एकदम समाप्त होती है, जबकि उपन्यास में रचनाकार कथानक के ताने बाने को स्थितियों के बीच उकेरता हुआ समग्र जीवन के फलक पर प्रवृत्ति और प्रकृति, परिवेश और व्यक्ति, परम्परा और मूल्यों की टकराहटों और द्वन्द्वमयता में कथा का समाहार करता है। कविता में जिसे हम प्रबन्धात्मकता कहते हैं, कथा या संवेदना की एक सूत्रता कहते हैं और संयोजक तन्तुओं की पारस्परिक अन्विति में केन्द्रीय विचार तत्व की उपस्थिति और निरन्तर उसकी एक सूत्रता कायम रहने की अपेक्षा पर बल देते हैं—लम्बी कहानी में ये तत्व-पात्रता के साथ घात-प्रतिघात, परिणाम और प्रभाव के साथ नई स्थिति के निर्माण और इस प्रक्रिया में उपस्थित जटिलता और उसके घेरे से निकलने की शिल्पगत कुशलता में देखे जा सकते हैं। इन्हीं जटिलताओं के रहते कहानी कभी स्थिति के सुलझाव में, कहीं घुमावदार, कटावदार, जीवन पगडंडियों की उलझन में फंसकर अपने परिणाम तक पहुंचते-पहुंचते लम्बी हो जाती है।

अपने आकारगत लम्बे विधान में कहानी निश्चय ही पाठक को छोटी कहानी (लघुकथा नहीं बल्कि कहानी) की अपेक्षा अधिक झंझोड़ती है और उसे अपेक्षाकृत अधिक बौद्धिक व्यायाम कराती है। एक बात तय है कि बड़े फलक और समयावधि के आधिक्य के कारण लम्बी कहानी अपने गुणात्मक प्रभाव में कहानी से अधिक हो जाती है।

लम्बी कहानी का कहानी से अधिक हो जाना, वस्तु विन्यास के स्तर पर, कहानी को कहानी से अलगाता है। रामदरश मिश्र का संग्रह 'वसन्त का एक दिन' उसकी छः अपेक्षाकृत लम्बी कहानियों का संग्रह है। इसके अलावा इकसठ कहानियों में संकलित, 'खंडहर की आवाज', 'मुर्दा मैदान' भी देखी जा सकती हैं।

'शिल्प उपन्यास का, वस्तु कहानी की' लेकर लिखी गई कहानियों में 'खंडहर की आवाज', मिश्रजी की उल्लेखनीय कहानियों में गिनी जाती हैं। कहानी का प्रारंभ एक खंडहर के इर्द-गिर्द होता है, जो कहानी नायक की, अपने गांव की यात्रा के समय उसे स्मरण हो आता है। कभी यहाँ स्कूल था, जिसमें वह पढ़ा था—"धूप में तपती हुई दीवारें, यह खंडहर बनकर फैला हुआ स्कूल अपने समूचे विस्तार के साथ मुझमें पैठ जाना चाहता था" (इकसठ कहानियां, पृ० २२७) और इस तरह यहाँ एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विराट स्मृति बिम्ब उभरता है। बचपन के वे दिन, जगह से जुड़ी यादें, सारा कुछ मानो साक्षात आ सामने आ खड़ा हुआ हो। कभी लेखक फ्लैशबेक के माध्यम से अतीत में पहुंच जाता है, उन क्षणों को उसी काल संदर्भ में जीता हुआ सा अनुभव करता है और कभी पुनः वर्तमान में लौटकर एक व्याकुलता के साथ सोचता है; वह खंडहर देखने नहीं, बारात करने आया है।

परस्पर संवाद के जरिए गाँव का परिचय, मन्नन नाम के पुराने सहपाठी से भेंट—वह सब याद आना—किस प्रकार वह मुन्नु, आज मन्नन बना खड़ा है, जो कभी बॉलीवॉल खेलते समय बॉल उठाकर लाया करता था।

"इस स्कूल में कितने लायक लोग निकले, लेकिन किसी ने फिर खोज खबर नहीं ली" इन दो पंक्तियों से ही लेखक ने गांव और गांव के बीच की दूरी को इतना फैला दिया है—जो सही मायने में गांव की दुर्दशा के कारण का सीधा उल्लेख है। गांव जाता कौन है लौटकर ? (इकसठ कहानियां-पृष्ठ-२२८)

गांव का स्कूल, स्कूल के पंडितजी. पंडितजी की दुर्दशा, पंडितजी का विवाह कर लेना, स्कूल से बढ़कर राजनीति में कूद पड़ना, पार्टी ज्वाइन कर लेना, पहले समाजवादी, बाद में कांग्रेस और फिर कोटा परमिट पा जाना और जब आदमी पैसे पा जाता है तो आदतें भी बिगड़ जाती हैं, मूल्य चरमरा जाते हैं, या उन पर पैसों की चमक का रेफ्लेक्शन होने लगता है, पंडितजी भी रिफ्लैक्टैड हो गए।

लेकिन लेखक जानता है कि बाहर से सुखी और भीतर से दुखी और निरंतर टूटते हुए पंडितजी ने स्वयं को मारा है, देह और आत्मा के संघर्ष ने उन्हें तोड़ दिया न, इस टूटन को महसूस करता नायक फिर वर्तमान में आ जाता है।

अतीत से वर्तमान में, एक मूल्य स्तर से विचलन का ग्राफ खींचते हुए बिना टकराइट दिखाए, एकालाप के माध्यम से पूरा परिदृश्य साकार हो उठा है, इस कहानी में सम्पूर्ण कहानी औपन्यासिक भाव बोध से, सम्पृक्त कहानी से अधिक का आस्वाद कराती है। पाठक न केवल रमता है बल्कि कहानी के साथ-साथ वह भी एक समानान्तर अतीत और वर्तमान के हिंडोले में झूलने लगता है। यह दोलन की मानसिकता 'खंडहर की आवाज' कहानी में है जो प्रारम्भ से अन्त तक रहती है।

कहानी तो नायक के शहर से चलकर गांव में, जिसमें कभी उसका अपना बचपन बीता था, एक विवाह में सम्मिलित होने भर की है, जहाँ वह पुरानी स्मृतियों के समुद्र में आकण्ठ डूबा अनुभव करता है, कोई निदान भी नहीं है उसके पास, वह तो अचकचा कर अपनी अखंडित आस्था के आवेग में, अपने आदर्श पुरुष पंडितजी के लिए—'पाप चढ़ बैठा' —जैसे फतवे को सुनकर सोचता है—"इच्छा हुई जूता निकालकर ताबड़तोड़ चार-पांच लगा दूं, घिनौना कहीं का" प्रवृत्ति और प्रकृति की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टकराहट में उपजी यह स्वाभाविक प्रतिक्रिया समूची कहानी को आस्था के आलोक में मूल्यवान बना देती है।

सीधे-सादे ढंग में, रोचक वर्णनात्मकता में कहानी लेखकीय सरोकार के तहत सामाजिक चिन्ता दर्शाती हुई, आस्था और मूल्य के द्वन्द्व की कहानी बन जाती है। और समूची कहानी में पंडितजी नायक के रूप में संवेदना के पात्र नहीं बनते, बल्कि एक माहौल उभरता है, पंडितजी के साथ गुजरे दिनों के बीच उभरा माहौल। 'खंडहर की आवाज' मानो नैरेटर को पुकार रही है। अतीत की उभरी इन रेखाओं के बीच पंडितजी तो एक माध्यम भर हैं।

यह शिल्पगत वैशिष्ट्य, जिसमें कहानी की कथावस्तु को उपन्यास शिल्प में बांधा गया हो और पात्र पर माहौल हावी हो गया हो। 'खंडहर की आवाज' लंबी कहानी क्रम में कहानी से अलग विवेचन विश्लेषण की मांग करती है।

'पराया शहर' कहानी में ये माहौल कॉलेज के प्राध्यापक के स्थानान्तरण की व्यथा कथा के रूप में बड़े ही सहज और आत्मीय धरातल पर सामने आता है। कहानी की वस्तु विशुद्ध कहानी की सीमा में आती है। लेकिन कहानी का शिल्प यहाँ भी उपन्यास के करीब लगता है। एक स्थिति है—छायाएं···छायाएं···छायाएं, खुले द्वार से पूरा दृश्य दिखलाई पड़ता है। छात्र, गुजरते हुए प्राध्यापक कॉलेज कम्पाउण्ड में चलती ठहरती आकृतियां, पूरे माहौल को रचती हैं। नायक स्वयं प्राध्यापक है, बीमार है, नई-नई नौकरी लगी है, इसलिए चिंतित भी है। समस्याएं कई हैं—पत्नी उसकी गर्भवती है, पूरे समय से है, प्राध्यापक बीमार है, उसे छुट्टी लेकर पत्नी बच्चों को इस नई जगह लाना है, आखिर कॉलेज के इस छोटे से गैस्ट हाउस में कितने दिन पड़ाव डाला जा सकता है।

महानगरीय जीवन में किराए के मकान की समस्या है, मकान मिलता है तो नायक अपने पत्नी-बच्चों को साथ लिवा लाता है, लेकिन मय सामान के आने पर मालूम चलता है कि वह मकान तो किसी और को दे दिया गया। बड़ी मुश्किल से नए दूसरे किराएदार के आने तक वह मकान मिला पाता है। नायक ऊहापोह में है, आगे क्या होगा ?

रामदरश मिश्र एक सशक्त उपन्यासकार हैं, अतः उनकी कलम जहां भी वर्णन की गुंजाइश देखती है, रौं में बहने लगती है। कई बार इस कहानी को और ऐसी दूसरी कहानियों के पढ़ने पर बीच में लगने लगता है, पाठक कहानी नहीं, उपन्यास का अंश पढ़ रहा है। यह मिश्रजी के सहज भावुक रचनाकार का निजी शिल्प है। बीच में संवाद की स्थिति केवल नायक के बुखार का संदर्भ वर्णित करना, डॉक्टर मरीज को देखकर चला जाता है, मानो उपन्यास का एक दृश्य समाप्त हो गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदर्भ आगे बढ़ता है, नायक रात में भी अकेला होने के कारण स्वप्न देखता है, घर की चिन्ता, पत्नी की याद, घर से घिरा हुआ सोचता है—

कहां है घर उसका ? उसका घर तो एक दूसरे प्रदेश के गांव में है। सैकड़ों मील दूर···फिर घर, गाँव के स्मृति बिम्ब—वह अब गांव के लिए भी अजनबी है।

कैसी विडम्बना है नायक की, बाहर से अपनाया नहीं, गांव में अब सभी अजनबी लगते हैं, दोनों ही सिरों पर अजनबीपन का यह दंश उसे सालता है। वह जीवन से भाग भी तो नहीं सकता।

धीरे-धीरे रात सरककती है, नींद खुलने पर दिन फिर शुरू हो जाता है। ऐसा कब तक चलेगा ? उसे तार मिलता है, पत्नी डिलीवरी के बिन्दु पर है, ताबड़-तोड़ वह प्रबन्ध करके भाग खड़ा होता है अपने घर।

अब घर के माहौल में समस्या और समाधान की जुगत में व्यस्त नायक तकलीफ में भी पारस्परिक स्नेह, मुस्कान। जैसे-तैसे फिर यात्रा शुरू होती है, एक पराए शहर से दूसरे पराए शहर तक।

समूची कहानी में जिस प्रकार नाटकीय तरीके से दृश्य बदलते हैं, स्थितियां बदलती हैं, केन्द्रीय पात्र गतिमान होते हुए भी कहानी पर छाए रहते हैं।

जब मकान मालिक मिस्टर देसाई यह बताते हैं कि ये मकान अब उन्होंने किसी दूसरे किरायेदार को किराये पर दे दिया है तो फिर एक मोड़ आता है, समस्या उठ खड़ी होती है। तनाव में भी सहज बने रहने की मिश्र जी की प्रवृत्ति पूरे कथा-दृश्य पर छाई रहती है। एक विश्वास अदृश्य परछाईं सा साथ-साथ चलता है, जो वितृष्णा को, आक्रोश को और झुंझलाहट को शान्त किए रहता है। मन्थर गति से चलती कहानी पाठकीय संवेदना को घनीभूत करते हुए अपने चरम पर पहुंचती है, यानि जीवन जीते हुए सहज भाव से एक निश्चित जीवनांश को उजागर करते हुए रचनाकार—एक समस्या के बीच पाठक को छोड़कर पटाक्षेप कर देता है। मजे की बात यह है कि यह कहानी की तरह अकस्मात आया चरम नहीं है, बल्कि स्थितियों के घात-प्रतिघात से उभरा औपन्यासिक मोड़ है या पड़ाव। बहरहाल ठहरना तो कहीं ना कहीं है ही, सो कल मकान खाली करना है, इस दुश्चिंता के बीच झूलते हुए नायक की अस्थिर मनोदशा में कहानी खत्म हो जाती है। यहां कहानी पराए शहर में मकान के अनिश्चय के द्वंद्व को दर्शाती है, लेकिन व्यक्ति के अपने परिवेश-जुड़ते परिवेश और टूटते परिवेश के बीच की कड़ी से इतर एक तीसरे धरातल पर पाठक को ले जाकर छोड़ देती है। यह धरातल है, विचार का धरातल—"अन्ततोगत्वा यह समस्या ही ऐसी है, जिसका स्थाई समाधान समय के पास है और उस समय के आने तक यात्रा करनी है, अनवरत यात्रा करनी है, एक पराए शहर से दूसरे पराए शहर तक। स्थितियां यहां भी महत्वपूर्ण हो जाती हैं और पात्र गौण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'निर्णयों के बीच निर्णय' कहानी अपने एक कवि मित्र की विक्षिप्त अवस्था हो जाने पर उससे किनारा कर जाने के निर्णय की कहानी है। यह निर्णय अपने आप में भले ही कमजोर हो, नायक का स्थितियों के बीच उनसे मुक़ाबला न कर पा सकने की मजबूरी हो या कहीं स्वयं को आभिजात्य मानकर छोड़ते चलने की प्रवृत्ति के कारण किया गया व्यवहार हो, बहरहाल यातना को और अधिक न देख पा सकने या झेल सकने की मजबूरी का निर्णय है।

घटनाएं यहाँ भी अतीत के बीते अनेक वर्षों में फैली है, स्मृति बिम्ब यहां भी कथानक को कभी पीछे धकेलता है, कभी आगे बढ़ाता है—मजे की बात यह है कि 'खंडहर की आवाज' के पंडितजी और 'निर्णयों के बीच निर्णय' के ज्ञान बाबू—दोनों ही कहानी के निर्णायक पात्र हैं और साथ कहीं गहरे आत्मीय स्तर तक जुड़े पात्र हैं। इन्हीं की जीवन परिणति कहानीगत संवेदना को उकेरती है। इस लिहाज से लगभग एक ही पैटर्न पर लिखी गई ये दोनों लम्बी कहानियां—एक में नायक एक बारात में गांव लौटता है 'खंडहर की आवाज' दूसरी में वह एक कवि सम्मेलन में हिस्सा लेने आता है 'निर्णयों के बीच निर्णय'। पंडितजी गुरु थे, अतः नायक के मन पर उनका आदर्श रूप एक प्रतिबिम्व की तरह अंकित था। ज्ञान मित्र था, पड़ौसी भी, और सहृदय भी। पंडितजी से गाँव छूटने के बाद कभी सीधी मुलाकात नहीं हुई, अतः उनके लिए मन में जमे बचपन के भाव अमिट हो गये। अपने कद से बौने होने पर भी पंडितजी सदैव आस्था के बिन्दु पर रहे, आदर्श रहे।

लेकिन 'निर्णयों के बीच निर्णय' के ज्ञान के प्रति सारा संवेदनात्मक रिश्ता—उसकी बकझक, बौराया व्यवहार, पागलपन के भय से धीरे-धीरे टूटने लगा। यहां तक कि ज्ञान की उपस्थिति को भी नजरअंदाज करने का मन करने लगा। यह वही व्यक्ति था जो अपने खून के चाचा-चाची से अनबन के समय नायक पंकज की पत्नी की डिलीवरी के समय सगे भाई की तरह दौड़ा फिरा था और जिस बच्चे के जन्म के समय इसने रात-दिन कर दिया था, वही इसे ज्ञान चाचा तो क्या मानता—"हुंह छोड़ो कहते हुए एक घृणा के साथ अपने को उसकी बांहों से अलग कर लेता है और कुछ देर घूरने के बाद चला जाता है। और बाद में "पिताजी चलिये, ब्रुश कर लीजिए, आप तो इस पगले के चक्कर में आकर सब कुछ भूल गए। हम लोग तो सड़क पर इसे चिढ़ाते हैं। चुप रहो कमल ! तुम्हें तो इस तरह नहीं बोलना चाहिए, ये तुम्हारे ज्ञान चाचा हैं। तुम नहीं जानते, इन्होंने तुम्हारे लिए कितना किया है··· हुंह होंगे ज्ञान चाचा अपने घर के"। (वसन्त का एक दिन, पृष्ठ-७५)

यह प्रतिक्रिया सम्बन्धों के सूत्रों से अपरिचित वर्तमान से उपजी है और कहानी की ताकत उसके अतीत से जुड़ी है। ससुराल वालों ने एक अच्छी लड़की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखाकर एक लंगड़ी तथा निहायत कुरूप लड़की से उसकी शादी कर दी थी। इस एक घटना ने अच्छे खासे व्यक्ति के भीतर कुण्ठा और समाज के प्रति वितृष्णा का भाव पैदा कर दिया था, सच, ज्ञान पागल हो गया था। 'खंडहर की आवाज' के पंडितजी भी तो एक लम्बे समय से गांव के स्कूल के लिए मर खपकर पहले राजनीति में आए, समाजवादी हुए, कांग्रेस में आए, शादी की और फिर टूटते-सिमटते गुजर गए। वह भी तो अभाव और कुण्ठा के शिकार हुए थे। जब कोरे सम्मान से उनका पेट नहीं भरा, तो उस रास्ते पर चल पड़े, जहां दो रोटी का ठीकठाक बन्दोबस्त तो कम से कम हो जाएगा। उन्होंने देख लिया कि बिना राजनीति किए ससुर पेट खाली ही रहेगा और ये क्लेश कुछ करके ही मिटेगा। पंडितजी ने दैहिक मृत्यु को प्राप्त किया और संसार की बाधाओं से मुक्त हो गए। लेकिन ज्ञान तो मानसिक रूप से मर खप गया, वह तो मजबूर है अभिशप्त जीवन जीने के लिए।

समूचे जीवन फलक पर ज्ञान और पंडितजी दो छोरों पर लगभग समाज और अपने बीच वैचारिकता और भावनात्मकता के स्तर पर ऐक्य न हो पा सकने के के दबाव में टूटने लगते हैं—एक की टूटन, ऊपर पहाड़ से रपटते, घिसटते, मूल्य-हीनता के गर्त में गिरती हुई पंडितजी के जीवन की समाप्ति पर समाप्त होती है, लेकिन ज्ञान अभी भी समाज शापित जीवन जीने के लिए अभिशप्त है—कमाल की बात यह है कि निरीहता की दशा में ये दोनों ही पात्र, पाठकीय संवेदना और सहानुभूति के पात्र नहीं लगते—बल्कि पाठक तो इनके माध्यम से जटिल जीवनानुभवों और जीवन की असंगतियों के दंश की कड़वाहट में अपनी प्रतिक्रिया भी नहीं दे पाता—वह सिर्फ सोचता रह जाता है—दोनों की वेचारगी पर।

अपने-अपने स्तर पर ये दोनों ही पात्र पलायनवादी होकर जीना शुरू कर देते हैं। इनमें भीतरी साहस और आत्मबल की कमी इन्हें प्रारम्भ से ही निर्जीव की दशा में जीने के लिए एक मजबूरी के रूप में बाध्य करती है। यही त्रासदी आम आदमी की त्रासदी बनकर प्रकृति और प्रवृत्ति तथा मूल्य के बीच व्यक्ति की असहाय हो जाने की नियति का निदर्शन प्रस्तुत करती है। 'पराया शहर' इस दृष्टि से एक दूसरे प्रकार की अभिशप्तता और लाचारी को उजागर करती है। यहां पात्र लाचारी के बावजूद कमजोर नहीं पड़ता। वह स्थिति का सामना करने के लिए तैयार होता है। यह आत्मबल ही उसे पारस्परिकता और प्रेम तथा विश्वास के बल पर मिलता है। जिसे वह कतई गंवाता नहीं, वह कहीं निराश नहीं है, बल्कि स्थितियों के साथ जुड़कर दुश्चिन्ताओं के जाले तोड़ने का उपक्रम करता है, यह इसकी शक्ति है।

इन कहानियों की वस्तु यकीनन कहानी की ही है, लेकिन अपनी वर्णिति में घटनाओं के संयोजन, पात्र की मानसिक दशा, ऊहापोह और संवादजन्य नाटकीय दृष्टि के कारण इनका शिल्प औपन्यासिक कलेवर ग्रहण कर लेता है, पात्र की अपेक्षा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थितियां प्रमुख हो जाती हैं। कथावस्तु सुध्यवस्थित होते हुए भी अतीत और वर्तमान में संतरण करती चलती है। लेखक फ्लैशबेक कथा में उपकथा की स्थिति पैदा करता हैं। स्मृतिबिम्ब घटनात्मकता के अभाव को पूरा करते हैं। उत्सुकता इनमें है तो सही, लेकिन शार्प न होकर डिजॉल्व फॉर्म में है और कुतूहल भी इसी कारण तनाव के वक्र को सहजता में ढालकर जज्ब होता लगता है। यहां पाठक कहानी के माहौल में स्वयं को महसूसता हुआ विचारशील हो उठता है और एक तादात्म्य सा स्थापित करते हुए पूरे दृश्य जगत में विरोधाभासों को चीन्हने के प्रयत्न में व्यस्त हो जाता है, मानो लम्बी कहानी एक लम्बी पगडंडी है, जिस पर से वह गुजर जाना चाहता है, जैसे भी हो।

मिश्रजी की लम्बी कहानियों के दूसरे मॉडल में कहानी का केलेवर औपन्यासिक विधान लिए है। एक केन्द्रीय पात्र की संवेदना से पूरे परिबेश की संवेदना उभरती है। सामाजिक जीवंतता और यथार्थ अपने पूरे उन्मेष में धटित जीवन के एक बड़े हिस्से के रूप में घटनाओं और पात्रों के तनाव के साथ अभिव्यक्त हुआ है। जीवन दृष्टि संस्कारगत बाध्यता के मजबूत दायरों के बीच दोलायमान होती हुई एक त्रासद प्रभाव छोड़ती है। यह त्रासदी निश्चय ही मिश्रजी के पहले मॉडल की लम्बी कहानियों की अपेक्षा अधिक सहानुभूतिजन्य और संवेदनात्मक हैं, क्योंकि अन्ततः संवेदना पात्रगत होकर प्रभाव पैदा करती है। यहां जटिल स्थितियों के बीच अपने ट्रीटमेंट में प्रमुख हो जाता है।

इनमें उभरी ग्रामीण विसंगतियां, शहरी जीवन की समस्याएँ, पात्रकी अंतर्मुखी और बहिर्मुखी प्रवृति के कारण समूची कथा को एक घुमावदार रास्ते से ले जाते हुए अपने चरम तक की यात्रा तय करती है। इस मॉडल की कहानियां एक खास तरह की बेबसी, अभाव, तनाव. व्यथा, बेचारगी और मानवीय सहानुभूतिपरक ट्रीटमेंट के साथ जीवन की विषमता को संवेदना के धरातल पर सशक्तता के साथ प्रस्तुत करते हुए भी अपने शिल्प में सीधी सरल रेखीय ग्राफ से रेखांकित की जा सकती हैं। ये कहानियां कथानक की जटिल भाव प्रक्रिया के कारण आकार में लम्बी हो गई हैं, लेकिन इनकी लम्बाई कहानियों में औपन्यासिक आस्वादन कराते हुए पाठक के मनःपटल पर ग्रहरा प्रभाव छोड़ती हैं। और इनका अभिव्यक्तिकरण निश्चय ही कहानी के स्तर के अनुरूप किन्तु व्यापक फलक पर बन पड़ा है। अपने इस तर्क को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि तारतम्य और वर्णिति की दृष्टि से इन्हें कहानी और उपन्यास के बीच की चीज कहते हुए लम्बी कहानी विधा के रूप में नमूने के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

इस क्रम में 'एक अधूरी कहानी' 'आखिरी चिट्ठी', 'बसन्त का एक दिन' और 'अकेला मकान' को देखा जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुहागी भौजी 'एक अधूरी कहानी' की मुख्य पात्र है। जो प्रारम्भ में अपने पति के परदेश में होने के बाद भी अपने गांव में नारी सुलभ शील की रक्षा करते हुए अपना वक्त काटती है। किन्तु निर्दयी जमाना वक्त काटने दे तब न। पहले तो एक नारी बिना पति के वैसे ही असुरक्षित अनुभव करती है, चाहे वह गांव हो या शहर। इस पर यदि घर के किसी आदमी की नजर उस पर गलत पड़ जाए तो उसके लिए उस अभिशाप से बचना बड़ा ही मुश्किल है।

पति ने रखेल रख ली है, यह खबर झूठ ही सही, लेकिन सुहागी के लिए इस पर यकीन करने के अलावा चारा ही क्या है। वह अपने सगे जेठ की बुरी नीयत का शिकार हो जाती है, लेकिन तकलीफ तब शुरू होती है, जब सीधी सादी सुहागी जेठ के कारण गर्भवती हो जाती है। अब तो इस दशा में वह किसी को मुंह दिखाने लायक भी नहीं रही ....."वही घर का सबसे जेठा और जब वही सारी गन्दगी को सही बताने लगा, तो मेरे मन में जो लोक भय था, वह भी दूर हो गया और मैं उस नरक में जा गिरी। न जाने कब तक हम दोनों इस पाप के कीचड़ में लोटते रहे।"

"और एक दिन वह हो गया, जिसे होना था। मुझे डर लगा तो ससुर जी ने कहा, कुछ नहीं होगा शहर जाकर सब ठीक करा देंगे। मैंने सोच लिया कि नहीं बच्चा नहीं गिराऊंगी। आखिर यह जिन्दगी कब तक ऐसे चलेगी ? ससुरजी चाहें तो क्या मुझे और मेरे इस बच्चे को अपना नहीं सकते ? जो कर्म हम लोग कर रहे हैं, क्या वह केवल पशुकर्म बनकर रह जाएगा ? क्या मैं जिन्दगी भर 'वेस्सा' बनकर रह जाऊंगी। हे राम यह क्या कर लिया ?"

इसी दुश्चिंता में सुहागी, बुरे दिनों का फेर समझकर सुन्दर नाम के एक सुनार के साथ भाग जाती है। इस अनपढ़, बेचारी समय की मारी औरत को और कोई रास्ता ही नहीं सूझा और एक बार पैर फिसला तो फिर कोई सम्भालने वाला नहीं मिला। जब तक निभी सुन्दर के साथ उसी की होकर रही, लेकिन वह भी निरा कमजोर, मतलबी, दब्बू और हरामी निकला। अच्छे खासे परदेसी के यहां रहते-रहते उसकी दोस्ती एक छंटे बदमाश कलपू से हो गई। सुहागी देखते ही पहचान गई कि इस आदमी की निगाहें अच्छी नहीं हैं, पर सुन्दर के सामने उसकी एक न चली और जब पानी सिर से ऊपर चढ़ गया और कलपू सुहागी की जबरन इज्जत लूटने पर उतारू हो गया तो मरता क्या न करता ? सुहागी के हाथों कलपू का खून हो जाता है। सुन्दर तो उसी रोज भाग खड़ा हुआ। रह गई बेचारी अकेली सुहागी, उसे कत्ल के जुर्म में दस साल की सजा हुई। सजा भुगतने के बाद वह गरीब दुखिया, भरी पूरी दुनिया में अकेली रह गई। आखिर में उसे अपने गांव की मिट्टी की याद आती है। मानो वह अपने अपराध का प्रायश्चित करने के लिए ही यह यात्रा करके आई थी। और एक औरत की यह अधूरी कहानी यहां खत्म हो जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस भटकी हुई रूह को, उसी के खेत ने शरण दी, अनजाने ही सही, सुहागी के पति नारायण ने और उसके बेटे सूरज ने उसे कन्धा दिया, जिस चाहत के लिए वह गरीब इतनी दूर चलकर आई थी, कमसकम मरने के बाद ही सही, वह पूरी हुई।

'एक औरत एक जिन्दगी' की शुरूआत से लेकर आखिर तक की यह यातना यात्रा उसकी अधूरी कहानी के रूप में ही सही, सुनने वाला गांव का नरेश, सुहागी भौजी का मुंहलगा नन्हा देवर ही था। वर्षों की अनकही उसकी व्यथा और उन वर्षों में जिन्दगी ने क्या-क्या जहर पिया, नारी जीवन ने अपनी आबरू की रक्षा के लिए किन-किन पत्थरों से सिर टकराया, किन-किन घाटियों से यातना की धारा बही और जो शेष रह गया, क्या वह भी बची-खुची जिन्दगी के अपमान उपेक्षा और तकलीफ की कहानी नहीं होगी। सवाल रस लेने का नहीं, सहानुभूति का है और इस कहानी के माध्यम से उन बिन्दुओं की तलाश भी करना है, जो सारी गलाजत के बीच नारी के महान प्रकाश कणों से दीप्त होते हैं। उसकी शख्सियत को चमक देते हैं जो पुरुष के लिए दुर्लभ होती है।

समाज नारी के सन्दर्भ में इन बिन्दुओं की उपेक्षा करता है और गन्दगी से भरी एक मूर्ति मानकर उस पर थूकता है। मिश्रजी ने इस कहानी के माध्यम से, या कहें सुहागी भौजी की एक नई प्रतिमा स्थापित करते हुए नारी को समझने की एक नई दृष्टि दी है।

समझ के अभाव में ही प्रभा जैसी भले घर की लड़की, मर्यादा और कुल की प्रतिष्ठा को बचाए रखने के लिए आखिर तक एक दमघोटू माहौल को सहती रहती है। उसे यह सहना विरासत में अपनी मां से मिला था, लेकिन कितना अन्तर था दोनों के सहने में, मां ने उसके पिता के मरने पर उनके खून से सनी मिट्टी का एक टुकड़ा सहेज कर रख लिया था। मां के मरते समय प्रभा ने मिट्टी के उस टुकड़े में से थोड़ा सा अपने लिए सहेज कर रख लिया था, जिसे खुद प्रभा ने मरते समय अपने ब्लाउज के नीचे रख लिया था। मां और पिताजी के सम्बन्धों की ऊष्मा प्रभा को अपने जीवन में नहीं मिली। यहां तो ठीक उससे उल्टा जीवन मिला। प्यार के सम्बन्ध की ऊष्मा महसूस करने के लिए ही प्रभा ने उस मिट्टी के टुकड़े को मरते समय छाती से चिपका लिया। शायद रोज-रोज मरने से अच्छी यह सम्पूर्ण मौत थी। प्रभा की आखिरी चिट्ठी उसके दर्द की आखिरी हिचकी थी। पत्र शैली में लिखी यह "आखिरी चिट्ठी" कहानी "एक अधूरी कहानी" से अपने को इस बिन्दु पर अलगाती है कि सुहागी भौजी अनपढ़ होने के कारण से आर्थिक रूप से स्वतन्त्र नहीं हो पाती और पराधीनता में पुरुष के अहम् और उसकी वासना की शिकार होती है। जबकि 'आखिरी चिट्ठी' की प्रभा पढ़ने-लिखने के बाद भी संस्कारों और रूढ़ियों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिद्रोह नहीं कर पाती। फलस्वरूप शोषण सहने को बाध्य होती है। लेकिन संवेदना के धरातल के इस अलगाव के बाद भी परिणति में दोनों को ही असमय मौत का वरण करना पड़ता है। बाध्यता में जिए गए जीवन का अधूरापन अपनी समग्रता में इन चरित्रों की यातना कथा को अवश्य ही मार्मिक भी बनाता है और प्रश्न भी खड़ा करता है। जाने-पहचाने सम्बन्धों से परे उपजा सम्बन्ध, अधिक मानवीय और विश्वस्त होता है और इस जीवन में अपने इस परे के सम्बन्ध से आत्मीय रूप से जुड़ी प्रभा, जिसे विनोद भैया कहती है, अपनी चिट्ठी के माध्यम से उसे अपने दर्द में शरीक करती है, आखिरी चिट्ठी में लिखती है, "इस जीवन में तुमसे जो प्यार और आत्मीयता पा सकी, उसी से लगा कि यह जीवन है, नहीं तो जीवन लगने जैसी क्या बात थी इस प्यासे जीवन में? यानि एक प्यास लिए सीधे-सादे जीवन का अन्त कितनी बड़ी त्रासदी है। और सुहागी भौजी अपनी यातना-कथा मुंह लगे देवर नरेश को सुनाती है किसी सहानुभूति की जरूरत नहीं है उसे वह तो अपनी बात कहकर वर्षों से मन पर रखे पत्थर को तनिक सरकाकर कुछ राहत पाना चाहती है। इस बिन्दु पर दोनों ही कहानी अपेक्षाकृत बड़े फलक पर नारी यातना की यात्रा कथा बन जाती हैं। नारी मुक्ति की अबूझ पहेली पर भी एक नजर डालती ये कहानियां दोनों ही नारी पात्रों को झेलने के समान स्तर पर ला खड़ा कर देती हैं। समूची कथा समाज के लिए, पाठक के लिए एक प्रश्न उभारती हैं, जीने का प्रश्न? यही इनकी मूल चेतना है।

'वसन्त का एक दिन' के प्रेमी पात्र जगराम और फुलवा, दो घड़ी के सुख के लिए नहीं, न ही मनोरंजन के लिए, बल्कि अपने दर्द में एक दूसरे को शरीक करने के लिए, एक दूसरे के दर्द से पीड़ित होकर, एक दूसरे की तरफ आकृष्ट होते हुए, एक अजीब प्रकार के सुख के अनुभव में इस कहानी में पूर्ण रूप से उभर कर आये हैं। जयराम ब्राह्मण है लेकिन चाचा-चाची के व्यवहार से त्रस्त और अकेला होने के लिए अभिशप्त और इसी अभिशप्तता में वह मल्लाह की लड़की फुलवा को अपने नजदीक पाता है. उसे प्रेम कर बैठता है। दोनों ही अपने-अपने स्तर पर बेबस और लाचार हैं, उनके अपने अलग-अलग दर्द हैं। साथ ही जातिगत आभिजात्य के प्रति विद्रोह और समाज के ढोंग के खिलाफ आवाज उठाने की बेकली। फुलवा जयराम को भी अपनी तरह एक दुखी मानती है। गांव के गोकुल मांझी के यहां ठहरी यह लड़की जयराम को भा जाती है।

"आश्चर्य है यह एक महीने से गांव में है और जयराम ने उसे देखा तक नहीं" और जब पूछा तो उसने कहा—"आप तो अपनी ही दुनिया में खोए रहते हैं, दूसरों को जानने की फुर्सत ही कहां है।" लेकिन इस फुलवा बेचारी को यह क्या मालूम कि वह इस कुकट्टी की टेर में अपनेपन की भूख को मूलता फिरता है। "उसे सब पागल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भोंदू, बेवकूभ तो समझते हैं, लेकिन बस आदमी ही नहीं समझते सब उस पर हंसते हैं।" (वसन्त का एक दिन, पृष्ठ-११९)

फुलवा की आंखें नम हो आई, जैसे उसके दर्द में उसे अपना ही दर्द भीगता जान पड़ा। एक पलाश का फूल हवा में नाचता हुआ, फुलवा के सिर को छूता हुआ जयराम की छाती से जा टकराया (वसन्त का एक दिन पृष्ठ-१२०) और यह सही भी है, जिस दिन से फुलवा की जयराम से भेंट हुई है लगता है उसी दिन से फुलवा के भीतर की जमी कोई सतह टूट गई और एक धारा नीचे से ऊपर को आने को बेचैन हो गई।

जयराम अपनी ही तरह मुसीबत और समाज की मारी फुलवा को पाकर अपने अनकहे दर्द को व्यक्त करता है। दोनों अपनी आपबीती कहते हैं—"यही बात तो मेरे साथ हुई फुलवा, त जाने वस कौन सा तार है, जो मेरे तेरे बीच जुड़ गया है" "वह तार दर्द का है बाबू, जो दर्द आपका है, वही मेरा है, सच कहूं तो आपको देखते ही लगा था, मैं अकेली नहीं हूं, कोई मेरे जैसा भी है, मेरा दुख बांटने वाला" (वसन्त का एक दिन, पृष्ठ-१२१)

दरअसल यह दर्द का तार ही रामदरश मिश्र की अधिकांश कहानियों में अलग-अलग तरीके से उभर कर सामने आता है 'अकेला मकान' में आदमी को गांव के अपनेपन से ही नहीं आपसी सम्बन्ध और भाई चारे से किनारा करते देखा जा सकता है। यहां जगरानी फुआ का अपने पति सोहन से यह तार नहीं जुड़ा, जुड़ा तो भतीजे सुरेश से। पति ने तो उससे जीतेजी किनारा कर लिया, जब जीवन में ही उसने कभी उसकी परवाह नहीं की तो उसके मरने पर वह उसका क्या विचार करता। सुरेश ने अपेक्षा यह की थी कि जो जमीन ज़गरानी फुआ ने अपने जीतेजी उसे दी थी, बेचा नहीं उसे एक बल्कि एक तरह से मौखिक रूप में उसके नाम कर दी। वही जमीन मोहन ने पत्नी जगरानी के मरने के बाद एक दीगर आदमी को मुनाफे में बेच दी।

जगरानी का पूरा जीवन दर्द के तार के न जुड़ पा सकने और उससे उत्पन्न अकेलेपन को अपने परिवेश और माहौल में बांटकर जीने का सुख इस कहानी में एक खास मानवीय संवेदना को उभारता है, जो अपने आप में एक त्रासद अनुभव की चरम सीमा है। एक खास समय में स्त्री के लिए इस अनुभव को जीना बड़ा त्रासद होता है। यह कहानी अपने औपन्यासिक विधान के अन्तर्गत इस अनुभव को ही दर्द के बयान के रूप में प्रस्तुत करती है।

"यह तो मैं नहीं जानती, लेकिन इतना अवश्य जानती हूं कि लोग विश्वास करते हैं। कितने छोटे-छोटे सुख-दुख हैं लोगों के। वे कितनी छोटी-छोटी आशाएं लेकर जीते हैं। सगुन उनके दुखों को थोड़े भुलावे में डालकर उनके सुखों और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आशाओं को सहलाता है और लोग इनके सहारे जीते चलते हैं। उनके जीने के सहारे का मैं एक टुकड़ा बन जाती हूं" (बसन्त का एक दिन, संग्रह पृ० १५२) लोगों के दुख में शरीक होकर जगरानी को जो सन्तोष मिलता है और उससे जो माहौल बनता है, उसके मरने के बाद वो मकान और उस मकान में रहने वाली जगरानी फुआ की याद लोगों के मन में बस जाती है। खास तौर से सुरेश मकान को इन चीजों से जोड़कर देखता है और और सोहन इनसे अलग करके केवल उसे सम्पत्ति मानता है। दो दृष्टियों का यह भेद एक के लिए मकान को मकान और दूसरे के लिए अकेला मकान का भाव हो जाता है।

'अकेला मकान' दर्द के तार को ही होने न होने के सन्दर्भ में उभारता है, वह केवल फुआ का सूना मकान नहीं रह जाता बल्कि फुआ की पहचान बन जाता है। फुआ के साथ जुड़ी स्मृतियां, मकान के बिकने के साथ-साथ बिखर जाती हैं और अपनेपन का दबाव महसूसता कथानायक अवश सा देखता रह जाता है।

इस प्रकार यदि देखें तो मिश्रजी की लम्बी कहानियों का परिवेश भी गांव का है और स्मृतियां भी गांव की। साधनहीनता और रूढ़ियों की जकड़ अशिक्षा का दबाव और एक खास तरह की लाचारी, इन कहानियों के चरित्र की सहज कमजोरी है। दरअसल तथाकथित विकास के इस शोर में गांव और शहर अमीर और गरीब, ताकतवर और कमजोर के बीच जो असन्तुलन है और जिस प्रकार एक खास तरह का नव सामन्तवाद पनप रहा है जिसमें अपनी ताकत और सत्ता के बल पर लोग मूल्यों के समानान्तर अपनी नई सत्ता स्थापित कर रहे हैं, उसके रहते सारे आश्वासन खोखले और वायदे छलावा लगते हैं। आस्था और विश्वास खंडित हुए हैं, मूल्य टूटे हैं। व्यवस्था पर तो आदमी का विश्वास पहले भी नहीं था, पर अब तो आदमी का आदमी पर से ही विश्वास उठता जा रहा है। और यह स्थिति अभिशाप की तरह पूरे माहौल को डस रही है। इसकी जकड़ से ग्रस्त आदमी टूट रहा है। अभाव और अव्यवस्था के साथ असन्तुलन और उपेक्षा में उपजे तनाव से कोई भी पात्र बचा नहीं है और यह पात्रगत तनावों की अनेकरूपा जटिलता ही इन कहानियों को सामान्य से अलग धरातल और बड़ा फलक प्रदान करती है।

टूटन इन पात्रों की कमजोरी है और सीमा भी। सुहागी इस सीमा से बंधी है लेकिन जब तोड़ती है तो बिखरने को मजबूर हो जाती है। प्रभा इसे नहीं तोड़ पाती, केवल अपनी कमजोरी को पात्रों में दर्ज करके अपना दायित्व पूरा मान लेती है। जयराम भी कहां तक मुकाबला करता, गुंडई का। अपनी मातृभूमि से कटकर भटकते-भटकते थक गया और सुरेश मकान को बचा नहीं सका, वह देखने के लिए मजबूर हो गया और मकान की पहचान, टूटे हुए तिनकों की तरह हवा में बह गई। पंडितजी और ज्ञान तो इस प्रक्रिया में जूझते हुए खुद टूट गए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हां, पात्रों की इस परिणति के बावजूद इन कहानियों में अपनापन एक मूल्य बन कर उभरा है और इन कहानियों के पात्र अपनेपन के इसी मूल्य के प्रति समर्पित हैं या अपनेपन की तलाश में मुब्तला। फिर चाहे सुहागी भउजी हो, प्रभा हो; जयराम और फुलवा हों, सुरेश और जगरानी फुआहों या पंडित हों या ज्ञान-ये सभी अपनेपन के इसी भाव का मूल्य चुकाते हैं। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में इन कहानियों के ये पात्र जिस दर्द को जीते हैं, उसमें बगावत इनके खून में नहीं है। ये केवल अपेक्षा तो करते हैं, लेकिन टकराने का साहस नहीं जुटा पाते। एक लम्बे समय से सामन्ती प्रथा द्वारा शोषित ये पात्र आजादी के बाद भी साहस के अभाव में दर्द को चुपचाप पीने की अपनी क्षमता के कारण निरीह भी लगते हैं। इनकी बदहवासी और बदहाली खड़े रहने की इनकी ताकत को कमजोर करती है और असफलता बोध इनको या तो समझौता करने के लिए बाध्य करता है या पलायन करने के लिए। हां 'पराया शहर' का प्राध्यापक पंकज, क्योंकि शिक्षित है इसलिए वह स्थितियों में भी टूटता नहीं और समस्या के समाधान के लिए आने वाले कल की प्रतीक्षा करता है। वह मायूस नहीं है, इस लिहाज से इन कहानियों में पात्रगत यह कमजोरी, विकास के बड़े-बड़े कागजी मानदण्डों के बावजून असलियत का खुलासा भी करती है। यादि आदमी आज भी संवैधानिक सुविधा होने पर भी आत्मबल के अभाव में रिरिया रहा है। उसकी यह रिरियाहट शिक्षा के अभाव और दोषपूर्ण नेतृत्व के कारण है। इन पात्रों के माध्यम से यह सब कड़वी सच्चाई की ओर संकेत करता है। साथ-साथ उभरने वाली और भी अनेक समस्याएं हैं।

यह महज इत्तफाक नहीं है कि अपनी पराजय में समर्पण या हताशा के गुंजलक में उलझते हुए भी कहीं पात्र, कहीं माहौल पाठक को संवेदना के घने अनुभवों से जुड़ने का अवसर देते हैं। माहौल और उनके बीच जूझते पात्र कहीं न कहीं भावनात्मक धरातल पर हमारे बदलते वर्तमान को रेखांकित करते हैं। अतः इन कहानियों को एक अनवरत और ईमानदार रचनाकर्म की प्रस्तुति के रूप में देखा जा सकता है। कहानी और उपन्यास के बीच की कड़ी के रूप में ये लम्बी कहानियां एक पुल बनाती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भेंट की लाचारी : एक भटकी हुई मुलाकात[1]

डॉ० रघुबीर चौधरी

'गाड़ी चलने को ही थी कि अंजना झपटी हुई सेकंड क्लास के डिब्बे में दाखिल हो गयी।' कहानी शुरू हुई। यह जरूरी है कि अंजना एक बार हाथ-मुँह धोकर ताज़ा अनुभव कर सके। क्योंकि जो घटित होने जा रहा है वह ताज़गी के नेपथ्य में अपना अर्थ-विकास ठीक-से पा सकेगा। दूसरे ही परिच्छेद में, उम्र में अंजना से कुछ छोटी औरत, और उसके साथ बैठे दस वर्ष के मनोज के बारे में सब कुछ कह दिया गया है, जो लाघवपूर्ण एवं सांकेतिक भाषा में कहा जा सकता है। 'उसका मनोज भी तो दस साल का हुआ होगा।' यह संदिग्धता नहीं, निर्देश है। कहानी की वस्तु-संकलना की दृष्टि से यह अहम निर्देश है। पाठक अपनी ओर से संदिग्ध रहना चाहेगा। कहानी पढ़ने की यह उसकी पुरानी आदत है। और यह कहानी पुरानी है या नयी, छठे दशक की है या सातवें दशक की, 'नई कहानियाँ ग्रुप' के लेखक की है या केवल लेखक की, इसमें पुरानी भावुकता है या नई भावुकता, इसमें वंध्य बौद्धिकता है या नयी मानसिकता, इसमें 'बिना लाग-लपेट के सत्य को सत्य के रूप में देखने' का साहस है या 'मोहभंग से उत्पन्न अपने अनुभूत प्रामाणिक यथार्थ की अभिव्यक्ति', इसमें समष्टि-निष्ठा है या वैयक्तिक कुण्ठा, इसमें निम्नतम, निम्नतर, निम्न, मध्य, उच्च-मध्य, भद्र या अभद्र कौन सा वर्ग है. कौन सा सवाल है, कौन सा शिल्प है—पाठक नहीं सोचता। कहानी पढ़ते समय जो सोचता है वह पाठक नहीं अध्यापक है, या अध्यापक से भी अधिक अभिशप्त आलोचक है। पाठक तो मुक्त है, निर्विघ्ना संवित का वरदान मिला हुआ है उसे। वह कहानी पढ़ता है और इसकी अपूर्व सृष्टि के द्वारा जगती संवेदना में अपनी संवेदना के सूक्ष्म तार बुनता-मिलाता अंत तक कुछ न कुछ पा लेता है, जिसका कोई लेखा-जोखा नहीं होगा, दुनियावी अर्थ नहीं होगा। केवल होगा एक फैला हुआ क्षण—कहानी के और पाठक

---

१. रामदरश मिश्र : खाली घर, कहानी संग्रह में संग्रहित कहानी, एक भटकी हुई मुलाकात, पृ० ९२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के दो समयों के मिलने से प्राप्त एक धन्य क्षण। उस क्षण की ओर बढ़ने के लिए विवश करने वाली जिज्ञासा यहाँ है। यह मनोज किसका है ? यह प्रश्न नहीं; जिज्ञासा है क्योंकि पाठक जानता है कि उत्तर क्या है, किन्तु यह संदिग्ध बना रहेगा क्योंकि वह अपनी निर्णायक-शक्ति कहानी को ही दे देता है। कहानी ही कहेगी, कहानी ही होगी; वह न होगा। एक बार न होने के बाद हो वह हो सकेगा। कृत संकल्प सजगता से मुक्ति हमें आस्वादक बना सकती है। हमें पूछना नहीं है कि दस साल का मनोज अंजना का ही पुत्र है तो वह इसे क्यों पहचान नहीं लेती ? चाहे किसी भी स्थिति में बैठा हो, चाहे पाँच साल के बाद देखने को मिला हो, पर जो अस्तित्व का अंश है वह कैसे अज्ञात रह सकता है ? नहीं है अज्ञात। अरे, वह अजनबी औरत जिसका नाम लेखक ने बहुत बाद में बताया है वह सीमा भी अजनबी नहीं है। पहले पृष्ठ का अंतिम वाक्य सारा भेद मिटा देता है : 'पसीने से इस औरत का सिन्दूर फैलकर ललाट पर पसर गया है। अंजना ने रुमाल से अपना पसीना पोंछ लिया। हाँ, पसीना ही तो है और कुछ नहीं, कभी इस ललाट पर भी सिन्दूर फैलता था।'

जिम्मेदार तो है गर्मी, पर यह प्रक्रिया है रचना की। एक आकस्मिक परिस्थिति को चुनकर लेखक ने फैलते सिन्दूर के द्वारा दो औरतों को एक ही परिमाण में रख दिया है। सिन्दूर तो प्रतीक है पर मनोज प्रतीक नहीं है। बीच का समय कब तक अपरिचय का आवरण बन सकता था ? 'अंजना की नजर इस लड़के के सिरे के पिछले हिस्से के बालों की भंवर में डूब गयी है। बुलाऊँ ?' एक अज्ञात भय है ? मनोज पराया होने का भय ? नहीं, अपना होने का भय ! अंजना की मन:स्थिति का यह रूप सर्जनात्मक है। 'अंजना नहीं चाहती कि वह इधर मुंह फेरे। वह नहीं चाहती कि वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखों की जलती गोलियाँ उसके सीने में चिपका दे।'

कहानी में स्मृति-संचार के लिए भूमिका तैयार हो गई है। चेतना-प्रवाह की टेकनीक यहाँ कुछ क्रमबद्ध रूप लेकर प्रयुक्त हुई है। तलाक का फैसला हुआ तब मनोज दो वर्ष का था। इसके साथ तीन वर्ष और रहा। सुधांशु उसे ले गया उस समय का भावुकतापूर्ण किंतु संयत वर्णन कहानी की सुबद्धता को क्षति नही पहुंचाता। किन्तु उस भूतकाल से भी अधिक प्रस्तुत तो है इस सेकंड क्लास के डिब्बे का वर्तमान। सीमा का ऊँघना, अंजना का उपन्यास पढ़ने का प्रयास करना और मनोज का खिड़की के बाहर झाँकना ! ये तीन बिन्दु शीघ्र ही अपनी स्थिरता गँवा देते हैं और मित्रों के साथ दूसरे डिब्बे में बैठे सुधाँशु के प्रवेश के बाद तो एक तनावपूर्ण नाटयात्मक परिस्थिति उपस्थिति हो जाती है। सुधांशु के आने से पहले वात्सल्य व्यक्त न कर पाने की वेदना ही संवेदना का प्रमुख स्रोत थी, जैसे :—

"अंजना मनु की ओर देख रही है। मनु कमल सी बड़ी भोली-भाली आँखों में तरलता भरे अंजना को देखता है, आँखें मिलने पर शरमा कर फेर लेता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंजना को लगता है कि मनु की आँखें उसकी रग-रग में बह रही हैं, क्यों बह रही हैं, उसे क्या मालूम ?

'माँ !'—मनु एकदम चीखा। अंजना झटके से उठ बैठी जैसे उसे किसी ने पुकारा हो। वह अपनी इस नादानी पर शर्मा गई। उसने देखा कि वह लड़का मनु उस औरत की ओर मुखातिब होकर आँख मल रहा है।

'माँ, आँख में कोयला पड़ गया।''

विमाता का व्यवहार तो सीमा में बताना ही होगा, तभी अंजना का असहाय अव्यक्त मातृत्व अपनी सार्थक अभिव्यक्ति पा सकेगा। किन्तु ज्यादती भी हो सकती थी। विमाताओं के एकपार्श्वी रूप हमने अनेक कहानियों में देखे हैं। सीमा विमाता है पर तथ्यात्मक स्थिति में, अपनी मनःस्थिति में नहीं। वहाँ तो वह भी अकेली है। जो अंजना ने खोया वह उसने पूरा नहीं पा लिया। सुधांशु इस यात्रा में साथ है किंतु इस डिब्बे में अनुपस्थित है ! सीमा बड़बड़ाती भी है : 'अभी तक नहीं आये, दोपहर हो गई, खाने का वक्त गया, दोस्तों से बातें करते हैं दूसरे कम्पार्टमेन्ट में। इन्हें औरों का भी कुछ ख्याल है ?' इस सादे-सीधे उद्‌गार में मनोज, सीमा और सुधांशु तीनों का सम्बन्ध सूचित हो गया है।

पूर्वार्ध में सुधांशु की परोक्ष उपस्थिति कहानी में अकारक सिद्ध हुई है। अंजना के मातृत्व को बुद्धि और संवेदना के द्वंद्व से गुजरता बताने के लिए लेखक ने इस प्रकार पर्याप्त समय पा लिया है। सुधांशु के आने के बाद सब कुछ जैसे रुक जाता है, सिर्फ गाड़ी ही चलती रहती है। लेखक की जिम्मेदारी भी बढ़ जाती है : अंत तक अपरिचय का निर्वाह कैसे किया जाए ? अब तो कुछ भी अप्रकट नहीं है। 'कहो सीमा डार्लिंग !' कहते हुए प्रवेश करने वाला सुधांशु कुछ ही क्षणों में अपनी मस्ती ही नहीं, स्वस्थता भी खो बैठता है। तनावपूर्ण नाटयात्मक स्थिति पैदा होती है ! लेखक शायद मनोज और सीमा की उपस्थिति को गौण बनाकर सुधांशु-अंजना के प्रतिभावों के आलेखन में ध्यान केन्द्रित करेंगे, ऐसा लगता है। पर नहीं, इस नये संदर्भ के चतुष्कोण में भी वे तीन रेखाएँ तो पूर्ववत हैं। पहले से ही कहानी के प्रवाहित होने की दिशा अंजना की रही है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। और अंजना की वेदना का परिमाण भी नहीं बदला। जो पति था वह इस समय दुश्मन नहीं है। उपेक्षा या अवज्ञा के निर्देश से लेखक का काम सरल हो सकता था। परन्तु बीच के समय ने सुधांशु को अंजना का परिचय दिया है। अलग होने के वे कारण अब गौण हो गए हैं, अलगाव ही एक हक़ीकत बनकर रह गई है। यहाँ मिलने से पहले का अलगाव और पूर्वपरिचित के रूप में एक दूसरे को पाने के बाद आमने-सामने टिके रहने में प्रयत्नपूर्वक जिसको निभाना पड़ता है वह अलगाव—दोनों में कितना अन्तर है ! सीमा के उद्‌गारों के द्वारा तथा सुधांशु के हतप्रभ बर्ताव के द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक ने इस परिस्थिति में सभी पात्रों की मन:स्थितियाँ प्रकट की हैं। देखिए :—

"अंजना उपन्यास पर आँखें बिछाए सुधांशु की परेशानी का अनुमान लगा रही थी। वह एक अद्‌भुत संकोच में डूबी जा रही थी जैसे वह भरी सड़क पर नंगी हो गयी हो। चाह रही थी कि उठकर यहाँ से कहीं और चली जाय। लेकिन एक जड़िया से अभिभूत सी हो गई थी। कुछ करते नहीं बनता था। दूसरे, उसके इस तरह उठकर चले जाने से क्या सोचेगी यह औरत, और कहीं उसके अन्तर्मन को मनोज की निकटता पकड़े बैठी थी।"

सुधांशु खाना खाना भूल जाता है। मर्माहत है। 'वह अंजना से खाने तक के लिए पूछ भी न सके !' तलाक दे दिया है लेकिन···दूसरी ओर अंजना भी अनुभव करती है कि अभी भी कुछ टूटने को बाकी है। सीमा देखती है—जानती नहीं, इसलिए 'क्या कहीं कुछ खो बैठे हो ?' पूछ कर अंजना की ओर व्यंग्य भरी दृष्टि से देखती है ! सीमा का पूछना या देखना उसके अज्ञान के कारण ही अधिक सार्थक होता है। पाठक जानता है कि सुधांशु और अंजना के अन्तर्मन संवेदना की गहराई में उतरकर मिल चुके हैं किन्तु सुधांशु और अंजना यह नहीं जानते। बाह्य रूप से नाटयात्मक लगने वाली परिस्थिति की सही नाटयात्मकता तो यही है।

सीमा प्रश्न दोहराती है। सुधांशु अब धीरे से बोलता है—'खाता तो हूँ !'

मनोज के हाथों शीशे का एक ग्लास गिरकर चूर-चूर हो जाता है। सीमा मनोज के गाल पर एक चाँटा लगाकर कहती है—"कम्बख्त !' अंजना की आँखें झटके से घूम जाती हैं, जो भीगी हुई थीं किन्तु उनमें एक रोष की आंच उग आई थी। सुधांशु की आंखों से उसकी भीगी जलती आँखें क्षणभर को टकरायीं, फिर अपनी दिशा में लौट गयीं।

खिड़की खोल ली थी। ओ कुली···। 'अरी ओ बहनजी यह पैकेट आपका छूटा जा रहा है !'—सीमा चिल्लाती है पर तब तक तो अंजना तपते हुए स्टेशन के सन्नाटे में खो गई है।

पैकेट पर लिखा था—'मनोज के लिए।'

'हाँ अंजना थी वह···'

'क्या ?' सीमा एकाएक चौंक उठी और मनोज विस्मय से आँखें खोल पिता की ओर देखता रहा।

लेकिन खुलती हुई गाड़ी की जोर से छुक-छुक में सब कुछ डूब गया।"

इस अंत के बाद कहानी अज्ञात संवेदना का रूप धारण करेगी। मौन का उत्तराधिकारी बनने वाला पाठक अपनी संवेदना में आ मिले वेदना के एक सूक्ष्म रूप को सहने का यत्न करेगा। सह पाया तो वह शुद्ध आस्वादक है, अन्यथा आलोचक। आलोचक सोचेगा : इस कहानी के कौन से तत्त्व की प्रशंसा की जाए ? इसके खिलाफ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी कुछ तो कहना ही पड़ेगा। हाँ, कहा जा सकता है। यह कैसे हो सकता है कि दो स्त्रियाँ इतना समय साथ हों और बात भी न करें? लेकिन, लेकिन सीमा तो ऊँघती थी! अंजना किताब में मुंह छिपा लेती थी या बाहर झाँकती थी। लेखक ने सीमा और अंजना को परस्पर बात करने के लिए कोई निमित्त ही नहीं दिया। बोल सकता था सुधांशु पर वह भी तो स्मरणों में खो गया या तुलना करने लगा। सीमा के व्यवहार में वह सौहार्द और कोमलता नहीं जो इसके ऊपरी सौन्दर्य में है।'

इस कहानी के चारों चरित्रों में से कोई कुछ नहीं कर सकता। अंजना तो अपने आप से ही बात कर सकी है, किसी को संबोधित करके तो एक शब्द भी नहीं बोली। इसका यह मौन ही कहानी का सही वज़न है—अर्थगौरव है।

यह कहानी एक बार पढ़ लेने के बाद किसी से कही जा सकती है। कुछ 'आधुनिक' आलोचक मानते हैं कि जो कही जा सके वह कहानी पुरानी है। मानवीय संबंध उत्तरोत्तर जटिल होते गए हैं इसलिए कहानी की रचना भी जटिल हो गई है, कहानी अपना एककोशीय संघटन सिंगल-सैल स्ट्रक्चर खो बैठी है। रूपगत विछिन्नता के पक्ष में यह सब कहा जाता है। पुरानी कहानी घटना-प्रधान थी इसलिए घटना स्वयं बोलती थी नई कहानी ने घटना की मांसलता या कहिए कि प्रत्यक्षता ही खोदी है। इस प्रकार की बातें बड़ी अच्छी भाषा में कही जा सकती हैं। इनमें जो तथ्य हों उनको हमें स्वीकार करना चाहिए। पर किसी कहानी की संवेदनागत या रचनागत आधुनिकता का प्रश्न लेबल लगाने से हल नहीं हो जाता। टूटे हुए संबंधों की पृष्ठ-भूमि पर खड़े इस कहानी के चरित्र, कुछ भी नहीं कर पाते—इस निष्कर्ष के साथ ही साथ जो वेदना उभरती है वह, और उसको उभारने वाला कला-कौशल—इन दोनों को सम्पृक्त पाना ही पाठक का प्राप्य है, आलोचक भले ही अंशों में भटकता रहे। एक सिच्युएशन—रेल के डिब्बे में प्राप्त एक भाव-परिस्थिति ने इस कहानी को एककोशीय संघटन रचा है, तभी तो वह साधत सुबद्ध लगती है। भाषाकीय घटाटोप से भी कहानी मुक्त है। यहाँ एक ऐसी सहज सरल भाषा है जिसे भावात्मक तीव्रता बढ़ाने के समय निर्व्याज काव्यात्मकता का सहयोग प्राप्त हो जाता है।

————

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोविज्ञान का प्रतीकात्मक रचना-विधान । सीमा[1]

डॉ० किरन चन्द्र शर्मा

'सीमा' कहानी जिस बिन्दु से आरम्भ होती है वह बिन्दु है—

"चील एकाएक टिहा उठी और उदास सूखे ताल सी टंगी हुई क्वार की दोपहरी में छोटी-छोटी दरारें उभर आयीं, मानों ताल की लिपियाँ हों। सीमा ने चील का टहाका सुना और आकाश को पूर्ववत ताकती रही। चील का टहाका तो थर्राकर चुप हो गया था, मगर उसकी प्रतिध्वनि सीमा के मन में जख्मी पंछी-सी गिरकर हाँफ रही थी।"

और जिस बिन्दु पर समाप्त होती है वह बिन्दु है—

"माँ और बेटी की आँखों में एक ही साथ एक छाया उभरती है और बरस पड़ती है। चील अभी भी टिहा रही है।"

यहाँ मैंने जान बूझकर उन दो उद्धहरणों को दिया है जिनमें कहीं कोई कहानी नहीं दिखाई देती और इसीलिए उन स्थलों की जहाँ से कहानी आरम्भ होनी चाहिए थी अथवा जहाँ पर कहानी समाप्त होनी चाहिए थी—मैंने बिन्दु कहा है। इतना कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि यह कहानी वास्तव ऐसी किसी घटना पर आधारित नहीं है जिसके भीतर से कोई कहानी इमर्ज होती सी दिखाई देती हो। जिस तरह अनेक बिन्दुओं को मिलाकर एक रेखा चित्र तैयार किया जाता है उसी तरह यह कहानी भी अनेक बिन्दुओं को मिलाकर तैयार की गई है। 'की गई है' जब मैं कह रहा हूं तो इसका अर्थ यह बिलकुल नहीं है कि इसके भीतर से कोई कहानी उभरती ही नहीं। बल्कि कहानी उभरती है और उभरते उभरते कुछ एक प्रतीकात्मक संकेतों से घिरकर प्रतीकात्मक रचनाविधान में खो जाती है।

सीमा एक पन्द्रह साल की किशोरी युवती है जिसका अपना मन है, अपनी भावनाएँ हैं पर शरीर विकलांग है। उसके दोनों पैर खराब हैं जिनकी वजह से वह शारीरिक रूप से अपनी दौड़ने फिरने, की असमंथता को बराबर महसूस करती है।

---

१. रामदरश मिश्र : खाली घर, कहानी संग्रह में संग्रहीत कहानी, सीमा पृ० १९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और चूंकि महसूस करती है इसीलिए बराबर के बारह वर्ष के बच्चे की जरा सी मज़ाक से बेहद परेशान हो जाती है। और वह लड़का भी इतना बदतमीज़ है कि उसे रोज चिढ़ाता है। इस चिढ़ाने को और बढ़ावा देती है पड़ोस की मिस कुमुद—सजी सँवरी स्वस्थ और आकर्षक। इस अपाहिज लड़की का मुस्कराना भर उसे बर्दाश्त नहीं है खुद चाहे वह सारे दिन भटकती फिरे। इस दर्द को केवल सीमा ही नहीं उसकी माँ भी बराबर महसूस करती है। महसूस करती है और कुछ नहीं कर पाती—यही एक घुटन है जिसकी वजह से 'उदास सूखे ताल सी टंगी हुई क्वार की दोपहरी में छोटी-छोटी दरारें उभर आयीं, मानो' ताल की लिपियाँ हों। और शायद इसीलिए चील शुरू से लेकर आखिर तक वहीं टिहाती रहती है।

यहाँ आकर यह समझते देर नहीं लगनी चाहिए कि पूरी कहानी का सहज मनोविज्ञान प्रतीकात्मक रचना-विधान के द्वारा अभिव्यक्ति पाने के लिए व्याकुल है। कहानी गौण होती चली जाती है और प्रतीकात्मक रचना-विधान अधिक महत्वपूर्ण। लेकिन जब हम पूरे रचना-विधान पर दृष्टि डालते हैं और कहानी की सहज घटनाओं को उसके साथ जोड़ते हैं तो हमें लगता है कि जिस प्रतीक का सहारा कहानी कार लेता है वह न केवल कहानी की सहजता को ही भंग करता है साथ ही कहानी की शक्ति को भी तोड़ देता है। किसी भी प्रतीकात्मक रचना-विधान का यह खतरा बराबर बना रहता है कि यदि वह कथ्य के अनुरूप नही चुना गया है तो वह कथ्य की तीव्रता को कम कर देगा। इस कहानी के साथ जाने अनजाने ऐसा हो गया है। क्योंकि वह बारह साल का लड़का, युवती मिस कुमुद या अन्य कोई भी शरारती बच्चा यदि किसी अपाहिज लड़की को लंगड़ी कहकर चिढ़ाते हैं तो वे चील नहीं हो जाते और ना ही इस सन्दर्भ में चील का टिटिहाना कोई अर्थ दे पाता है। चील सामान्यतः गिद्ध जाति का पक्षी है जिसका गुण ही टिटिहाना नहीं है झपट पड़ना है। ठीक उसी तरह अपाहिज लड़की का प्रतीक सूखे ताल सी टंगी हुई क्वार की दुपहरी को बना देना किसी अर्थ में भी कोई सार्थक अभिव्यक्ति नहीं दे पाता है। बावजूद तमाम सोच विचार के किसी भी प्रतीक की अपनी अभिव्यक्ति उसके समाज सापेक्ष जीवन पर बहुत कुछ आधारित है और वही सार्थक भी। क्योंकि उसके बिना किसी प्रतीक का अर्थ समझ पाना सहज सम्भव नहीं है। प्रतीकों का गलत इस्तेमाल किसी भी रचनाकार की सीमा को ही अधिक व्यक्त करता है। रामदरश जी की इस कहानी में अनेक जगह ऐसा हुआ है।

यद्यपि रामदरश जी के कथाकार की सर्वाधिक शक्ति वहाँ होती है जहाँ वे सहज और स्वाभाविक घटना को बड़ी ही सहजता के साथ अभिव्यक्त करने की कोशिश करते हैं पर फिर भी उनके पूरे कथा साहित्य पर यदि हम दृष्टि डालें तो कुछ गिने चुने ऐसे प्रतीक हैं जिन्हें वे अक्सर इस्तेमाल करते हैं—जैसे छत, आकाश, चील,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धूप, सूरज, सड़क, तालाब, दोपहरी, जल, सर्प, चिड़िया और अंडे। सामान्यतः इन्हीं प्रतीकों का प्रयोग वे अपनी कविताओं से लेकर कहानी तथा उपन्यासों में अनेक स्तर पर करते हैं। यद्यपि ये सारे प्रतीक उनकी उस मानसिकता को अभिव्यक्त करते हैं जो उन्हें गाँव की मिट्टी से जोड़ती है पर जहाँ कहानी केवल प्रतीकों का सहारा लेकर चलती दिखाई देती है वहाँ रामदरश मिश्र के कहानीकार की अधिक शक्ति नहीं दिखाई देती।

लेकिन 'सीमा' कहानी एक अर्थ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और वह है समाज के साथ विकलांग व्यक्ति की पारस्परिकता अथवा विकलांग व्यक्ति के प्रति समाज के एक विशेष किस्म के लोगों का दृष्टिकोण। सामान्यतः समाज का किसी भी विकलांग व्यक्ति के प्रति दो तरह का दृष्टिकोण रहा है एक है—दया अथवा सहानुभूति का और दूसरा मज़ाक का। दया अथवा सहानुभूति का दृष्टिकोण ऐसे लोगों का होता है जो इन विकलांग लोगों के लिए सिवाय दया दिखाने के अधिक कुछ करते नहीं या फिर कभी कभाक कुछ कर देते हैं—जैसे अंधे को सड़क पार करा दी अथवा किसी लंगड़े लूले को कुछ और मदद कर दी। यह मदद उन लोगों को समाज में और बेचारा बना देती है। दूसरी तरह के लोग वे हैं जो किसी अंधे को देखकर यह सोचेंगे कि यह आने वाला किसी गड्ढे में गिर जाय और वे उस पर हँस सकें। हालाँकि यह उच्छृंखल लोगों का एक समूह मात्र है जिसमें अधिकाँश बच्चे होते हैं। रामदरश मिश्र ने अपनी इस कहानी में यद्यपि दोनों तरह के लोगों को साथ लिया है—जिसमें पहले वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं पड़ौसी प्रोफेसर डॉ० शर्मा। लेकिन डॉ० शर्मा उस समय कहीं नहीं दिखाई देते जब दूसरे वर्ग के शरारती लड़के लड़कियां सीमा पर हँस रहे होते हैं। यद्यपि यह विश्वसनीयता का प्रश्न खड़ा करती है कि डॉ० शर्मा उसके बाद कहाँ गायब हो जाते हैं? और फिर वे उस सब का विरोध क्यों नहीं करते जो सीमा और उसकी माँ के इर्द-गिर्द हर रोज़ घटित होता है? पर शायद लेखक का उद्देश्य ही उस वर्ग के सन्दर्भ में जो कि उच्छृंखल और शरारती हैं 'सीमा' की मानसिकता का उद्घाटन करना है इसलिए डॉ० शर्मा वाले वर्ग का गायब हो जाना बहुत अजीब नहीं रह जाता। इस कहानी का एक महत्वपूर्ण तत्व जिससे शायद लेखक भी बहुत परिचित नहीं है। वह यह है कि विकलांग जीवन जिस तरह की मानसिकता का निर्माण करता हुआ चलता है उसमें समाज के द्वारा दी गई वह शरारत भी जो कि बहुत सहज और सामान्य होनी चाहिए थी (या कि जो केवल बच्चे भी एक शैतानी भर होनी चाहिए थी) बड़ी ही पीड़ादायक और प्रतिक्रियात्मक प्रतीत होने लगती है। 'सीमा' कहानी की मूल संवेदना का उदाहरण देकर यह बात मैं स्पष्ट करना चाहूंगा।

"···वह तो इतना ही देखती है कि उसके आगे एक आकाश है और आकाश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को चीरती बड़ी-बड़ी सड़कें हैं—दूरगामी, सीमान्त-स्पर्शी जिस पर अनन्त पाँवों के गुजरने के निशान हैं। उन सड़कों तक पहुँचने वाली कुछ छोटी-छोटी पगडण्डियाँ हैं सड़कों को छूने को व्याकुल, परन्तु सभी चार कदम चलकर टूट गयी हैं और सभी पर सीमा के घिसटने के निशान हैं। वह बैठी-बैठी देखती रहती है इन सड़कों को, इन तक पहुंचने को व्याकुल पगडण्डियों से गुजरती है और दो कदम चलने के बाद गिर पड़ती है नाले में और असहाय छटपटाने लगती है····"अम्मा !" एक चीख उसके मुंह से निकल पड़ती है, फिर वह अपनी इस कमजोरी पर शरमा जाती है। "अम्मा" हाय बेचारी कितने दिनों के बाद निकली है शहर को। चील फिर एक टहाका लगाती है और सीमा फिर उस ओर देखने लगती है।

"सीमा चलेगी घूमने ?" पास की सड़क से गुजरता हुआ मौहल्ले का एक बारह वर्षीय लड़का पूछता है। सीमा एक उसाँस खींचकर रह जाती है। यह कमीना रोज ऐसे ही पूछता है। एक बार अम्मा ने डाँटा था, "कमीने कहीं के, जलाते हो मेरी बिटिया को, असहाय जानकर। तुम समझते क्या हो अपने को। मैं अपनी बेटी को हवाई जहाज से घुमाऊँगी।"

लेखक के अपने दृष्टिकोण के अलावा इस पूरे प्रकारण में सचमुच में ऐसा कुछ नहीं है जिसको समाज का विकलांगों के प्रति क्रूर दृष्टिकोण कहा जाय। एक बारह वर्ष के बच्चे का सहज मज़ाक है जिसे विकलांग के सन्दर्भ में शैतानी कहा जा सकता है। लेकिन विकलांग होने से इस पन्द्रह वर्ष की लड़की सीमा की और विशेष रूप से उसकी माँ को इतना उत्तेजनापूर्ण बना दिया है कि एक छोटे बच्चे की छोटी शैतानी भी उन्हें चील का टिटिहाना जैसा लगता है यानि वह सब उनके मर्म की गहराई से छूकर प्रतिक्रिया के रूप में फूट पड़ता है। जो घूम नहीं सकती है उससे किसी बच्चे का मज़ाक अथवा शरारतन यह पूछ लेना भी कि 'घूमने चलोगी' एक भीतरी प्रतिरोध को अनजाने ही जन्म दे रहा होता है। यह तथ्य इस कहानी से उजागर होता है और यदि ध्यान से देखा जाय तो यही तथ्य ज्यादा उजागर होता है जो आखिर तक विकसित होता चला जाता है।

"घूमने चलेगी" और सीमा को लगता है कि एकतारा को झनझना दिया गया हो और झनझनाने से पहले ही वह तार खट्ट से टूट गया हो।"

"सामने के तार में एक चिड़िया फँस गयी है, चीं-चीं कर फड़फड़ा रही है। सीमा एक अवस करुणा से उसे देख रही है।"

यहाँ आकर कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती है कि 'सीमा' नाम ही प्रतीकात्मक होने लगता है। यानि शारीरिक क्षमता की सीमा ही मानसिक सोच की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीमा का निर्धारण कर देती है—कुल मिलाकर विकलांग शरीर की शारीरिक और मानसिक शक्ति की सीमा ही सीमा का मानवीकरण करती नजर आती है। इस तरह 'सीमा' स्वयं एक सीमा अर्थबोध बनकर प्रगट होने लगती है।

इस कहानी की एक दूसरी मानसिकता उभर कर सामने आती है मिस कुमुद के सन्दर्भ में। अर्थात् एक वर्ग ऐसा भी है जो विकलांग व्यक्ति द्वारा अपनी किसी भी स्तर पर की गई उपेक्षा बर्दाश्त ही नहीं कर सकता। जैसे कुमुद को देखकर सीमा नहीं हँस रही है पर फिर भी उसे ऐसा लग रहा है कि वह उस पर ही हँसीहै। यानि कि जो विकलाँग है वह दुश्चरित्र के सामने भी कमजोर और फीका है। यद्यपि सीमा कुमुद से कहीं अधिक सुन्दर है फिर भी वह उस मनचली लड़की से उपेक्षित होती है। इस कहानी में इस तरह भी मानसिकता का बहुत ही सहज और मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है—

"क्यों हँसती है रे लंगड़ी ? जलन होती हो तो तू भी कर ले।"

"सीमा चौंककर सहम जाती है, चेहरे की हंसी उड़ जाती है, मैं···मैं कहाँ हँसती हूं ? आपको भ्रम हो रहा है।"

"हाँ हाँ, मैं सब समझती हूं। कम्बख्त सीढ़ी के पास बैठी सबका चलना-पहनना निहारा करती है। अपनी जिन्दगी तो अकारण हो ही गयी, चाहती है सभी लंगड़े होकर बैठ जायें। माँ का फैशन नहीं देखती जो बुड्ढी होने पर भी बहेल्ला बनी घूमती है।"

लेकिन जैसा कि मैंने ऊपर कहा है यह समाज के एक बहुत ही छोटे वर्ग की मानसिकता है। समाज का परिपक्व बुद्धि वाला समझदार तपका तो डॉ० शर्मा जैसे व्यक्तियों का है जिसे सीमा के विकलांग शरीर से परे उसकी भावना दिखाई देती है जिसके साथ उसकी पूरी सहानुभूति है। 'सीमा' की भी और उसकी माँ की भी उस वर्ग से कोई शिकायत नहीं है। इस तरह अनेक तरह की मानसिकताओं का अनेक स्तरों पर इस कहानी में हमें अहसास होता है। यह इस कहानी की शक्ति है पर यह अहसास सहज स्वाभाविक घटनाओं के माध्यम से कम प्रतीकात्मक मानसिकताओं के माध्यम से अधिक होता। वहाँ यह कहानी अपनी सीमा ही अधिक जाहिर करती है।

जैसा कि मैंने पहले ही कहा है कि जहाँ रामदरश मिश्र का कथाकार जमीन पर अधिक होता है वहाँ वह सर्वाधिक सशक्त होता है पर जहाँ आकाश की ओर ज्यादा देखता है बहाँ अधिक प्रतीकात्मक होकर सीमित हो जाता है। इस कहानी में भी वह आकाश की तरफ ज्यादा ही देखता है। इसीलिए—

"चील टिहाकर आकाश में चक्कर काट रही है···सारे पेड़ स्तब्ध हैं, चिड़िया ठहरी हुई हैं। रह रहकर वही चील टिहाँ उठती है···"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकाल के स्वर : मां, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो[1]

डॉ० ओमप्रकाश गुप्त

स्वातंत्र्योत्तर युग में कहानी विषयक विविध आंदोलनों और वाद-विवादों से सर्वथा स्वतंत्र रहकर जिन कहानीकारों ने हिंदी कहानी को एक निश्चित दिशा और आकार प्रदान किया, उनमें साठोत्तरी कहानीकार रामदरश मिश्र का नाम उल्लेखनीय माना जा सकता है। यद्यपि उनके कहानी-लेखन के प्रथम दौर का आरम्भ १९५० के आसपास हो चुका था, किन्तु १९६० के आसपास उनकी कहानियों का जो दूसरा दौर आरम्भ हुआ, उसमें कहानी-कला के प्रति उनकी अतिरिक्त सजगता-सक्रियता के साथ-साथ ग्रामीण जीवन के संश्लिष्ट यथार्थ को उद्घाटित करने वाली गहरी संवेदनात्मक दृष्टि का परिचय मिलने लगता है। उनकी कहानियों की सबसे बड़ी शक्ति संवेदना के नकली और सतही तेवर की जगह अनुभूत यथार्थ की भीतरी आवाज है। प्रयोग के नाम पर फैशन, प्रदर्शन, दर्शन (फिलोसॉफी) और अनुकरण के स्थान पर अनुभूत अनुभव के अनुकूल सहज रचना-धर्मिता के दर्शन होते हैं। उनकी कहानियों में व्यक्त संवेदना पाठक को बराबर छूती और कचोटती रहती है तथा उस अनुभव में सहज ही सहभागी बनने को विवश करती है। ऐसी ही एक सार्थक रचना है—'माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो', जो सन् ६० से ६८ के बीच लिखी गई कहानियों के संग्रह—'खाली घर' में संग्रहीत है। प्रस्तुत संग्रह की कहानियों में ग्रामीण परिवेश की प्रधानता है किंतु इसके पीछे कोई बाह्य दबाव-दुराग्रह या आंचलिकता या आडम्बर कारण रूप न होकर भीतरी प्रेरणा ही सक्रिय रही है। जैसा कि वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि 'पाठक रचना पढ़ता है; शहर या गाँव में नहीं।' सच्ची रचना वही है जो किसी भी विषय को गहरी मानवीय संवेदना तक

---

१. रामदरश मिश्र : खाली घर, कहानी संग्रह में संग्रहीत कहानी, मां, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो, पृ० ३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहुँचा देती है। मानवीय संवेदना को शहर या गाँव जैसे टुकड़ों में बाँटकर देखा नहीं जा सकता। सच तो यह है कि लेखक ने बचपन से ही ग्रामीण परिवेश को उसके सम्पूर्ण रूप में आर-पार जिया है, इसलिए उसकी रचनाओं में उस परिवेश के गहरे यथार्थपूर्ण बिम्ब और उसकी मिट्टी में सने जीते-जागते यथार्थ चित्र और चरित्र अनायास ही उभर आते हैं। विवेच्य कहानी में अकाल एवं अभावग्रस्त ग्रामीण अंचल की मातमी उदासी की गहरी छाया का हृदयद्रावक चित्रांकन है।

वस्तु-निरूपण की शैली की दृष्टि से इस कहानी की लाक्षणिकता यह है कि लेखक ने ग्रामीण परिवेश के सहज चित्रण के लिए उसी गाँव की मिट्टी में पले एक ऐसे पात्र को कथा-निरूपक या कथा-प्रवक्ता बनाया है जो आजीविका के लिए अब शहर में रहने लगा है और छुट्टियों में या किसी प्रसंग-विशेष पर गाँव जाता है। उसके अनुभव विश्व में एक तरफ गाँव का बदलता हुआ विद्रूप चेहरा है, तो दूसरी तरफ जश्न मनाते हुए शहर के नेता और नागरिकों की दंभी आकृतियाँ। दोनों अनुभवों की टकराहट कहानी में जिस व्यंग्यपूर्ण स्थिति का सर्जन करती है, वही इस रचना की सबसे बड़ी उपलब्धि है। कथा-प्रवक्ता माँ का क्रिया-कर्म करके गाँव से अभी-अभी लौटा है। अभी भी उसके मानस में अकालग्रस्त अपने गाँव के भयानक अभावों की छाया और अन्तहीन मौत का अपार सन्नाटा बराबर बना हुआ है। एक तरफ माँ की अकाल मृत्यु की मातमी उदासी और दूसरी तरफ गाँव भर में घूमती मृत्यु की गंध उसे बेचैन बनाए हुए है कि अचानक रेडियो पर से गूंजती मंत्रीजी की आवाज उसे और अधिक विचलित कर देती है। सूखाग्रस्त क्षेत्रों का दबदबाभरा दौरा कर लौटे मंत्री जी का कहना है कि—'जनता का मनोबल बहुत ऊँचा है, अपनी सारी कठिनाइयों के बावजूद वह बड़ी बहादुरी से जूझ रही है, मैं जनता दल के इस वीर भाव से बहुत प्रभावित हूं।' वर्तमान राजनीति के खोखलेपन का पर्दाफाश इन पंक्तियों से स्वयं ही हो जाता है। रेडियो की यह आवाज कथा-नायक को बरबस अपने ग्रामीण अंचल की अतल गहराइयों में खींच ले जाती है। माँ की मौत ग्राम-वासिनी भारतमाता की मौत बन आँखों में उभरने लगती है। उसे लगता है कि उसकी ही माँ क्यों, 'अभावों से घिरे स्तब्ध वायुमंडल में हर घर में एक माँ दम तोड़ रही है।' अतीत और वर्तमान के सारे दृश्य एक-एक कर आँखों के सामने तैरते दिखाई देने लगते हैं—'इस रास्ते में कई बार आया हूं। तब खेत तरह-तरह की फसलों से भरे रहते थे। किसानों से रास्ते बजते रहते थे। आज रास्ते सूने हैं। जाड़े की इस उदास दोपहरी में खाली फटी हुई जमीन लेटी है और इस उदास पगडंडियों से सरकता जा रहा हूँ—माँ मर गई है—मन की उदासी इस विशाल भूभाग की उदासी के साथ मिलकर गाढ़ी हो रही है···लोग अब लोग नहीं रहे, व्यक्ति बन गए हैं।' अन्तिम पंक्ति बहुत बड़ा संकेत छोड़ती है—दुःख-सुख अब सामूहिक न रहकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'व्यक्तिगत' बन गया है। साथ ही कथा-नायक के दुहरे दर्द की रेखा भी इन शब्दों में से साफ झलकती दिखाई देती है। भाग्य के सहारे टिके हुए गाँव के उखड़ने-उजड़ने का अहसास और गहरा होने लगता है। कितनी बड़ी विडम्बना है कि पानी अधिक बरसे तो भी और न बरसे तो भी उजड़ना ही मानो गाँव की नियति बन चुकी है। पाँच मील लगातार चलते-चलते जो कटु अनुभव नायक की ग्रामीण आँखों को हुए, वे हवाईजहाज और कारों से तूफानी दौरा करते मंत्रीजी की नागरिक आँखों को कैसे हो सकते थे ! शहरी और ग्रामीण दृष्टि की यह अटूट दूरी ही लेखक की दृष्टि में ग्रामीण जीवन के प्रति अन्याय का मूल कारण है। गाँव और शहर की जिन्दगी के उभयपक्षी अनुभव के अभाव में ग्रामीण-परिवेश की पीड़ा को पहचाना नहीं जा सकता, इस बात की प्रतीति प्रस्तुत कहानी से सहज ही हो जाती है।

भाषिक संकेतों द्वारा ग्रामीण जीवन की पीड़ा और माँ की मृत्यु से सम्बन्धित छोटे-मोटे अनेक सन्दर्भ क्रमशः उभरते रहते हैं जो कहानी में एक अपेक्षित तनावपूर्ण वातावरण की सृष्टि करते हैं। गाँव की मनहूस उदासी, श्रीहीनता, चारों ओर घूमती मृत्यु की गंध का तीव्र अहसास, गोबरहा और पेड़ की छाल खाकर मृत्यु से लड़ते ग्रामीण, छोटे-छोटे पशु-पक्षियों को मार कर पेट की आग बुझाने को विवश प्राणियों की करुणा आदि संदर्भों के बीच कथा-नायक को जब पता चलता है कि उसकी माँ की मौत का असली कारण भुखमरी है, तो वह अपने आप से ही लड़ने लगता है—'तो माँ मर गई मटर और मक्का खाकर। पेट की बीमारी में खाने को अच्छा अन्न नहीं मिल सका। मुझे लगने लगा कि माँ की मौत का जिम्मेदार कहीं मैं भी हूँ—न उसकी दवा करा सका और न उसके पथ्य के लिए पर्याप्त पैसे भेज सका।' कथानायक को यहाँ इस बात की भी प्रतीति हुए बिना नही रहती कि माँ की मौत का कारण मैं भी हूँ और शहर भी है। उसे याद आता है शहर आते समय माँ बार-बार कहती थी—'तुम्हें मरते समय नहीं देख पाऊँगी। माँ के ये शब्द उसे भीतर तक हिला देते हैं। हर पल, हर मोड़, हर कला, हर संघर्ष में माँ-ही-माँ। कितनी यात्राओं की वापसी और लोटे का जल लिये माँ का निकलना···सब-कुछ तक साथ जीवित हो उठता है। गाँव में हर रोज किसी-न-किसी के भूख से मरने की खबर आती ही रहती है। माँ मर गई, दुधई मर गया, पड़ौस की चाची मर गई, लोग हर रोज मर रहे हैं और नेता लोग भाषण पर भाषण दिये जा रहे हैं—'भूख से किसी को मरने नहीं दिया जाएगा।' स्थिति के इस विरोधाभास को लेखक ने बड़े व्यंग्यात्मक रूप से उभारा है। यह विरोधाभास राजा और प्रजा, गाँव और शहर, शोषक और शोषित, हर स्तर पर, हर जगह पर व्याप्त है। इसकी जड़ें बड़ी गहरी हैं। रोज रेडियो पर नेताजी कहते हैं—'समारोहों में अन्न का अपव्यय जुर्म है।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन वे ही नेता बड़े-बड़े समारोहों में देश का काम छोड़कर जश्न मनाते देखे जा सकते हैं। नेता, जमींदार, मिलमालिक, व्यापारी, कांग्रेसी सब के-सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। सबका स्वार्थ एक है, सबका लक्ष्य एक है—भूखी जनता को उपदेश पिलाना और स्वयं भोग-विलास की जिन्दगी जीना। वर्तमान राजनीति की विसंवादिता की यह झलक कहानी में कई जगहों पर मिल जाती है, फिर भी कहानी में किसी राजनीतिक वाद की बू नहीं आती, यही उसकी सफलता का रहस्य है। ग्रामीण जीवन के प्रति सच्ची संवेदनात्मक दृष्टि के कारण ही लेखक ग्रामीण-परिवेश के कण-कण में व्याप्त अभावजन्य पीड़ा को पहचानने और प्रकट करने में सफल हो सका है। यही कारण है कि माँ की मृत्युजन्य वेदना की पृष्ठभूमि में लिखी गई यह कहानी अपनी सघन संवेदनशीलता के कारण व्यक्ति-वेदना की सीमा से बाहर निकल समस्त भारतीय ग्रामीण समाज की पीड़ा की कलात्मक अभिव्यक्ति बन सकी है। इसे कोई जनवादी दृष्टि कहे या मार्क्सवादी, किंतु जैसा कि स्वयं लेखक ने कहा है—उसके मन में बचपन से ही अभिशप्त और अभावग्रस्त जीवन के प्रति पीड़ा-बोध बराबर बना रहा है, मार्क्सवादी दृष्टि बाद में मिली, जिससे इस पीड़ा-बोध को समर्थन भी मिला और सही वैज्ञानिक समझ भी।'[1]

इस दृष्टि से मानवीय पीड़ा और मार्क्सवादी दृष्टि दोनों मिलकर उनकी कहानी को एक यथार्थ अनुभव-बिंब क साथ-साथ रचनात्मक मूल्य से जोड़ती हैं। कविता उनकी कहानियों की संरचना में कमजोरी बनकर नहीं, एक शक्ति बनकर आती है। कहानी का शीर्षक भी अपने आप में प्रतीकात्मक है जो एक साथ तीन संदर्भों को प्रतिध्वनित करता है। माँ की मृत्यु, अकालग्रस्त गाँव में मौत का सन्नाटा और बजते हुए रेडियो के राजनीतिक स्वर—तीन सन्दर्भ एक साथ दृष्टि से टकराकर गाँव और शहर की टकराहट के एक यथार्थ चित्र को निर्मित करते हैं। सूखाग्रस्त गाँव की दिन-दिन क्षीण होती प्रकृति के यथार्थ चित्रण में भी लेखक की काव्य-चेतना अनजाने ही सक्रिय हो उठती देखी जा सकती है—'नदी के तट, खेतों में खुली हुई दरारें, उजड़े हुए सिवान, ठूँठ होते हुए पेड़···चारों ओर घूमती हुई मृत्यु की गंध···ढलती हुई धूप का सूअर के चीत्कार से और भी उदास हो जाना तथा एक श्मशान सहसा चिल्लाता हुआ मालूम पड़ा' आदि पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं। इस कहानी में न तो कथा का कोई विस्तार है, न कोई घटना-क्रम और न ही कोई पात्र-सृष्टि। सिर्फ यथार्थ स्थितियों का रेखांकन मात्र ही कहानी को रचनात्मक आकार प्रदान करता है। आरम्भ, मध्य और अन्त में 'रेडियो की आवाज' के

१. रामदरश मिश्र : इकसठ कहानियाँ, पृ० १२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माध्यम से गाँव और शहर के सूत्रों-संदर्भों को जोड़ने के साथ-साथ भारतीय राजनीति की कुरूपता का मार्मिक ढंग से पर्दाफाश किया गया है। इस प्रकार माँ की मौत के साये में उजड़े हुए गाँव के यथार्थ की तलाश इस कहानी में रचनात्मक स्तर पर बड़ी सार्थक सिद्ध हुई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय एवं समाज का सत्य : सड़क[1]

डॉ० द्वारिका प्रसाद 'चारुमित्र'

'सड़क' हिंदी के प्रसिद्ध कथाकार रामदरश मिश्र की प्रतिनिधि कहानियों में से एक है। मिश्र जी प्रेमचंद की यथार्थवादी परंपरा के कथाकार हैं। आजादी के बाद जिन लेखकों में भारतीय समाज की विसंगतियों को अपनी पैनी लेखनी से पकड़ने की चेष्टा की है, उनमें मिश्र जी का नाम आदर के साथ लिया जाएगा। वह प्रतिबद्ध रचनाकार नहीं हैं। किसी पार्टी अथवा विचारधारा से वह प्रतिबद्ध नहीं रहे। लेकिन एक रचनाकार की हैसियत से अपने जीवन-अनुभवों से अपने समय की वास्तविकता से जरूर प्रतिबद्ध रहे हैं। उन्होंने अपने को कहानी की उस जमीन से जोड़ा जो प्रेमचन्द की बहुत परिचित जमीन रही है। उनकी कहानियों में कहीं-कहीं आधुनिकता का रंग है। किंतु नयी कहानी और नयी कविता के दौर में भी वह अपनी रचनाओं को आधुनिकतावादी मुहावरों से बचा ले जाते हैं।

कहानी अपने आकार-प्रकार में बहुत छोटी है—महज़ छः-सात पृष्ठों की। किंतु है अर्थगर्भित; अपने समय एवं समाज की वास्तविकता के अनेक पर्तों को उद्घाटित करने वाली। सशक्त अन्तर्वस्तु एवं तीव्र यथार्थबोध के अनुरूप ही भाषा-शिल्प में एक सादगी है। यहां न शिल्प का आतंक है और न ही भाषा का काव्यमय जादुई संस्कार। यथार्थ का दबाव इतना प्रबल है कि लेखक अनावश्यक ब्यौरों से बचता हुआ अनुभूत जीवन को कम से कम शब्दों में चित्रित कर देने में गनीमत समझता है। इसलिये जो लोग कहानी में कविता खोजने के आदी हैं उन्हें निराशा हाथ लगेगी। यह जीवन की कविता नहीं, सही अर्थों में जीवन का गद्य है। वैसे मिश्र जी उपन्यासकार और कहानीकार होने के अतिरिक्त कवि भी हैं। लेकिन उन्होंने अपने कथाकार-व्यक्तित्व को अपने कवि-व्यक्तित्व से भरसक अलग रखा है। प्रसंगवश यहाँ इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक न होगा कि वह हिंदी कथा-साहित्य के उस दौर से जुड़ रहे हैं जब हिंदी कहानी के दो सशक्त हस्ताक्षर—

१. रामदरश मिश्र : एक वह, कहानी संग्रह में, संग्रहीत कहानी, सड़क, पृ० ७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फणीश्वरनाथ रेणु और निर्मल वर्मा—अपने-अपने ढंग से कथा-साहित्य में कविता के तत्त्वों को भरपूर तरजीह दे रहे थे। ऐसी हालत में कवि होने के बावजूद कविता और कहानी में भरसक दूरी बनाए रखना जहां एक ओर यथार्थबोध और रचना-प्रक्रिया की विशिष्ट प्रकृति के प्रश्न से जुड़ा है; कहीं वह विधागत अस्मिता की रक्षा और अपने रचनात्मक व्यक्तित्व की अलग पहचान बनाने के सवाल से भी जुड़ जाता है।

इस संदर्भ में यह तथ्य भी रेखांकित करने योग्य है कि मिश्र जी ने रेणु की परंपरा का अनुसरण करते हुए अपने कुछेक उपन्यासों में आंचलिक तत्त्वों का समावेश किया है वहां उनकी कहानियाँ आँचलिक तत्त्वों से प्रायः रहित हैं। दूसरी ओर रेणु हैं कि आंचलिकता के आंचल को कभी छोड़ नहीं सकते—चाहे उपन्यास हो या कहानी। आंचलिकता के इस आग्रह के फलस्वरूप परिवेश-निर्माण में जो एक भरा-पूरापन उपस्थित होता है, उसकी कमी मिश्रजी में बराबर महसूस होती है। अनुभव की विश्वसनीयता अवश्य बनी रहती है। आंचलिक जीवन की कविता में डूबने अथवा यथार्थ के सूक्ष्म ब्यौरों में उलझने का धैर्य उनमें नहीं है। यही कारण है कि उनकी कहानियां आकार में अक्सर छोटी होती हैं; और जहाँ यथार्थ का तीव्र बोध सुघड़ शिल्प में ढल गया है वहां कहानी अच्छी बन गई है। ऐसी कहानियां रेणु-निर्मल की तरह तरल गीतात्मकता में नहीं डुबातीं अपितु ठोस यथार्थ को गद्यात्मकता का निर्वाह करती हुई चिन्तन की ओर उन्मुख होती हैं।

मिश्र जी की बहुत-सी कहानियां ग्रामीण जीवन से संबंधित हैं और कुछ महा-नगरीय जीवन से भी। दिल्ली जैसे महानगर में रहते हुए भी गांव उनके भीतर बराबर कुलबुलाता रहता है। इसलिए कहानी की खोज में स्वभावतः वह ग्रामीण जीवन की ओर मुडे। अक्सर वह अभावग्रस्त उपेक्षित जीवन को कहानी का विषय बनाते हैं। 'एक वह', 'घर', 'आधुनिक', 'जमीन', 'सड़क' आदि ऐसी ही कहानियां हैं। उनमें कुछ भी ऐसा नहीं है जिसे असामान्य, अपरिचित अथवा अप्रत्याशित कहा जा सके। वह अनोखी जिंदगियों की दास्तान नहीं कहते। यहां पात्र, घटनाएँ और परिवेश—सब आपको परिचित और सामान्य जान पड़ेंगे। आम मामूली जिंदगी में ही कहानी की तलाश और ऐसे अर्थ से साक्षात्कार कि कहानी खत्म करने पर आप कुछ सोचने के लिए विवश हों, मिश्र जी की कहानी-कला का विशेष पक्ष है और उनकी कहानियों की प्रासंगिकता और अर्थवत्ता का रहस्य भी।

'सड़क' कहानी की कथाभूमि भी ग्राम-जीवन से सम्बन्धित है। कहानी के केंद्र में गांव के रिटायर्ड मास्टर चंद्रभान पांडे की व्यथा-कथा है। किंतु यह किसी व्यक्ति-विशेष की कहानी-भर नहीं है, इसके माध्यम से लेखक ने स्वातंत्र्योत्तर भारत की व्यथा-कथा कही है। इस तरह यह कहानी खंडगत सत्य के माध्यम से कहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृहत्तर और व्यापक सत्य का साक्षात्कार कराती है। मास्टर चंद्रभान पांडे की पीड़ा हमारी आज की राष्ट्रीय पीड़ा से जुड़ जाती है। हिंदी में विविध विषयों एवं समस्याओं पर कहानियाँ ही बहुत लिखी जाती हैं लेकिन ऐसी कहानियां कम देखने में आती हैं जहां समस्याओं को जीवंत एवं यादगार चरित्र के माध्यम से उठाया गया हो। अपने इस वैशिष्ट्य के कारण ही 'सड़क' एक उल्लेखनीय कहानी बन पड़ी है।

यह कहानी गांधीवादी आदर्शों से मोहभंग और वास्तविकता के विवश स्वीकार की कहानी है। कहानी के अंतिम हिस्से में मास्टर चंदभान पांडे सोचते हैं : "यादव ही खादी पहनने का हकदार है क्योंकि उसके शरीर पर खादी का विकास हुआ है और वह ? वह नहीं; उसके शरीर पर तो खादी फटती ही चली गई है।" दरअसल कथानायक के इस कथन में ही कहानी की कुंजी निहित है। यह गहन यथार्थ बोध के साथ गांधीवादी आदर्शों से मोहभंग है। उस आदमी के लिए जिसने अपना सारा जीवन आदर्शों में ही गुजारा यह अनुभूति कितनी पीड़ादायक है, इसकी कल्पना की जा सकती है। खादी प्रतीक है गांधीवादी आदर्शों का। कहानी में खादी की धोती का जिक्र इतनी बार आया है कि वह कथा की मूल संवेदना एवं संरचनात्मक बुनावट का अनिवार्य हिस्सा प्रतीत होती है। ऐसी हालत में प्रश्न उठता है कि इस कहानी का शीर्षक 'खादी की धोती' न होकर 'सड़क' क्यों है। वस्तुतः कहानी में रिटायर्ड मास्टर चंद्रभान पांडे का सारा ऊहापोह बनती हुई सड़क के किनारे चाय की दुकान खोलने-न-खोलने और उस पर बैठने न बैठने को लेकर है। इस अन्तर्द्वन्द्व के पीछे पुराने आदर्शों एवं संस्कारों से मोह और नये यथार्थ को आसानी से स्वीकार न कर पाने की पीड़ा कम कर रही है। उनके जीवन में यह जो नयी समस्या आई है और जिसने उनके भीतर एक भारी उथल-पुथल मचा दी है वह सड़क ही है। वह कब से सोच रहे थे कि "काश ! इस पिछड़े हुए क्षेत्र में भी एक सड़क आती।···लेकिन तब उन्होंने कहाँ सोचा था कि सड़क के आने का कोई और मतलब भी हो सकता है !" सड़क प्रतीक है विकास का। और विकास का मतलब हमारे भीतर-बाहर की दुनिया में बहुत कुछ टूटना भी है। हमारी सरकार ने आजादी के बाद गांधीवादी आदर्शों का ढोल पीटते हुए व्यवहार में विकास के जिस पूंजीवादी रास्ते का अनुसरण किया है उससे आर्थिक वैषम्य घटने के बजाय और बढ़ा ही ही है। मूल्यों का विघटन इसका एक अनिवार्य परिणाम है। सड़कों के फैलते हुए जाल का अर्थ है पूंजी के नागफांस में आम आदमी का उलझते चले जाना और इसके साथ गांधीवादी आदर्शों से जनता का मोहभंग। विकास का यह पूंजीवादी रास्ता एक अंधा वेग है जो मूल्यों और आदर्शों कीं परवाह नहीं करता। यह कथ्य ही लेखक का मुख्य अभिप्रेत है।

मुख्य चरित्र के अलावा कहानी में दो पात्र और आते हैं जंगबहादुर यादव और रमेश। दोनों ही पात्र कथानायक के अंतःसंघर्ष को तीव्र करते हैं। इलाके के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कांग्रेसी विधायक जंगबहादुर यादव मुख्य पात्र का प्रतिलोम मालूम पड़ता है—सत्ता और शक्ति का प्रतीक। यह सड़क उन्हीं की बदौलत आ रही है। रमेश अपने पिता चंद्रभान पांडे की तुलना में व्यावहारिक अधिक और यथार्थवादी मालूम पड़ता है। उसके माध्यम से लेखक ने जहाँ दो पीढ़ियों की जीवन-दृष्टि का अन्तर स्पष्ट किया है वहीं आदर्श और यथार्थ की टकराहट की अनुगूंज सुनाई पड़ती है।

कहानी की शुरूआत अत्यंत नाटकीय ढंग से होती है। पहले ही दृश्य में हम अपने कथानायक को इलाके के कांग्रेसी विधायक जंगबहादुर द्वारा अपमानित होते हुए पाते हैं। यह कांग्रेसी नेता कभी पांडेजी का शिष्य रह चुका है। पाठक कहानी के इस अंश में अपने कथानायक द्वारा इस खलनायक से उचित प्रतिशोध लेने की कामना कर सकते हैं। लेकिन यह कहानी प्रतिशोध की कोई फार्मूलाबद्ध कहानी नहीं है। आगे चलकर कथानायक की दारुण विपन्नता और गरीबी सामने आती है। और यह प्रश्न भी कि जो व्यक्ति अपनी जीर्ण-शीर्ष धोती में अपनी लाज तक बचा पाने में असमर्थ है वह भला प्रतिशोध क्या लेगा ? अस्वाभाविक नहीं कि हमारा कथानायक सुलगता हुआ भी अपने भीतर के खोल में सिमट जाए : "उसे इतना क्रोध आया कि इस यादव के बच्चे को फिर एक बार बेंच पर खड़ा करके उसके चूतड़ पर बेंत लगाए, लेकिन अब तो वह एल० एल० ए० हो गया है, छात्र नहीं रहा। वह अपना क्रोध अपने भीतर ही दबाये सुलगने लगा था। लेकिन एक बात से उसे बड़ी राहत मिली कि उसने इस एम०एल०ए० के बच्चे को स्कूल में कई बार बेंच पर खड़ा करके पीटा था। अब भी उसके चूतड़ पर बेंत के निशान होंगे। तब कौन जानता था कि यह जंगली आगे चलकर जंगबहादुर यादव एम० एल० ए० बन जाएगा। क्लास में सबसे बोदा लड़का यही था। हर रोज इसे मार पिटती थी।...एक बार तो इसने गांधीजी की तस्वीर दूसरे लड़के की किताब से फाड़ ली थी और उस पर पेशाब कर दिया था।...अब वह बड़ा नेता बन गया है। पता नहीं, इस देश में कैसे इतने बड़े-बड़े चमत्कार हो जाते हैं।...उसे लगता है कि लोग कहाँ-से-कहाँ पहुंच गये और वह खादी की फटी धोती पकड़े बैठा हुआ है।" यह कैसी विडंबना है कि एक समय गांधी के नाम पर थूकने वाले लोग ही हमारे राष्ट्रीय जीवन के कर्णधार और नियामक बन बैठे हैं और मास्टर चंद्रभान पांडे जैसे सच्चे और ईमानदार गांधीवादी अप्रासंगिक और अकेले होते चले गए हैं।

मास्टर चंद्रभान पांडे अपनी सांस्कृतिक चेतना में जितने सम्पन्न मालूम पड़ते हैं आर्थिक दृष्टि से उतने ही विपन्न हैं। यह बात रह-रह कर सालती है कि उनके जैसे आदर्शवादी शिक्षक की आर्थिक मजबूरियों से तंग आकर सड़क के किनारे चाय की दुकान खोलनी पड़े। खेत के नाम पर केवल तीन बीघे खेत वो भी बाढ़ग्रस्त कछार के खेत। इनसे छः-सात आदमियों का गुजर-बसर मुश्किल से हो पाता है। इसलिए रमेश उन्हें दुकान पर बैठने की सलाह देता है। लेकिन दुकान पर बैठने में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके पुराने संस्कार और आदर्शवाद आड़े आता है। और आज पहले दिन बैठे ही थे कि यादव उन्हें अपमानित कर गया। घर लौटकर रात में पांडेजी गंभीर अन्तर्मंथन से गुजरते हैं और कल दुकान पर नहीं जाने का निश्चय करते हैं: "गरीब हुआ तो क्या इस बुढ़ौती में अपनी आबरू बेचेगा! करवट बदली तो धोती फिर पर्र से बोल गई।...अब नंगा होकर घर तो रह सकता है। लेकिन क्या दुकान भी जाएगा इसी रूप में?" लेखक ने कथानायक की विवशता और अन्तर्द्वन्द्व पर विशेष ध्यान दिया है।

कहानी का अंत बड़ा मार्मिक है और स्वाभाविक भी। सुबह पांडेजी देखते हैं कि "रमेश के बच्चे फटे-पुराने नेकर पहने उसके सामने से स्कूल चले गए। उन्हें एक चोट-सी लगी—क्या वह इतनी मंहगी खादी की धोती पहनकर बच्चों को नंगा रखेगा। आज तक तो उसने यही किया। उसे क्यों नहीं मालूम हुआ कि खादी-खादी में भेद होता है। एक खादी उसकी है, एक यादव की। यादव ही खादी पहनने का हकदार है क्योंकि उसके शरीर पर तो खादी फटती ही चली गई है।" यथार्थ का यह नया परिज्ञान है जिसमें तमाम पुराने संस्कार और आदर्श टूट जाते हैं और कहानी के अन्त में हम पाते हैं कि पांडेजी रमेश की धोती पहनकर दुकान की ओर चले जा रहे हैं।

यह कहानी छोटी होते हुए भी अपनी सांकेतिकता एवं व्यंजकता में अनुपम है। कहानी का सारा प्रतीकत्व आरोपित नहीं लगता, वह रचना-प्रक्रिया के भीतर से उभरता है। 'सड़क' और खादी की धोती संरचनात्मक बुनावट के अनिवार्य उपादान बनकर आए हैं। कहानी खत्म करने पर ही उनका प्रतीकत्व समझ में आता है। रामदरश मिश्र की रचना-प्रक्रिया वस्तुन्मुखी है। वह अपने अनुभव को पाठक अनुभव बना देते हैं, यह इस कहानी की विशेषता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिस्थितियों के नागपाश में : मिसफिट[1]

डॉ० गोविन्द रजनीश

समकालीन कहानी अपने समय से प्रभावित या कालांकित कहानी है। दिक् या परिवेश में जीवित वास्तविक व्यक्तियों की ओर उन्मुख होकर ये कहानियाँ अपनी परिणति में वर्तमान काल का बोध और स्पन्दन जगाती हैं। इन कहानियों में प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझते और टकराते व्यक्तियों के चेहरे साफ़ झलकते हैं। इस माने में रामदरश मिश्र की बीस साल पहले लिखी गई 'मिसफिट' कहानी का स्थिति-बोध आज भी उतना समकालीन और प्रासंगिक है जितना अपने समय में रहा होगा। हालत में सुधार आने की अपेक्षा बिगाड़ ही अधिक आया है।

'मिसफिट' में मध्यवर्गीय व्यक्ति का ऐसा चेहरा उभरता है जो एक ओर समय की मार यानी आर्थिक-अभावों से जूझ रहा है, दूसरी ओर बच्चे के असामान्य व्यवहार से परेशान है तीसरी ओर शिक्षा के गिरते हुए मूल्यों के संकट को झेलरहा है।

'मिसफिट' मात्र दृष्टा की कहानी न होकर भुगतते-भोगते आदमी की कहानी है। यथार्थ के चक्रव्यूह में घिरे व्यक्ति द्वारा अमित के पक्ष में लिए गये फैसले से वह एक दर्द की प्रतीति छोड़ जाती है। कहानी के केन्द्र में, विद्रोही किशोर अमित की बिडम्बनापूर्ण स्थिति है। उसे एक ऐसे स्कूल में कैद कर दिया गया है जिसमें टाई व कॉलर ठीक न होने और अनुशासन के नाम पर मिस अहलूवालिया मारती-पीटती है। वह स्वयं भद्दा स्लीवलैस ब्लाउज पहनकर रूज और लिपस्टिक में रंग-पुत कर गलत अंग्रेजी हिन्दी बोलती है और पढ़ाने के स्थान पर बच्चों को आतंकित करतीं है। उसके व्यक्तित्व का अंकन करते हुए कहानीकार ने व्यंग्यपूर्ण लहजे में लिखा है—"एक बडे से जूड़े का मन्दिर उठाये, चेहरे पर रूज और होठों पर लिपस्टिक की गहरी पर्त लपेटे, स्लीवलैस में से अपनी माँसल भुजाएँ चमकाती, सुर्ख साड़ी और मैंचिग ब्लाउज में अपनी भरी-पूरी काया को दहकाती एक अदद औरत प्रिंसिपल ऑफिस में दाखिल होती दिखी तो मैं समझ पाया कि ये होंगी मिस अहलूवालिया।"

---

१. रामदरश मिश्र : एक वह, कहानी संग्रह में संग्रहीत कहानी, मिसफिट पृ० ८५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक ने 'मांसल भुजाएँ चमकाती', 'काया दहकाती', 'टपक पड़ी', 'फूट पड़ी' और 'कूद पड़ी' जैसी क्रियाओं के माध्यम से उसके व्यक्तित्व और हाव-भावों को प्रत्येक कोण से व्यक्त करने का प्रयास किया है।

इन स्थितियों में चंचल किन्तु प्रतिभावान अमित स्कूल के परिवेश में अँट नहीं पाता। उसकी नैसर्गिक वृतियाँ दमित होकर उसे आक्रोशी बना देती हैं। स्थितियों के प्रतिकूलन में उसकी हठधर्मिता, विद्रोही और हिंसक मनोवृत्तियाँ निरन्तर वढ़ती जाती हैं। दिवा-स्वप्नों और कल्पनात्मक मन तरंगों के दबाव को झेलती उसकी आक्रामकता गालियों, मारने-पीटने, काल्पनिक शत्रुओं को गोलियों से भूनने में व्यक्त होती है।

संवेगात्मक अस्थिरता उसे कलह प्रिय, उदंड और प्रतिहिंसक बना देती है। स्कूल न जाने का कारण बताते हुए वह कहता है—"टीचर साली मारती है। साली कुतिया मारती क्यों है ?" दूध न दिए जाने की धमकी पर वह कहता है— "जाओ, मत देना। उस साली कुतिया को तो कुछ नहीं कहते जो बिना बात के मारती रहती है। जब मैं बड़ा होऊँगा तो मुझे मारकर कोई देख लेना।"

पिता सोचता है—"कितना मनबढ़ हो गया है लड़का। प्यार से बुलाओ तो सुनता ही नहीं, डाँटो-मारो तो भभक उठता है। तेज इतना कि जिसे मन लगाकर एक बार पढ़ ले वह अमिट हो जाय और लापरवाह इतना कि अपने आस पास से बेखबर। भावुक हो उठा तो दुनिया भर की तरलता आँखों में तैर उठे और क्रोध इतना कि पागल हो उठे। दिन भर घूमघाम, दौड़धूप, मार पीट चलती रहती है। इस कमरे से उस कमरे में, फर्श से दीवार पर, दीवार से फर्श पर इनकी यात्रा कूदती रहती है। अच्छा से अच्छा कपड़ा पहनकर निकलता है और तारकोल में लपेटे चला आता है।"

चेतन मन की इच्छाएँ पूरी न होने पर अमित के अवचेतन मन की क्रियाएँ और प्रतिगमन की भावना तोड़-फोड़ के रूप में व्यक्त होती है। इसी से उसका भीतरी तनाव हल्का होता है। आशा के विरुद्ध कार्य करके वह आत्म-पीड़न और परपीड़न में आनन्द लेता है। टीचर द्वारा प्रिंसीपल की बेटी शोभा को जान-बूझ कर दौड़ में फर्स्ट किए जाने पर, इस अन्याय के विरुद्ध उसका आक्रोश इस सीमा तक बढ़ जाता है कि वह टीचर को मारने-पीटने पर उतारू हो जाता है। लेकिन उसका विषादात्मक मनस्ताप सैनिक स्कूल में भर्ती होने की सूचना पाकर हर्ष की आँच में पिघल जाता है। पुनः सामान्य स्थिति में लौट आता है। उसे लगता है कि उसकी आकांक्षाओं को पर लग गये हैं।

कहानी की मूल संवेदना भ्रष्ट होते समाज में एक किशोर की मानसिकता को व्यक्त करने से जुड़ी है लेकिन रामदरश मिश्र ने आंतरिक और बाह्य यथार्थ की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टकराहट को प्रभावी ढंग से अंकित किया है। किशोर मानसिकता में पाये जाने वाले संवेगों के साथ-साथ व्यावसायिक होते और निरन्तर गिरते हुए शैक्षिक मूल्यों पर तीखा प्रहार किया है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की विसंगतियों को उभारते हुए लेखक ने प्रकारान्तर से स्पष्ट किया है—शिक्षा के नाम पर ये संस्थाएँ बच्चों की रुचि और अरुचि का बिना ध्यान रखे हुए, उनके मानसिक विकास की अपेक्षा टाई, कॉलर, टीम-टाम, वेश-विन्यास जैसी महत्त्वहीन चीजों पर बल देती हैं। स्वाधीनता के पश्चात् कान्वेंट स्कूलों और अंग्रेजी माध्यम वाली उन जैसी संस्थाओं में अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए मध्यवर्गीय और नव-धनाढय-वर्ग के माता-पिताओं में होड़ और दौड़ लगी हुई है। हीनता-बोध के कारण अंग्रेजी के भीगे जूते खाकर भी उन्हें किसी प्रकार का ग्लानि-बोध नहीं हो रहा है।

इन संस्थाओं में बेहूदे मेकअप से पुती शिक्षिकाएँ अनुशासन का पाठ पढ़ाती हैं। भ्रष्ट अंग्रेजी और हिन्दी का खुलकर प्रयोग करती हैं। इस प्रकार नयी पीढ़ी को उनके संस्कारों और जड़ों से काट कर; विदेशी भाषा, संस्कृति और सभ्यता का जबरदस्ती लबादा ओढ़ाया जा रहा है उन्हें बलात् भेड़-बकरी बनाया जा रहा है। इस सन्दर्भ में लेखक का दर्द इन शब्दों में व्यक्त हुआ है—ये स्कूल "खुले आम भारतीयता का नीलाम करते रहते हैं।"

अमित जैसे अनेक किशोर उनके उत्पीड़नों और अन्यायों का शिकार हो रहे हैं। ऐसे में संवेदनशील और भावुक किशोर मानसिकता जो रूप धारण करती है, वह अमित के व्यवहार से परिलक्षित है। उसके स्वभाव में चिड़चिड़ाहट, नफ़रत झगडालूपन के रूप में आया परिवर्तन पारिवारिक परिवेश की उपज न होकर ऐसी ही शिक्षण-संस्थाओं की देन है।

कहानीकार ने इनके मानसिक शोषण के साथ-साथ आर्थिक शोषण के विविध रूपों को व्यक्त किया है। मध्यवर्ग का व्यक्ति वैसे ही समय की मार से पीड़ित है, ये स्कूल रहे-सहे को निचोड़ लेना चाहते है। लेखक के शब्दों में—"आदमी तो यों ही परेशान है महँगाई से, तिस पर ये स्कूल वाले रोज कोई न कोई आइटम पेश कर देते हैं—कभी ताला, कभी कुंजी, कभी पंखा, कभी पिकनिक कभी नाटक, कभी टीचर की विदाई, कभी किसी की सगाई, कभी लाठी, कभी डंडा, ह्वाट नानसेंस—और सभी आइटम पेश होते हैं। महीने के तीसरे या चौथे सप्ताह में बेचारे लड़के घर पेरेंट्स की डाँट सहते हैं और स्कूल में टीचर की। पढ़ाई के नाम पर कुछ भी नहीं।"

ये संस्थाएँ कमाने और राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं को भुनाने का माध्यम बनती जा रही हैं। सुनियोजित षड्यन्त्र के तहत नयी पीढ़ी को बुनियादी बातों से काटकर गलत दिशा की ओर ले जाया जा रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मिसफिट' की बुनावट में उसके छोटे-छोटे चुस्त संवादों का बहुत बड़ा योग है। उसमें एक ओर भाषागत कसाव है तो दूसरी ओर प्रयोगगत शैथिल्य भी है। "अच्छा खासी बिल्डिग", "एक तो स्त्री, दूसरे कुमार, तीसरे इंगलिश कुमारी", "माँ दौड़ते हैं, बहिन दौड़ती है" जैसे प्रयोगों पर लेखक का ध्यान जाना चाहिए था।

इधर की कहानियों में जो सपाटता आई है उसके तहत कहानियों से मनोवैज्ञानिक गहराइयों का अभाव हो गया है। रामदरश मिश्र का यह कहानी उस स्थिति का अपवाद है। आयातित अवधारणाओं का अभाव होने से उसमें विश्वसनीयता है। कहानी घटना-संयोगों, विचार-सूक्तियों और नतीजे पर आधारित न होकर भीतर से गुजरती हुई अपने आप से, रचना से अतिक्रमित कर लेती है।

कहानी को खानों में बाँटकर देखने से कहानी के चरित्र और विकास में बहुत बाधा आई है। कहानी की पहचान के सारे मानदंड ही गड़बड़ हो गये हैं। रामदरश मिश्र को ग्राम-संवेदना के कथाकार के खाने में डालने का आग्रह भी इसी का परिणाम है जबकि महानगरीय जीवन और समकालीन यथार्थ की उन्होंने अच्छी-खासी कहानियाँ भी लिखी हैं। 'मिसफिट' उनमें से एक है जो प्रतिकूल परिस्थितियों को सहते-लड़ते और तोड़ते किशोर की मानसिकता को व्यक्त करने में पूरी तरह सफल रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभावग्रस्त लोगों की पीड़ा : मुर्दा मैदान[1]

सुरेन्द्र तिवारी

रामदरश मिश्र की अधिकांश कहानियां ग्रामीण परिवेश की कहानियां हैं और इसी कारण उन्हें एक आंचलिक कथाकार के रूप में ही मान्यता मिली है। मिश्र ने भी इस आरोपण को सहज भाव से स्वीकारा है, कारण एक लम्बे अर्से तक महानगरीय जीवन जीने के बावजूद आज भी उनका कहना है : "लगता है मेरे भीतर सदा मेरा गांव जीता रहा। कह गांव कछार का गांव है—दो नदियों के बीच घिरे हुए एक बहुत बड़े अंचल का एक गांव, इस गांव के सारे अभाव, विडंबना, अवमानना, प्राकृतिक प्रकोप के आघात और जिजीविषा पूर्वक उनसे संघर्ष को मैंने देखा ही नहीं, जिया भी है। मेरे अनुभव में इस गांव के माध्यम से सारे कछार की भयानक गरीबी और पीड़ा, सामूहिक उल्लासों के स्वर, प्रकृति के विविध रंग और गंध तरह-तरह के अभिशप्त और उदास चेहरे बिम्ब बनकर पड़े हुए हैं। यही वजह है कि मेरे कथा साहित्य की मुख्य भूमि यह कछार अंछल ही रहा है।" (भूमिका : इकसठ कहानियां, पृष्ठ-१०) किन्तु इस आंचलिक कथाकार ने महानगरीय संवेदनाओं और परिवेश की भी कई अद्भुत कहानियां लिखी हैं, इस बात को रेखांकित करना भी बहुत जरूरी है। क्योंकि किसी भी कथाकार को एक खास किस्म के कटघरे में कैद करके रखना उसके प्रति ही नहीं, साहित्य के प्रति भी अन्याय है। 'पराया शहर', 'उत्सव', 'छूटता हुआ नगर', 'लाल बत्ती के पास', 'मिसफिट', जैसी महानगरीय जीवन की कहानियों को पढ़ने के बाद यह नहीं कहा जा सकता कि रामदरश मिश्र की संवेदना सिर्फ गांवों से जुड़ी है। लेकिन महानगरीय जीवन की उनकी सबसे अच्छी कहानी 'मुर्दा मैदान' है

'मुर्दा मैदान' दिल्ली के एक ऐसे क्षेत्र की कहानी है जहां एक बहुत बड़ा मैदान खाली पड़ा है। इस वीरान मैदान में मृत जानवरों के शरीर फेंकने के साथ ही आसपास का सारा कूड़ा भी यहीं फेंका जाता है। दूर के क्षेत्रों से भी ट्रकों में

---

१. रामदरश मिश्र : दिनचर्या, कहानी संग्रह में संग्रहीत कहानी, मुर्दा मैदान, पृ० १७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लाद लादकर कूड़ा यहां लाया जाता है और फेंका जाता है। इस तरह कूड़ा और मांस हड्डियों की दुर्गन्ध यहां फैली रहती है। इस मैदान के आसपास से गुजरना मुश्किल है परन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं जिन का जीवन इस कूड़े के ढेर के बल पर ही चल रहा है। ये वे लोग हैं जो कूड़े में से पुरानी चीजें, कागज, लोहे के टुकड़े आदि चुन चुनकर ले जाते हैं और उसी के बल पर दो रोटी जुटाने की कोशिश करते हैं।

अगर कहानी सिर्फ इतनी ही होती तो शायद बहुत ही सामान्य ढंग की कहानी बनकर रह गई होती, किन्तु कथाकार की सजगता यहीं दृष्टिगत होती है। वह इस परिवेश के बीच से आज की विसंगतियों को—चाहें वे राजनीतिक हों या आर्थिक या सामाजिक—उभारता है। वह सिर्फ एक कहानी नहीं कहता बल्कि कहानी के बहाने उस कड़वे यथार्थ को हमारे सामने ला खड़ा करता है जिससे नजरें मिलाते हुए हम सकुचाते हैं, एक शर्मिंदगी महसूस करते हैं। यह शर्मिंदगी समाज में फैली आर्थिक विषमता को देख कर होती है। ऐश्वर्य और अभाव के बीच जो दूरी है, खाई है, उसे महसूस कर होती है। बारह साल का भोलू जब कूड़े और मुर्दों की दुनिया में अपने लिए दो रोटी जुटाने की चेष्टा में लगा नजर आता है तब उस व्यवस्था के प्रति घृणा ही नहीं उपजती, एक आक्रोश भी मन में उभर आता है जो आदमी को इस तरह गिद्ध चील बना रही है।

वास्तव में यह कहानी आज के यथार्थ के कई आयामों को खोलती है। रामदरश जी मानते हैं कि 'आज के यथार्थ के कई आयाम हैं किन्तु मुख्य आयाम आर्थिक चेतना का ही है। इस आर्थिक चेतना के साथ राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक चेतनाएँ जुड़ी हुई हैं और जुड़कर यथार्थ के एक जटिल और संक्रांत रूप की रचना करती हैं। 'मुर्दा मैदान' में यह जटिलता अपेक्षाकृत अधिक सघन नजर आती है। भोला के बाबू (पिता) का जीवन जो आर्थिक अभाव में कदम कदम पर पिस रहा है, फिर भी जिसकी हार्दिक इच्छा है कि उसका बेटा पढ़-लिख जाये और ईंट-गारा ढोने की मजूरी से बच जाये, निम्नवर्गीय जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। जो इसी बात पर सन्तुष्ट है कि इस महंगाई के जमाने में रोज आधा पेट भोजन मिल जाये, यही बहुत है। फिर भी जो अपने बेटे के भविष्य को अन्धकारमय नहीं होने देना चाहता। वह उसे सरकारी स्कूल में पढ़ाता है और कहता है : "बेटे, जो नरक हमने भोगा है उसे तू भी भोगे, यह नहीं होने दूंगा। मन लगाकर पढ़ और बहुत बड़ा आदमी बन।" जो आदमी अपनी बीमार पत्नी के लिए दवा नहीं ला सकता, जिसके अभाव में वह मर जाती है, उसके मन में भी एक सपना है और यह सपना ही शायद उसके जीने का आधार है। परन्तु जीवन का यथार्थ तो कुछ अलग ही है। भोलू की बहन, जो अब बड़ी हो गई थी और मजूरी करने लगी थी और जिसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवाह के सपने भी पिता देखने लगा था, अचानक एक दिन लापता हो जाती है। कई दिनों की खोजबीन के बाद सड़क के किनारे एक दिन उसकी लाश मिलती है। पुलिस इसे आत्महत्या का मामला मानती है और इसके लिए दोसी पिता ही माना जाता है।

कथाकार पूरी ईमानदारी से आज की व्यवस्था की पोल यहां खोलता है। जो पुलिस लड़की के लापता होने की रिपोर्ट भी नहीं लिखती, वही पिता पर दोषारोपण करती है कि उसके कारण उसकी बेटी ने आत्महत्या की। और अब अपने बचाव के लिए उसे पुलिस को खुश करना होगा। गरीब बाप समझ नहीं पाता कि वह किस जाल में फँस गया है। वह तड़पकर कहता है : "मेरी लड़की की जान लेनेवाले भेड़ियों को पुलिस नहीं पकड़ती, उल्टे मुझी को फांसने की धमकी दे रही है। मेरी बेटी गयी, इज्जत गयी और अब मेरे ऊपर कलंक लगाया जा रहा है कि मेरे जुल्म से तंग आकर बेटी ने अपनी जान दी है। वाह रे इन्साफ।"

यह एक आहत पिता का दर्द है किन्तु इससे पुलिस को कोई मतलब नहीं। क्रुद्ध पुलिस उसे कमरे में बन्द करके पीटती है और उसे तब छोड़ा जाता है जब वह कहीं कुछ न कहने का वचन देता है। पुलिस व्यवस्था का यह भयावह रूप बहुत अपरिचित नहीं है, किन्तु यहां इस घटना के माध्यम से कथाकार उन स्थितियों को उभारता है जहां आदमी बहुत पंगु नजर आता है। जहां संघर्ष और टकराव की मानसिकता समाप्त होती जा रही है। हालांकि लेखक यह भी जानता है कि अभी भी कुछ लोग हैं जो अन्याय और अत्याचार, शोषण और भ्रष्टाचार के खिलाफ संघर्षरत हैं परन्तु उनकी बात सुनने को आज कोई तैयार नहीं है। कथाकार ने इसी कारण नौजवान मलखा को हमारे सामने ला खड़ा किया है। मलखा भी उसी गरीबी और शोषण का शिकार है जिसका भोला का बाबू। किन्तु मलखा के अन्दर विरोध की एक आग भी है। वह चीख चीखकर कहता है : "यह किसी का काम नहीं है, पुलिसवाले ही लड़की को उड़ाकर ले गए थे। उनके कुकरम से जब वह मर गयी तो उसके अंग काट-काटकर सड़क पर फेंक दिया ताकि मालूम हो कि वह बस से कुचल कर मर गयी है।"

लोग मलखा की बात सुनकर डरते हैं, उसे समझाते हैं, फिर धमकाते भी हैं, "अरे देख रे मलखा, इतनी आग मत मूत। कोई जाकर कह देगा या पुलिस अपने आप सुन लेगी तो तेरी खैर नहीं। पुलिस तुझे किसी जुल्म में फाँसकर बरबाद कर देगी।" इस पर मलखा और अधिक उत्तेजित होता है, "यही तो बात है मारो, तुम सभी डरपोक हो और एक दूसरे से कटे हुए हो, इसलिए यह हरामजादी पुलिस जो चाहे सो कर लेती है। बाप से बेटी को छीनकर बाप को मारती है। पैसे वाले गुंडों की गुंडई की सजा हम लोगों को देते हैं और हम अलग-अलग चुपचाप सह लेते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संगठन करके तो देखो, कैसी आग फूटती है तुम लोगों के भीतर। यह आग पुलिस नहीं, पुलिस के बाप को भी न झुलसाकर रख दे तो मेरा नाम मलखा नहीं।"

लोग उसकी बात से डरकर अलग हट जाते हैं। मलखा अकेला रह जाता है। शायद यही उसकी नियति है। परन्तु कथाकार ने संकेत दिया है कि संगठित होकर ही अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष किया जा सकता है। बाद में मलखा भले ही हमें कहीं क्रियाशील नजर नहीं आता, आगे के घटनाचक्र में उसकी सहभागिता भी नहीं है, किन्तु मलखा का एक प्रभाव पाठक के मन पर कहानी के अन्त बना रहता है।

बाद में जो स्थितियां पैदा होती हैं उसमें भोला को पढ़ाई छोड़कर कुछ कमाने को चिन्ता करनी पड़ती है। बीमार पिता अब रोटी भी नहीं जुटा सकता और विवश होकर वह अपने अबोध बच्चे को निर्देश देता है कि वह सामने के मुर्दा मैदान में जाकर लोहे आदि के टुकड़े चुने। महानगरीय जीवन की विवशता यहीं नजर आती है। अगर यह लड़का किसी गांव में होता तो निश्चित रूप से उसका बाप उसे किसी खेत-खलिहान में काम करने के लिए भेजता, किन्तु महानगर में तो कूड़ा ही है, उसी में से जीने के आधार को खोजना होगा। भोला भी इसी काम में लग जाता है।

भोला पहले दिन ही रद्दी चुनने आया है। एक लोहे के टुकड़े को लेकर एक अन्य लड़के से उसकी तकरार भी होती है। दूसरा लड़का सोलह वर्षीय हट्टी है। वह भोला के हाथ से बलात लोहे के टुकड़े को छीन लेता है, जबकि उसे खोजा भोला ने ही था। पास में जो दूसरे लोग थे उनमें से एक उन्हें अलग हटाते हुए कहता है, "अरे नरक के कीड़ो, नरक में भी आकर लड़ते हो ?" इस कठोर यथार्थ को एक संवेदनशील रचनाकार ही समझ सकता है, इससे बदतर नरक और क्या होगा ? एक तरफ हड्डी के एक टुकड़े के लिए लड़ते कुत्ते, दूसरी तरफ फेंके गए घोड़े की लाश के लिए लड़ते कई गिद्ध, तीसरी तरफ मांस के लिए शोर मचाते चील कौवे और उन्हीं के बीच लोहे के एक टुकड़े के लिए लड़ते दो बच्चे ! बड़ा छोटे को दबोच लेता है, कमजोर पिटकर अलग हट जाता है। लोहा छिन जाने के बाद भोला भी मार खाये कुत्ते सा सबसे अलग टूटे-फूटे कूड़े फिर बटोरने लगता है।

किन्तु इन्सान जानवर नहीं है। वह सिर्फ लड़ना-झगड़ना ही नहीं जानता, प्रेम करना, सहानुभूति दिखाना, दर्द बांटना भी जानता है। और मनुष्य के इस रूप को वही व्यक्ति पकड़ सकता है जिसके मन में मनुष्य जीवन के प्रति आस्था हो, मानवीय सम्बन्धों में विश्वास हो। मिश्रजी इसी कोटि के कथाकार सिद्ध होते हैं जब कुछ देर बाद ही हट्टी भोला के साथ स्नेह और अपनत्व से बातें करता हुआ नजर आता है। यही नहीं, हट्टी को अपनी गलती का भी अहसास है। वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूछता है : "तू मुझसे नाराज हो गया है रे ? मैंने तेरा टुकड़ा छीन लिया था न।" और उत्तर मे भोला के ना कहने पर वह क्रुद्ध हो उठता है : "क्यों बे साले, तू नाराज क्यों नहीं है ? मैंने तेरा लोहा छीन लिया और तू नाराज भी नहीं है ? तुझे होना चाहिए।"

यह क्रोध, आक्रोश ही हट्टी के अन्दर छिपी विद्रोह की आग को दर्शाता है। अगर यह आक्रोश न होता तो यह युवामन का अपमान होता, युवावर्ग को कलंकित करता। किन्तु कथाकार मानव-मन की अच्छाइयों-बुराइयों, शक्ति और कमजोरी दोनों को पहचानता है, इस कारण वह सिर्फ मलखा को ही प्रस्तुत नहीं करता, हट्टी के मन के आन्तरिक भावों को भी दर्शाता है, उसके आक्रोश को भी दिखाता है। हालांकि हट्टी इसके बाद जो कुछ कहता है वह एक नारा सा लगता है, किशोर सुलभ वक्तव्य नहीं। हट्टी कहता है : "यही तो ऐब है अपने लोगों में कि हम लोग अपना हक छीनने वालों से नाराज नहीं होते।" हट्टी की यह समझ कुछ अतिरंजित ही लगती है। किन्तु यही हट्टी जब अपना खाना भूखे भोला को खाने के लिए दे देता है तो उसके प्रति एक श्रद्धा की भावना पाठक के मन में भर जाती है। मानवीय संबंधों की परख, मानव मन की अच्छाइयों की परख ऐसी ही स्थितियों में होती है, ऐसी ही स्थितियां जीवन के प्रति आस्था जगाती हैं और इस दृष्टि से यह कहानी निश्चित रूप से बहुत ही प्रभावशाली है।

आगे चलकर कहानी आज के यथार्थ का एक दूसरा आयाम खोलती है और वह है राजनीतिक छद्म ! उस मुर्दा मैदान के पास से बड़े मंत्रीजी गुजरने वाले हैं। इस कारण पुलिस का घेरा चारों तरफ डाल दिया जाता है। सड़क आम लोगों के लिए बन्द कर दी जाती है। ऊपर से हवाई जहाज से कुछ कागज गिराये जाते हैं। भोला के हाथ में भी एक ऐसा कागज है। वह पढ़ता है : "पांच लाख लोगों की सभा को सम्बोधित करते हुए मंत्रीजी ने घोषणा की है कि हमारी सरकार अमीर-गरीब के भेद को मिटाकर रहेगी। अब अमीरों का जोर-जुल्म नहीं चलने पायेगा। गरीबों को अच्छा खाने-पीने, पहनने, अच्छे मकान में रहने का अधिकार होगा। उनके बच्चों को पढ़ने की सुविधाएँ दी जायेंगी। हमारो सरकार ने इस दिशा में काफी सफलता हासिल कर ली है लेकिन विरोधी दल के लोग अपने राजनीतिक स्वार्थ के लिए सरकार की सफलताओं को नजर अन्दाज करते रहते हैं।"

सरकारी दावों को झुठलाते ये मुर्दा मैदान में कूड़ा चुनते बच्चे। एक प्रश्न-चिन्ह की तरह हमारे सामने खड़े हैं। क्या इन्हें भी कभी दो वक्त को रोटी ठीक से मिलेगी ? गंदे फटे पायजामे या मात्र लंगोट, गंदी फटी और किसी की उतारी हुई बेडोल बुश्शर्ट या कुर्त्ते या नंगे शरीर, सिर से पांव तक बहती हुई मैल की लकीरें, पीठ पर झूलते हुए पुराने बोरे, आंखों में जमी हुई सीलन···क्या इन बच्चों का भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई सुखमय भविष्य है ? कई दिनों की सूखी, सड़ी कूड़े की ढेर में पावरोटी के टुकड़ों को खाने के लिए विवश इन बच्चों को कभी दो वक्त की रोटी ठीक से मिलेगी ? प्रश्न कई हैं, पर उत्तर ? कोई क्रांतिकारी लेखक या किसी विशेष राजनीतिक विचारधारा से प्रतिबद्ध लेखक इस स्थिति में कोई नारा देता या सरकार और समाज को बदल डालने की बात करता परन्तु रामदरश मिश्र ऐसा कुछ न करके भोला को यथार्थ की जमीन पर खड़ा रखते हैं और उसकी वास्तविक चिन्ता को उभारते हैं कि उसका बाप बीमार है, और उसके पास जल्दी पहुचना मंत्रीजी के 'दरसन' से ज्यादा जरूरी है । परन्तु सड़क पर तो रोक है । वह सड़क पार करके ही अपने बाबू के पास पहुच सकता है । परन्तु यह हो नहीं पाता । वह सकुचाया-घबड़ाया एक जगह खड़ा है । तभी एक सिपाही की नजर उस पर पड़ती है : "क्यों रे नरक का कीड़ा, तू मंत्रीजी को दर्शन देने आया है ? भाग साले यहां से " वह डपटकर बोलता है, "हट मेरे पास से, बदबू कर रहा है । पता नहीं कितने दिनों से नहाया नहीं है और पता नहीं किस पाखाने में से कपड़ा उठा लाया है। सूअर की तरह इस कूड़ाखाने में लेटकर आ रहा है, जा, घण्टा भर और लेट, जब मंत्रीजी चले जायें, तब सड़क पार करना ।"

क्या खूब ! गरीब आदमी नरक का कीड़ा है व्यवस्था के लिए अभिशाप है। आज हमारी भावनाएँ इस तरह विकसित हो रही हैं । आदमी और आदमी के बीच बढ़ती यह खाई मनुष्यत्व को समाप्त कर रही है । यह कैसी विडम्बना है ? सहानुभूति, करुणा, दया, स्नेह सब कुछ महानगरीय आपाधापी में समाप्त होता चला जा रहा है । कथाकार जैसे इन स्थितियों से बहुत पीड़ित है तभी अमानवीयता को अपनी चरमसीमा तक दिखाने को लालायित है। पुलिस की नजर बचाकर सड़क पार करने की कोशिश में भोला ठीक मंत्रीजी की गाड़ी के नीचे ही आ दबता है और मंत्रीजी की गाड़ी के नीचे ही आ दबता है और मंत्रीजी उसे बचाने की जगह पुलिस पर बिगड़ते हैं कि वह कैसे सड़क पर आ गया । यह अंत कहानी को एक नाटकीय मोड़ देता है किन्तु यह अन्त ही कहानी को कुछ कमजोर भी बनाता है । ठीक है कि इस मंत्रीजी की कठोरता और स्वार्थपरता को दिखाने में कथाकार सफल हुआ है किन्तु किन्तु कहानी के सम्पूर्ण प्रभाव को समाप्त भी किया है ।

इस कहानी को एक चीज और महत्त्वपूर्ण बनाती है, वह है ध्वन्यात्मक प्रयोग । वातावरण को उभारने के लिए, स्थितियों को विश्वसनीय बनाने के लिए ध्वनि का काव्यात्मक प्रयोग किया है जो दर्शनीय है । कहानी की शुरूआत ही होती है ध्वनि प्रभावों से, भों-भों-भों, घुर···घुर···घुर, कांव···कांव···कांव···, फड़···फड़···फड़···टेंअ । मुर्दा मैदान की भयानकता को दिखाने के लिए कथाकार ने जगह-जगह ध्वनि प्रयोग किए हैं । निम्न वर्णन उल्लेखनीय है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"भों-भों, किऊं-किऊं···हड्डी के एक टुकड़े के लिए एक कुत्ता दूसरे कमजोर कुत्ते पर चढ़ बैठा।

घुर-घुर-घुर···चोंय···चोंय···गंदगी के लिए कई सूअर आपस में लड़ने लगे।

फड़ड़-फड़ड़-फड़ड़···घोड़े की लाश के लिए गिद्ध लड़ रहे हैं। टें अं अं··· चीलें जूझती हुई झपाटे मार रही हैं।"

इस तरह के प्रयोग कहानी में सर्वत्र हुए हैं जिनसे कहानी में शिल्पगत नवीनता भी आयी है। साथ ही ऐसे वर्णन वातावरण को यथार्थपरक भी बनाते हैं।

'मुर्दा मैदान' अभावग्रस्त लोगों की पीड़ा को अभिव्यक्ति देने वाली एक सशक्त कहानी है और इसकी जो वेदना है, जो पीड़ा है वह हमारे अन्तर्मन को छूती है, तो शायद इस कारण कि उसमें बनावटीपन नहीं है। और इसका एक कारण शायद यह भी है कि कथाकार को सही पीड़ा की पहचान है, क्योंकि देहात के एक अभावग्रस्त परिवार में पैदा होने के कारण मिश्रजी में अपने सामने एक विशाल जन-समाज को अभिशप्त, अभाग्रस्त और अवमाननापूर्ण जीवन जीते हुए देखा है, इस कारण अभिशप्तों और अभावग्रस्तों के प्रति उनके मन में एक पीड़ाबोध बराबर बना रहा है, जिसका प्रमाण है उनकी कहानी 'मुर्दा मैदान' जो हिन्दी कीं कुछ बेहतरीन कहानियों में से एक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभाव की आग : सर्पदंश[1]

डॉ० गुरचरण सिंह

जमीन पर रेंगते सांप के विष को तो दवा या मंत्र से दूर किया जा सकता है, पर समाज में इधर-उधर स्वच्छन्द घूमते आदमीनुमा सांपों का इलाज अकेले आदमी के पास नहीं है। ऐसे सांपों को कुचलने, उनसे छुटकारा पाने तथा उनके विष को दूर करने के लिए शक्ति संचय के साथ संगठित होने की आवश्यकता है। लेकिन इसके लिए संघर्ष की आवश्यकता को अनुभव करता है पर स्वार्थवश लोग संगठित नहीं हो पाते और इन सांपों के अत्याचारों को चुपचाप सहते रहते हैं। स्थिति से उबरने के लिए चिंतन या सोच में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। परम्परागत ढंग से सोचकर, भाग्य के भरोसे रहकर या स्थिति को कर्मों का फल मान कर लड़ा नहीं जा सकता। इसे ईश्वर की देन कह कर भी आज टाला नहीं जा सकता क्योंकि विभिन्न देशों का इतिहास, वहाँ के लोगों में आयी जागृति तथा जीवन में आया परिवर्तन इस बात का साक्षी है कि वहाँ के लोगों ने संगठित होकर नारकीय जीवन से मुक्ति पाई है। संघर्ष ने उनके जीवन को नयी दिशा दी है। आवश्यकता है संघर्ष, विद्रोह और क्रांति की। लेखक को ऐसे व्यक्ति की तलाश है जो अत्याचारों के विरुद्ध लोगों का नेतृत्व कर सके। ऐसा व्यक्ति दलित वर्ग में से ही उभर कर सामने आयेगा जो अपने समाज को दिशा निर्देश देगा, अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठायेगा, आवश्यकता पड़ने पर अपना बलिदान देगा। इन सभी गुणों का समावेश 'सर्पदंश' कहानी के नायक गोकुल में है। नेता का बलिदान ही संगठन में सहायक हो सकता है। उसी से जन-चेतना पैदा की जा सकती है।

कहानीकार इस कहानी में ऐसे लोगों की आवश्यकता अनुभव करता है जो शोषितों की इस समस्या को एक आन्दोलन का रूप दे सकें और उन्हें जमींदारों, प्रधानों तथा समर्थ लोगों के अत्याचारों से बचा सके। क्योंकि समर्थ व्यक्ति के सामने अब भी पूरा गाँव काँपता है। समर्थ लोग आज भी लाठी और बन्दूक के

---

१. रामदरश मिश्र : सर्पदंश, कहानी संग्रह में संग्रहीत कहानी, सर्पदंश, पृ० २२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बल पर सामान्य जन को अपना दास समझते हैं। गोकुल तथा उसकी जाति के अन्य लोगों की भी यही स्थिति है। दिन हो या रात उन्हें कभी भी बुलाया, डराया धमकाया जा सकता है। 'सर्पदंश' कहानी समाज की इसी दयनीय स्थिति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं।

गोकुल निर्धन है, निम्नजाति का है, शोषित और असहाय है। उसकी कमर में एक गंदी-फटी धोती लिपटी है। यही 'सर्पदंश' कहानी का नायक है। कहानी की सभी घटनाएँ उसके साथ जुड़ी हुई हैं। वह अपने ही खेत में बालियाँ तोड़ने जाता है यह जानते हुए कि उस खेत को वह अब अपना नहीं कह सकता। उस खेत की लहलहाती खेती पर तो अब प्रधान का अधिकार है। प्रधान ने उसके बदले में उसे बंजर भूमि का एक टुकड़ा थमा दिया है। इस अत्याचार अन्याय के विरुद्ध वह एक शब्द भी नहीं बोल पाया था, बल्कि सिर्फ भीतर ही भीतर तिलमिला कर रह गया था। पर हृदय में इस जहर और तिलमिलाहट को कब तक रोक कर रखा जा सकता है, तभी तक जब तक व्यक्ति के मन में भय है। इस भय के आवरण को उतारते ही व्यक्ति मरने-मारने के लिए तैयार हो सकता है।

गोकुल या उसकी जाति के लोग अभी तक इस साहस को अपने अन्दर पैदा नहीं कर पाये। वे डरे और सहमे हुए हैं। अपने ही खेत से बालियाँ तोड़ने की हिम्मत यदि गोकुल ने की है तो इसलिए नहीं कि उसके मन में भय नहीं रहा है बल्कि इसलिए कि वह अपनी बीवी और बच्चों को भूखा नहीं देख पा रहा था—"मेरे सामने ही मेरा पूरा घर उपास करे और मैं मर्द और बाप बना रहने का दावा करूं, लानत है मुझ पर।" बालियाँ तोड़ने का साहस जुटाने से पूर्व गोकुल के मन में तर्क-वितर्क चलता है—"वह प्रधान का खेत कैसे हो गया ? लाठी के जोर से चाहे जो कह लो भाई, नहीं तो वह खेत तो मेरा है।" मेरा का भाव आते ही वह खेत की ओर चल पड़ता है। पर गोकुल के भाग्य में बालियाँ नहीं थीं। उसके बच्चों के भाग्य में मकई के दाने नहीं थे। गोकुल को सांप काट लेता है। लगता है जैसे प्रकृति भी समर्थ लोगों का ही साथ दे रही है।

गोकुल को सांप काटे का दुख नहीं है। सर्पदंश तो वरदान स्वरूप है। मौत उसे नारकीय जीवन से छुटकारा दिला सकती है। वह कहता है—'चलो, इस नारकीय जीवन का अन्त हुआ।' वह उपचार के लिए भाग कर गाँव की तरफ नहीं आता बल्कि मौत के इन्तजार में वहीं मेंड़ पर लेट जाता है।

गाँव में दवा-दारू का प्रसंग भी कहां था ? मीलों तक न डाक्टर न हस्पताल। दवा-दारू के अभाव में न जाने कितने लोग मर जाते हैं। और झाड़-फूंक वालों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। जहाँ आस्था और विश्वास ही उनका सहारा बनता है। सर्पदंश का उपचार भी भवानी बाबा अपने मंत्रों से करते हैं। कहानी का प्रारम्भ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक ने इसी घटना से कियाहै—'भवानी बाबा मंत्र के साथ सरसों की मूंठ मारते थे और गोकुल गिनगिना उठता था। उसके मुंह से झाग निकल रही थी।' भवानी बाबा के मंत्रों पर गोकुल पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा था बल्कि उसकी स्थिति धीरे-धीरे शोचनीय होती जा रही थी।

एक ओर गोकुल मौत से लड़ रहा था तो दूसरी ओर उसकी यह लड़ाई लोगों के मनोरंजन का साधन बन गयी थी। निर्धन वर्ग के प्रति उच्च वर्ग के लोगों में जरा भी दया-ममता नहीं होती। गोकुल को छटपटाते देखकर लोग टीका-टिप्पणी कर रहे थे—'लेकिन यह गोकुला इतनी रात गये खेत की मेंड़ पर क्या करने गया था। जरूर खेत में 'चोरी करने गया होगा। भवानी बाबा कहते हैं "भगवान से प्रार्थना करो कि यह आदमी जी जाये।" इस पर लोग प्रतिक्रिया करते हुए कहते हैं—"हुंह··· भगवान से प्रार्थना करो। बड़ी कीमती जान है चोट्टे की।" यह जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति है। मानवीयता नहीं रही है। लोग स्वार्थी तथा स्वकेन्द्रित हो गए हैं। किसी के दुख-दर्द से किसी को कोई सरोकार नहीं है।

सांप का विष नहीं उतर रहा था। भवानी बाबा भी निराश हो गये थे। गोकुल के परिवार के अतिरिक्त किसी को उसकी चिन्ता नहीं थी। तभी गोकुल का सात वर्षीय बेटा चिल्लाता हुआ आया और उससे लिपट कर चिल्लाने लगे—"बपई, तुम्हें क्या हो गया है ? बोलते क्यों नहीं ?" बच्चे की करुण पुकार ने पिता के हृदय को झकझोर दिया। गोकुल के हृदय में अपने परिवार और बच्चों के प्रति कर्त्तव्य भावना का उदय हुआ। "उसमें एक अलग तरह की बेचैनी दिखाई पड़ने लगी जैसे भीतर-भीतर अपने से लड़ रहा हो।" गोकुल में जीवनेच्छा पैदा हुई। वह सर्प के विष से लड़ने लगा। तभी भवानी बाबा ने अनुभव किया कि उसका मंत्र काम करने लगा है। स्वस्थ होने में व्यक्ति की इच्छा शक्ति का महत्त्वपूर्ण है। रोगी जब स्वस्थ होना ही नहीं चाहता तो कोई दवा उस पर असर नहीं कर सकती। गोकुल स्वयं स्वीकारता है—"मैंने साँप काटने की बेहोशी में बचवा को लिपट कर रोते हुए देखा तो मेरे भीतर जीने की इच्छा जाग पड़ी और मैं सांप के जहर से लड़ने लगा।" उसने निश्चय किया—"जिस खेत को मैंने पसीने से सींचा है, उसकी फसल काटूंगा। वह फसल मेरी है। मैं दूसरे गांवों के अपने भाइयों को जमा करूंगा मैं अकेला नहीं हूं।" लड़ने और संघर्ष करने के लिए संगठन की आवश्यकता है इसे गोकुल अनुभव करता है। वह अपनी रगों में एक नये साहस का संचार अनुभव करता है।

सोचने, योजना बनाने और उसे क्रियान्वित करने में अन्तर होता है। गोकुल ने अभी सिर्फ सोचा था। योजना बनाने और उस पर गम्भीरता से विचार करने के लिए उसे समय चाहिए था। उसके लिए उसे दूसरे गांवों के लोगों से भी विचार-विमर्श करना था। यह समय गोकुल को नहीं मिल सका। प्रधान के आदमी उसे बुलाने के लिए आ गये थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोकुल के सामने स्थिति स्पष्ट थी। वह भय से कांप गया। परिणाम उसकी आँखों के आगे नाचने लगा। इस स्थिति का सामना तो उसे एक दिन करना ही था। पर वह इतनी जल्दी आ जायेगा इसका उसे अनुमान नहीं था। वह आज अकेला है। यही स्थिति कुछ दिनों के बाद यदि उसके सामने आती तो उसके साथ कई लोग होते। उसकी आवाज में दम होता। वह प्रधान को चुनौती देता। पर आज वह असहाय है। फिर भी उसने हिम्मत नहीं हारी—'डर कर ज़िंदगी नहीं जी जा सकतीं।' वह प्रधान से वारा-न्यारा कर लेना चाहता था। लेकिन यही भाव प्रत्येक शोषित-दलित के मन में पैदा कर देना चाहता है। उनकी जिंदगी को नयी राह यही भाव दिखा सकता है।

प्रधान ने तल्खी भरे स्वर में उससे पूछा—"क्यों रे गोकुल, तू रात को मेरे खेत में चोरी करने गया था।"

प्रधान के सामने कुछ भी कहना व्यर्थ था। गोकुल इस बात को जानता था। उसने साहस जुटाते हुए कहा—"नहीं मैं चोरी करने नहीं गया था। बालियाँ तोड़ीं थीं लेकिन चोरी नहीं की थी। गोकुल को समझ नहीं आ रहा था कि अपने ही खेत से बालियां तोड़ना भला चोरी कैसे हो सकती है। वह तो अपने खेत से पूरी फसल काटने का निर्णय ले चुका था। शोषक और शोषित के बीच टकराव की स्थिति उत्पन्न होती है। प्रधान के थप्पड़ मारने पर गोकुल उसका हाथ झटक देता है। प्रधान के लिए यह अप्रत्याशित घटना थी। ऐसा तो उसके साथ कभी नहीं हुआ था। उसके आदमी उस पर टूट पड़े।

वही गोकुल जो सर्पदंश से बच गया प्रधान रूपी सांप के जहर का शिकार हो गया। गोकुल की पत्नी उसके ठंडे शरीर से लिपट रोने लगी। गोकुल की मृत्यु से उसका परिवार प्रभावित है। शेष गाँव पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जबकि इस प्रकार की घटना से गाँव में तहलका मच जाना चाहिए था। लेखक इस बात को भी जानता है कि रोना-चिल्लाना समस्या का समाधान नहीं है। गोकुल का लड़का दूसरे गाँव की तरफ भागता है जिससे वह जन-शक्ति संचय कर सके और बाप की हत्या का बदला ले सके। लेखक की दृष्टि में इस समस्या का यही समाधान है।

'सर्पदंश' संग्रह की सबसे छोटी परन्तु सशक्त कहानी है। कहानी का प्रारम्भ भवानी बाबा के द्वारा किए जा रहे उपचार से प्रारम्भ होता है। फिर धीरे-धीरे स्थितियाँ स्पष्ट होती हैं। गोकुल की निर्धनता, प्रधान के अत्याचार तथा शोषित वर्ग की असहायता तथा विवशता स्पष्ट होती जाती है। लेखक कम से कम शब्दों में बहुत कुछ कह देना चाहता है। "कमर में एक गंदी फटी धोती लिपटी थी।" केवल यह एक वाक्य ही गोकुल की निर्धनता और विवशता की कहानी कह देता है। "चलो, इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन का अन्त हुआ ।" यह छोटा-सा वाक्य स्पष्ट कर देता है कि गोकुल किस प्रकार का जीवन जी रहा था। व्यक्ति में जीने की इच्छा सबसे बलवती होती है। वह कठिन से कठिन स्थिति में भी जीना चाहता है। पर गोकुल की जीवनेच्छा समाप्त हो चुकी है। जीवन का अन्त ही उसे जीवन के असहनीय कष्टों से छुटकारा दिलवा सकता है। सात वर्षीय बच्चा जब गोकुल से लिपट कर रोता है तो उसका एक सम्वाद गोकुल में कर्तव्य भावना और जीवनेच्छा को उत्पन्न कर देता है। जीवन से निराश गोकुल कर्तव्य पालन तथा अधिकार प्राप्ति के लिए जीना चाहने लगता है।

कहानी में घटनाएँ धीरे-धीरे उभरती हैं और अपना अमिट प्रभाव पाठक पर छोड़ती जाती हैं। पाठक की पूरी सहानुभूति गोकुल के साथ है। यही लेखक की सबसे बड़ी सफलता है। पाठक गोकुल के लिए न्याय चाहता है। प्रधान के लिए घृणा का भाव पाठकों के मन में पैदा होता है। ऐसी प्रभावशाली कहानियाँ ही समाज में परिवर्तन ला सकती है तथा नये मूल्यों की स्थापना में सहायक हो सकती हैं। ऐसी संक्षिप्त तथा प्रभावशाली कहानियों की रचना तभी सम्भव है जब ऐसा जींवन लेखक ने खुद जिया हो या उसे बड़ी निकटता तथा आत्मीय भाव के साथ ग्रहण किया हो। रामदरश मिश्र का सम्पूर्ण साहित्य ग्रामीण जीवन को तथा वहाँ की समस्याओं को हीं अभिव्यक्त करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निबन्ध एवं आत्मकथा
संघर्षशीलता और रचनात्मकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डार से बिछुड़ने का दर्द : कितने बजे हैं[1]

विष्णु प्रभाकर

कवि-कथाकार रामदरश मिश्र के ललित निवन्धों का यह संग्रह लेखक के एक नये रूप को उजागर करता है। वह स्वयं स्वीकार करते हैं कि "निबन्ध की विधा मेरे लिए अमुख्य भले ही रही है किन्तु कम महत्व की नहीं रही।" उनको लिखकर उन्होंने वड़ी गहरी तृप्ति का अनुभव किया है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि "जीवन के प्रति आस्था खंडित करने वाले साहित्य में मेरी आस्था जम नहीं पाती और अपने लेखन में मैं जीवन-आस्था को जिलाये रखने की कोशिश करता हूं।"

आज के अनास्था और बखिया उधेड़ने वाले युग में अन्ततः तृप्ति और आस्था का यही स्वर नानारूपों में इन निबन्धों में मुखर हुआ है। अपने पहले ही निबन्ध 'जहां मैं खड़ा हूं' में उन्होंने अपने बचपन के नितांत अभावग्रस्त पर सघन जीवन के चित्र उकेरे हैं, तो मस्ती का जीवन जीने का रहस्य भी बताया है। इसके लिये वे अपने माता-पिता और बड़े भाई के ऋणी हैं। यह निबन्ध उनके अपने अतीत का दस्तावेज ही नहीं है बल्कि तत्कालीन जीवन और संस्कृति का प्रतिबिंब भी है, "अभाव के कीड़े-मकोड़ों के दंश से तड़पते कछार जीवन में कहीं बहुत बड़ी जीवनी शक्ति थी, रस का कोई अक्षय स्रोत था, जिससे वह जीवन टूट कर भी नहीं टूटता था, रिस कर भी नहीं रीतता था···बाढ़ हटते ही भूमि नहा-धो कर उभर आती थी और नये बीज डालने का उत्साह चारों ओर छा जाता था। मिट्टी अपने भीतर की सोंधी महंक लुटाने लगती थी। जल निथरने लगते थे, घाट चालू हो जाते थे। फिर दशहरा, दीवाली, कार्तिक पूर्णिमा के त्यौहार तरह तरह की छवि लिये आते थे, जीवन विहंस पड़ता था, अपने अभावां में गाने लगता था।"

यह लंबा उद्धरण उनकी आस्था के स्रोत का साक्षी है। अधिकांश निबन्धों में इसी अभाव की व्यथा-कथा मुखर हुई है। इसी की खोज में वे भटकते हैं, "जब जब कभी गांव जाता हूं तो प्रकृति तो उसी पुरानी सहचरी की तरह लगती है, अक्षय-

१. रामदरश मिश्र, कितने बजे हैं निबन्ध संग्रह, प्रभात प्रकाशन दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गंधा, अक्षय रूपवती, अक्षय रसमयी लेकिन गांव के लोग वैसे नहीं लगते। उनके संबंध, उनके मूल्य, टूट गये हैं। फक्कड़पन बनियागीरी में बदल गया है। त्यौहारों पर्वों का उल्लास पैसे और राजनीति की हलचल में खो गया है। अब उसमें जीवन देने की ताकत नहीं रह गयी है।" 'होरी के हीरो' में लेखक पीढ़ियों की इसी बदलती मानसिकता का चित्रण करता है। 'कितने बजे हैं' में अंग्रेजियत के गुलामों पर कटाक्ष है, तो 'शोर मत करो आदमी सो रहे हैं' में लेन-देन की महाजनी संस्कृति पर चोट है, "कितनी अजीब है लेन-देन की महाजनी संस्कृति, ऊपर से चिकना रामनामी दुपट्टा और भीतर से सड़ती हुई मनोवृत्तियों की गठरी।" 'फागुन' के माध्यम से फिर गांव और शहर की मानसिकता को उभारता है। 'गांव की गंध में रमा फागुन शहर में एक अजनबी की तरह पास से गुजर जाता है' और 'कितने बजे हैं' में लेखक ने जिस दर्द को उकेरा है वही दर्द मूर्त हुआ है 'तुम्हारी मां कहां है' और 'नगर जहां सपने टूटते हैं' में।

'नगर जहां सपने टूटते हैं' और 'महानगर की छाया में' जैसे निबन्धों की मूल संवेदना भी यही है, "शहरी वातावरण का एक विकृत प्रभाव हमारे गंवई सम्बन्धों और मूल्यों की मान्यताओं को आहत कर रहा है।" लेकिन उनका चिंतन नितांत हो, ऐसा भी नहीं है। उन्हें खुशी है कि नगरों में श्रमिकों में संघचेतना का विकास हो रहा है जो गांवों के खेतिहर मजदूरों में भी पहुंच गया है। हो सकता है यह चेतना एक नये सम्बन्ध-बोध को जन्म दे। आशा का एक स्वर रोमांटिक निबंध 'बड़ौदे की एक शाम' में भी मुखरित हुआ है।

सारी कुरूपता के बावजूद आस्था और मूल्यों का स्वर हर कहीं सुनाई देता है। कुछ निबन्धों की संवेदना सीधे मूल्यों से नहीं जुड़ी है पर उनका सर्वथा अभाव हो, ऐसा भी नहीं है। 'पानी के प्राचीर' में महानगर में आयी आकस्मिक बाढ़ का मुंहबोला चित्रण हुआ है। उसे लेखक ने स्वयं झेला है।

'एक यात्रा प्रकृति के बीच प्रकृति के साथ' में भी लेखक की संवेदना विराट रहस्य के मोहक मायावी बिंबों से गुजरती हुई समीप यथार्थ के प्रत्यक्ष और गहरे बिंबों के सौंदर्य से संपन्न हो उठती है पर यहां भी मूल्य दृष्टि का अभाव नहीं है: "एक ओर पहाड़ों पर तैरते हुए बादल या उठता हुआ कुहरा दिखाई पड़ रहा था, दूसरी ओर ऊंचाई पर एक चिमनी खड़ी थी जो लगातार धुआं फेंक रही थी और धुआं बादलों से टकरा रहा था। प्रकृति और मशीन की संगति या विसंगति का अद्भुत दृश्य था, जैसे छायावाद और प्रगतिवाद पास पास खड़े होकर एक दूसरे से संवाद या प्रतिवाद कर रहे हों।"

इस संग्रह में भीड़ से अलग एक व्यक्ति चित्र भी है, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी का, 'सर्जना ही बड़ा सत्य है।' द्विवेदी जी लेखक के गुरु रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन निबन्धों को पढ़ते हुए बराबर लगता रहा कि लेखक का बुद्धिमान मन और भावुक मन दोनों एक रूप हो उठते हैं इसलिए इनमें जहां एक ओर गांव की माटी की सोंधी सोंधी गंध है वही उनका बुद्धिमान आलोचक सजग है। लेकिन अच्छा यही है कि आलोचक कलाकार पर पूरी तरह हावी नहीं हो गया है। इन निबन्धों का क्षेत्र बहुत व्यापक नहीं है, पर सघन अवश्य है इसलिए इनकी अनुभूति चिंतन के को गति देती है और चूंकि वे अनुभूति के माध्यम से संवेदन का विस्तार करते हैं इसीलिये इनकी भाषा में अंतरंगता की उजास है।

उन्हें अपने राष्ट्रीय और सांस्कृतिक गौरव पर गर्व करते हीनता का अनुभव नहीं होता। व्यक्तिगत होकर भी किसी 'मैं' को लेकर प्रश्न नहीं उठाये हैं उन्होंने, बल्कि मनुष्य को ही केन्द्र में रखा है। लेकिन प्रश्न यह है कि परिवर्तन की यह प्रक्रिया क्या रुकने वाली है। सारा विश्व मूल्यों के संकट में से गुजर रहा है। आकाश में जितनी ऊंची उड़ान हम भर रहे हैं, उतने ही विलग हो रहे हैं हम अपनी धरती से। मनुष्य का मन विज्ञान की प्रगति की दौड़ में पिछड़ गया है। तभी संकट है।

इस संकट से केवल आस्था के माध्यम से ही जूझा जा सकता है। पुराना लौट कर नहीं आ सकता, जो नया है उसी को स्वीकार करके रूप देना होगा। इस आशा का संकेत इन निबन्धों में भी गर्भित है लेकिन एक बात निश्चय के साथ कही जा सकती है कि डार से बिछुड़ कर कोई जीवित नहीं रह सकता।

————

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचनात्मकता के अन्तःस्रोतों का उद्घाटन[1]

डॉ० मधुरेश

एक अच्छी आत्मकथा अपनी खोज से शुरू होकर भी इस निजता का अतिक्रमण करके ही बड़ी और सार्थक बनती है। व्यक्ति का जीवन छोटा या बड़ा नहीं होता लेकिन जिन तन्तुओं से वह बनता है वे उसकी अर्थवत्ता का निर्धारण अवश्य करते हैं। इसीलिए किसी सार्थक और महान लक्ष्य के प्रति समर्पित जीवन आमतौर पर बड़ा जीवन माना जाता है क्योंकि हमारी, हमारे देश की, यह मान्यता रही है कि अपने लिए तो कुत्ता-बिल्ली भी जी लेते हैं। इसीलिए पहले यह माना ज़ाता था कि आत्मकथा लिखने का अधिकार ऐसे ही व्यक्ति का होता है ज़िसने अपने जीवन को किसी बड़े लक्ष्य की पूर्ति में लगा दिया हो। या फिर रूसो या तोलस्तोय की तरह वे लोग आत्मकथा के अधिकारी माने जाते थे जिनमें, ईसाई धर्म के विश्वासानुसार यह भाव जागता था कि अब तक जो जीवन उन्होंने जिया वह किसी अर्थ में गर्हित जीवन था और इस आत्मान्वेषण एवं आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया में उस आत्मकथा का स्वरूप बहुत कुछ कन्फैशन जैसा होता है जो अपनी गल्तियों, और भूलों और सहज मानवीय अपराधों तक को स्वीकार करने का साहस पैदा करता है। महात्मा गांधी की आत्मकथा 'मेरे सत्य के प्रयोग' इस साहस का अच्छा उदाहरण मानी जा सकती है। इसी रूप में वह समादृत भी हुई है।

आत्मकथा में से आत्मपरकता और आत्म मुग्धता का तत्व छान-फटक कर बाहर कर देना एक ऐसी विशेषता है जो निजता के अतिक्रमण को सम्भव बनाती है। लेकिन यह तभी सम्भव हो पाता है जब उस आत्मकथा का उद्देश्य किसी से अपना हिसाब चुकता करना न होकर अत्यन्त वस्तुपरक ढंग से अपने युग एवं परिवेश के बीच अपनी स्थिति का अन्वेषण करना होता है। अपने को सुरक्षित सीमा में रखकर दूसरों पर साहसिक रूप में की गई टिप्पणियाँ किसी आत्मकथा को थोड़े समय के लिए चर्चित और विवादास्पद बना सकती हैं; लेकिन अन्ततः इस सम्मोहन

---

१. रामदरश मिश्र : 'जहां मैं खड़ा हूं' तथा 'रोशनी की पगडंडियां,' किताब घर, नई दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के टूटने पर वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती हैं। फिर वह साहसिकता अपने ही शरीर पर फुलबहरी के निशानों की तरह चमकती है। किसी सामान्य आदमी के छोटे-छोटे संघर्ष और उनसे प्राप्त ऊर्जा कैसे निजता का अतिक्रमण करके समूचे युग की संवेदना के वाहक बन सकते हैं इसकी कदाचित सबसे अच्छी मिसाल गोर्की की आत्मकथा है।

हिन्दी लेखकों में इधर आत्मकथा लिखने का रिवाज बढ़ा है। चाहे हंसराज रहबर की आत्मकथा हो या रामदरश मिश्र की उनमें एक सामान्य विशेषता यह अवश्य पाई जाती है कि ये लेखक अपने परिवेश के बीच आत्मान्वेषण की प्रक्रिया में प्रवृत्त होते हैं। हंसराज रहबर अपने युग की सामाजिक-राजनीतिक हलचलों के बीच अपनी जीवन-यात्रा के विभिन्न पड़ावों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हैं रामदरश मिश्र इस सामाजिक-राजनीतिक सक्रियता और गहरी हिस्सेदारी के अभाव में, अपने परिवेश और उससे निर्मित रचनात्मक संस्कार के निर्माण की कहानी कहते हैं। कोई सर्जनात्मक रचनाकार जब आत्मकथा की ओर प्रवृत्त होता है तो उससे उसकी रचनाओं की समूची पृष्ठभूमि, उनके अन्तः स्रोत, बड़े सहज रूप में उद्घाटित होते चलते हैं और उसकी आत्मकथा उस नेपथ्य के बीचों-बीच खड़ा कर देती है रचना के नाटक में में जिसे अत्यन्त बने-संवरे रूप में देखने की सुविधा ही अभी तक सुलभ रही है।

अपनी आत्मकथा के पहले खण्ड 'जहां मैं खड़ा हूं' में बड़े कवि-सुलभ ढंग से रामदरश मिश्र अपने परिवेश के बीच अपनी स्थिति का संकेत करते हैं। एक आत्मकथा के लेखक के रूप में यह एहसास उन्हें पूरी तरह से है कि एक सामान्य लेखक के जीवन में ऐसा क्या हो सकता है जो आत्मकथा लिखने ओर प्रेरित करे। रामदरश मिश्र की यह कठिनाई तब और भी अच्छी तरह समझी जा सकती है जब लोगों को यह मालूम हो कि उनका जीवन न तो पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की तरह विन्ध्याचल की पहाड़ियों और जंगल के दुर्गम पथ को चीरकर रचना की राह पर बढ़ा था और न ही वह राहुल सांकृत्यायन की तरह अपनी अनुभव सम्पन्नता में वैसा उत्कट और बहुरंगी है। रहबर की तरह अपने राजनीतिक वैचारिक परिदृश्य में अपनी प्रतिक्रिया और राजनीतिक अनुभवों की लम्बी यात्रा का सम्बल भी रामदरश मिश्र को सुलभ नहीं है। अपनी संक्षिप्त भूमिका में अपनी इस कठिनाई और उससे निबटने का संकेत रामदरश मिश्र ने किया है: 'जहां मैं खड़ा हूं' यूं तो मेरी जीवन-यात्रा का वृतान्त है किन्तु वास्तव में यह उस परिवेश का वृतान्त है जहां मेरे जीवन और साहित्य की चेतना, अनुभव और मूल्य-बोध निर्मित हुए हैं। मैं एक सामान्य व्यक्ति हूं। मेरे जीवन में ऐसा कुछ नहीं है जो पाठकों को महान्, असामान्य और मूल्यवान् लगे इसलिए मात्र अपनी कहानी कहना दंभ ही होता लेकिन मैंने जिस परिवेश की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहानी कही और परिवेश के साथ व्यक्ति के जिन सम्बन्धों की कथा कही है वे निश्चय ही मूल्यवान हैं और सामान्य व्यक्ति के भी दुख-दर्द अपनी जगह कम सार्थक नहीं होते हैं। हो सकता है मेरे दुःख-दर्द से जुड़ते प्रतीत हों : ('जहां मैं खड़ा हूं' भूमिका, पृ० ६) इस तरह लेखक अपनी निजता का आत्म-विस्तार करता है और उस समूचे परिवेश, प्रकृति और मनुष्य के बीच अपनी स्थिति और संघर्ष को अंकित करता चलता है।

अपने बचपन की स्मृतियों द्वारा रामदरश मिश्र भारतीय ग्राम-जीवन को उसकी द्वन्द्वात्मकता में देखते हैं और उसके आकर्षक एवं विकर्षक दोनों पक्षों को सामने रखते हैं। एक ओर गांव में प्राकृतिक ऐश्वर्य, ऋतु-परिवर्तन का सम्मोहन और छोटे-बड़े पर्वों-त्योहारों को लेकर लोगों का उद्दाम उत्साह और उत्सवधर्मिता थी दूसरी ओर प्लेग और बाढ़, अशिक्षा एवं सामाजिक रूढ़ियों का एक ऐसा अबाध सिलसिला भी था जो ग्राम जीवन की निद्वन्द्वता और शांति पर काली छाया बनकर पसरा हुआ था। बाद में, आंचलिक कथा-साहित्य में, तीज-त्योहारों को भारतीय ग्राम जीवन से जोड़कर उनके उदात्त एवं उत्सवधर्मी रूप को जो इतना महत्त्व दिया गया उसके संकेत यहां प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं, 'नागपंचमी का त्यौहार उसी उत्साह से मनाया जाता था, खेत तो डूबे होते थे, किसी बड़े दरवाजे पर ही खेल जम जाता था। गुड़िया पीटने के लिए लड़कों को डंडे चाहिए। लड़के या उनके बड़े आधे मील दूर स्थित डीह पर जाकर डंडे काटते थे। मेंहदी भी चाहिए, लोग मालियों के गांव से जाते थे। लड़कियां अपने पुराने कपड़े ही धो-धोकर धानी रंग में रंग लेती थीं और अकुंठ स्वर से कजली गाती हुई खेत की भूमि तक आती थीं, गुड़ियां पानी में फेंकती थीं और सब कुछ नियमित चलता था। तीज-जियुतिया, पिड़िया आदि त्योहार औरतों के भीतर एक शक्ति भर देते थे...' (वही, पृ० १२) इसी तरह बाढ़ के बाद निकली हुई धरती और प्रकृति की हरीतिमा को लेकर उद्दाम आकर्षण को लेखक बड़े काव्यात्मक ढंग से व्यक्त करता है। सारी विनाशलीला और अभावों के बीच, नई बुआई के उत्साह में जैसे एक नया जीवन ही अंकुआता दिखाई देता : '"छोटी सी लौ की तरह नये अंकुर चारों ओर जल उठते थे, भविष्य का एक सपना आंखों में पलने लगता था। धीरे-धीरे हरियाली की बाढ़ सी आती थी, फिर फूलों का समुद्र लहराने लगता था। सरसों-तीसी, मटर के पीले, नीले, लाल फूल और फूल ही फूल..." (वही) आगे चलकर लेखक, भारतीय ग्राम जीवन में, मनुष्य और प्रकृति के बीच इस रागात्मक सम्बन्ध के ह्रास पर दुखी भी होता है जिसके अनिवार्य परिणाम के तौर पर जीवन की सारी शक्ति और उल्लास नष्ट हो गया है, त्यौहारों-पर्वों की जीवनदायक उत्सवधर्मिता संकीर्ण राजनीतिक हलचल में बदल गयी है।

रामदरश मिश्र ग्राम जीवन की इस विडम्बना को लेकर दुखी होते हैं और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बेहद भावातिरेकपूर्ण ढंग से अपनी इस पीड़ा को व्यक्त करते हैं। बचपन छोटी लेकिन सघन दुनिया में जीवन की समग्रता का जो बोध था, वह बाद के खण्डित और टुकड़ों में बंटे जीवन की कभी प्राप्त नहीं हो सका। वस्तुतः जीवन को इस समग्रता और उसके प्रति विकसित हूए राग-बोध के कारण बचपन में ही कविता के अंकुर उनके मन पर अंकुआये थे और यह पीड़ा, एक लेखक की हैसियत से, उनमें एक ऐसी नास्टेलजिया को स्थायी बना देती है जो पुरबाई में पुरानी चोट की टीस की तरह कभी भी उनमें एक सिहरन पैदा करती देखी जा सकती है। बचपन की स्मृतियों में एक ओर लेखक के मन पर यदि पर्वों और प्रकृति से मिली शक्ति की छाप सुरक्षित है, चैत की चांदनी रातें, नवरात्र में देवताओं की सवारियां और तर-कुलहा का मेला, अपने पूरे उल्लास, संगीत और सम्मोहन के साथ तो दूसरी ओर शिक्षा व्यवस्था पर एक लम्बी आक्रोशपूर्ण टिप्पणी के रूप में, पिटाई को शिक्षा में अनिवार्य तौर पर स्वीकृति देकर, बच्चों पर उसकी क्रूरता और मन के मनोवैज्ञानिक प्रभावों की ओर भी संकेत किया गया है। विद्यालय के तत्कालीन तौर-तरीकों की पुलिस के तौर-तरीकों से तुलना करके जैसे लेखक अपनी इसी पीड़ा को स्वर देना चाहता है जिसके विरोध में कभी उसने कानूनी संरक्षण और कार्यवाही की सीमा तक जाकर सोचा था। अपने इसी आस-पास के जगत की अनुभूत सच्चाइयों को, गहरी पहचान से उभरी अनेक पात्रों की अन्तरंग दुनिया और उनकी जीती जागती भाषा अनेक विध उतार-चढ़ाव को पकड़ने और सहेजने की हौंस ने ही वस्तुतः रामदरश मिश्र को लेखक बनने की दिशा में प्रेरित किया। साहित्य के प्रति अपने आकर्षण पर वे टिप्पणी करते हुए लिखते हैं: "मेरे लिए साहित्य एक सचेत अवस्था में पूरी तैयारी के साथ किया गया सफर नहीं था बल्कि बचपन की अबोध अवस्था में ही उपजा हुआ एक अज्ञात बेचैनी था जिसे आस-पास का जगत उत्तेजित करता लगता था…" (वही, पृ० ४०) इस आस-पास के जीवन में यदि एक ओर क्रूर अध्यापक के रूप में पं० रामचन्द्र त्रिपाठी थे तो कहीं मां-बाप और भाइयों का स्नेहपूर्ण संरक्षण और जीवन की सहजता से उपजी भावुकता थी। युवा खवास मोहना के प्रसंग में सामन्ती जीवन-मूल्यों के प्रतीक पुरुष बच्चा बाबू की उदारता और क्रूरता के दोनों छोरों को वे देखते हैं। अपनी सुहागरात के दिन मोहना के देर से आने के कारण जहां वे लाल-पीले होकर लात-घूंसां से उसकी पिटाई करते हैं वहीं उसके बाप को, आये हुए पाहुनों के लिए कटहल और आलू ले जाने के साथ ही दुलहिन से मोहना की पत्नी के लिए साड़ी ले जाने को भी कहते हैं जो उन्होंने निकाल कर रखी है। इसी सामंती निरंकुशता और स्वाधीनता आंदोलन की अनुगूंजों के साथ गांव में प्रवेश करते नये प्रभावों के बीच लेखक मिट्टी और आदमी के सम्बन्ध की अपनी पहचान गहरी करता दिखाई देता है। स्वदेशी आंदोलन के सन्दर्भ में गाये जाने वाले लोकगीत, भिखारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठाकुर का 'विदेशिया' नशाखोरी के विरुद्ध खेला गया नाटक 'पियवा नराजइ' जो विदूषक की सारी भोंडी भंगिमाओं के बावजूद नशेड़ी पति से विनय करती पत्नी की पीड़ा से झकझोरता था। सूर प्रसाद मिसिर, वृषभान मिश्र, भिरखूचाचा, कल्लूभाई, बेंचू, सुखराम और सुखदेई फुआ जैसे लोग, जिनमें से कुछ के मात्र किस्से प्रचलित थे और कुछ सन्देह उपस्थित थे, अपने ग्रामीण स्वाभिमान, सहजता और बतकही से ग्राम जीवन धारा के विष को चूसकर संजीवन रस डालने का काम करते हैं। अपनी उपस्थिति से ग्राम जीवन के प्रति जो ललक ये लोग पैदा करते हैं उसे आज केवल स्मृतियों में ही दोहराया जा सकता है। आज के कामकाजी और अर्थोपार्जन में लगे लोगों के लिए ये निकम्मे, निठल्ले और किसी सीमा तक अपनी मानवीय उदारता के कारण मूर्ख तक लग सकते हैं लेकिन लेखक उन्हें भिन्न दृष्टि से देखे जाने के आग्रह को दोहराता हुआ लिखता है: "कामकाजी लोगों की निगाह में गप्पें और इनकी स्पर्धा में चाहे जितनी नाचीज़ रही हों मुझे लगता है कि ये गांव के जीवन में एक सहज और निश्छल आनन्द का स्रोत बहाती थीं, उसकी अभावमय जिन्दगी में प्राण-वत्ता फूंकती थीं। ये लोग संचय के पीछे नहीं पड़े थे बल्कि अपने भीतर के जीवन को चारों ओर बांटने को ही अपनी सार्थकता समझते थे। तब भी कमासुत लोग थे बाद में तो और भी बड़े कमासुत लोग आये। चारों ओर की जिन्दगी से हल पूर्वक रस सोखकर अपने में बन्द किए चलते रहे और लायक कहाते रहे लेकिन आज मुझे वे क्यों नहीं याद आ रहे हैं? क्यों ये सारे के सारे अवधूत वसन्त के फूलों की तरह मेरी यादों के जंगल में उतरा आये हैं।" (वही, पृ० १०२) और फिर स्वयं ही अपने इस प्रश्न का उत्तर देता हुआ वह लिखता: "लोग इनके बहकपन पर हंसते थे, मैं भी हंसता था, लेकिन मुझे अब लगता है कि अपनी दयनीयता दिखाने की अपेक्षा अपने को भरापूरा दिखाना जीवन जीने का सही तरीका है। दयनीयता दिखाकर लोग औरों की दया जीतना चाहते हैं। भरापूरापन दिखाकर आदमी दया को ठुकराता है और अपने स्वाभिमान को गहरा करता है। वह औरों का मनोरंजन करता हुआ भी कहीं गहरे जीवन-मूल्यों से जुड़ा होता है···" (वही)

रामदरश मिश्र को आत्मकथा का दूसरा खंड 'रोशनी की पगडण्डियां' है जिसकी प्रकृति की ओर संकेत करते हुए उन्होंने भूमिका में लिखा है 'शिक्षा प्राप्ति मेरे लिए राजमार्ग पर सीधा सफर नहीं रही है बल्कि वह छोटी-छोटी पगडंडियों की यात्रा रही है। मेरे सामने कोई निश्चित लक्ष्य नहीं था। छोटी-छोटी पढ़ाई करता गया और एक पढ़ाई का अंत अगली पढ़ाई की पगडण्डी की ओर इशारा कर देता रहा। इस तरह हिन्दू विश्वविद्यालय में आने तक मैं छोटे-छोटे लक्ष्य बनाता और उनके छोटे-छोटे पथों पर चलता रहा···" ('रोशनी की पगडंडियां', भूमिका, पृ० ६)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गांव से निकलकर पहली बार एक किशोर के रूप में लेखक ढरसी के स्कूल में प्रवेश लेता है जहाँ उसके लिए संभावनाओं का अनन्त विस्तार खुला दिखाई देता है। गाँव में स्कूल के अध्यापक पं० रामचन्द्र त्रिपाठी और ढरसी में पं० रामगोपाल शुक्ल के रूप में प्राप्त आचार्य का अन्तर लेखक विस्तार से बताता है और इस प्रकार बालक के मानसिक विकास में अध्यापक की भूमिका को वह रेखांकित करना चाहता है। आचार्य रामगोपाल शुक्ल छात्रों को प्रेम और आत्मीयता के दायरे में रखकर अत्यन्त निष्ठापूर्वक शिक्षण करते थे जिसमें बाह्य अनुशासन एवं जोर-जबरदस्ती से अधिक अध्यापक तथा छात्रों के बीच आत्मीय सम्बन्धों पर अधिक जोर था। शिक्षा मन की मौज थी, एक लीक पीटना भर नहीं जिसके परिणामस्वरूप छात्रों की अभि-रुचियों एवं मानसिक विकास पर विशेष ध्यान रहता था। रामदरश मिश्र में साहित्यिक संस्कार के बीज वस्तुतः ढरसी के इन्हीं आचार्यों द्वारा पड़े जो व्यक्तिगत रूप से अनेक लेखकों से परिचित थे और पाठ्यक्रम की चिंता किए बिना छात्रों को ढेर सारी जानकारी देते रहते थे। पंडितजी स्वयं कवि थे, इसलिए छात्र कवि के रूप में लेखक से उनकी पटरी और अच्छी तरह बैठ गई।

रामदरश मिश्र की आत्मकथा के अब तक प्रकाशित इन दोनों खण्डों से एक बात स्पष्ट है। 'जहाँ मैं खड़ा हूँ' गांव के प्रति आत्मीय लगाव, पर्वों एवं प्रकृति को लेकर उद्दाम उल्लास तथा बचपन की अनेक भावाकर्षक स्मृतियों के कारण जिस सघन भाव सम्पृक्ति का प्रभाव छोड़ता है, 'रोशनी की पगडंडियाँ' वैसा नहीं कर पाता। इस खण्ड में चूंकि एक लेखक के रूप में रामदरश मिश्र के निर्माण की पृष्ठ-भूमि अंकित है, चाहे-अनचाहे वे साहित्य में अपने प्रति बरती गई कथित उपेक्षा और आत्म-सुरक्षा की ग्रंथि से ग्रसित दिखाई देते हैं। यद्यपि इस प्रवृत्ति के संकेत 'जहाँ मैं खड़ा हूं' से ही मिलने लगते हैं। अपने साथ के अन्य किशोरों की अपेक्षा स्थितियों के प्रति सुलभ लगाव के बदले अपनी ठंडी उदासीनता का उल्लेख लेखक विस्तारपूर्वक करता है। मेले-पर्वों में आई हुई लड़कियों के छेड़ने या बोली-ठिठोली की भर्त्सना ही वह नहीं करता है, वह स्त्री के प्रति अपने स्वाभाविक आकर्षण के ही नकारने में आत्मसुरक्षात्मक सजगता बरतता दिखाई देता है। इस दूसरे खंड में वह अपने कैरियर स्वभाव और उपेक्षा के प्रति अनावश्यक टिप्पणियां करता चलता है, जिनका प्रभाव कहीं भी बहुत प्रीतिकर नहीं होता। इस प्रकार की यहाँ-वहाँ से प्रस्तुत कुछ टिप्पणियां सहज ही देखी जा सकती हैं :

'मुझमें शुरू से ही संतुलन रहा है। शायद यह संतुलन मेरी शक्ति है। मैंने ये अपने को किसी भी अतिवाद की ओर बहने नहीं दिया, इसलिए कविता की पूरी महक अपने भीतर भरे हुए शैक्षिक पढ़ाई-लिखाई से अपना सम्बन्ध क्षीर्ण नहीं पड़ने दिया। (वही, पृ० २३) एक अन्य स्थल पर लिखा गया है। 'मेरा संकोची और स्वाभिमानी स्वभाव किसी से कुछ माँगने से हमेशा उदासीन रहा है (वही, पृ० २२)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रसंग में साईकिल की तरह दुनिया का कोई काम साधन पाने वाले अपने भोलेपन का उल्लेख भी लेखक करता है। वेशक, इस प्रकार की टिप्पणियां लेखक के स्वभाव से परिचित कराकर उसके रचना-ससार में सहज प्रवेश का अवसर मुहैया करा सकती हैं लेकिन अपने को लेकर उसकी यह आत्मसुरक्षात्मक पेशबंदी आत्म-कथा की अनौपचारिकता को क्षति पहुँचाती हैं। पहले उद्धरण में जिस संतुलन का उल्लेख, अपने संदर्भ में, रामदरश मिश्र करते हैं वह संतुलन सांसारिक जीवन में बहुत उपयोगी होते हुए भी—जैसा कि मलयज ने रामचन्द्र शुक्ल की सीमाओं के संदर्भ में लिखा है—रचना के स्तर पर मीडियाक्रिटी को ही संरक्षण देता है क्योंकि सर्जनात्मक प्रतिभा का निर्माण संतुलन से न होकर, संतुलन के अतिक्रमण और आत्यन्तिक बीहड़ प्रदेश में जोखिमपूर्ण यात्रा से ही होता है। इसी तरह, आगे चल कर, काशी, हिंदू विश्वविद्यालय में, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी के छात्र के रूप में अपने संकोची स्वभाव पर टिप्पणी करते हुए अपने और नामवर सिंह के जिस अन्तर का संकेत वे देते हैं उसमें भी अपने को डिफेंड करने की ध्वनि बहुत स्पष्ट है। नामवर जी एम० ए० द्वितीय वर्ष में थे। उनका उनसे (द्विवेदी जी से) पहले से ही सम्बन्ध था; अतः वे तो द्विवेदी जी के आते ही उनके निकट हो गये थे। मैं उनका विद्यार्थी था, किन्तु अपने स्वभाव के कारण उनकी निकटता नहीं पा सका था। मुझे किसी के निकट हो लेने की कला ही नहीं आती, हां धीरे-धीरे समय के प्रवाह में अपने आप किसी के निकट हो लूं तो बात और है...' (वही, पृ० १८९) अन्तर्मुखी स्वभाव के कारण यह कथित संकोच अस्वाभाविक नहीं है लेकिन बार-बार उसका उल्लेख करके सांसारिकता की दृष्टि से अपने को बमभोले नाथ की तरह प्रस्तुत करने की मुद्रा रचना को प्रभावित अवश्य करती है क्योंकि स्वयं अपने पर की गई ये टिप्पणियां अपने को बचाकर दूसरों पर कुछ कहने वताने के उद्देश्य से ही अधिक निर्दिष्ट होती हैं। द्विवेदी जी की शिष्य-परम्परा में आज कई लोग प्रतिष्ठित लेखक हैं। उनके मन में, आपसी सम्बन्धों को लेकर, छात्र जीवन से ही अनेक गांठें पड़ी और वनी रही हैं। उनकी प्रतिध्वनि साहित्य में भी आसानी से देखी जा सकती है। लेकिन रामदरश मिश्र ने इस संदर्भ में पर्याप्त संयम से काम लिया है। वे चाहते तो इन प्रसंगों में बहुत आसानी से अपने पुराने खाते ठीक कर सकते थे, लेकिन भरसक उन्होंने ऐसा नहीं किया है। कारण जो भी रहे हों, शिव प्रसाद सिंह की तरह रामदरश मिश्र से नामवर सिंह के सम्बन्ध बहुत ठीक-ठाक नहीं रहे हैं। इसका कुछ संकेत रामदरश मिश्र की उल्लिखित टिप्पणी से भी मिल जाता है। लेकिन फिर भी नामवर सिंह के बारे में लिखते हुए वे बहुत खुलकर इस द्वेष या विरोध को अभिव्यक्त नहीं करते हैं। इनके और अपने बारे में तुलनात्मक टित्पणी करते हुए रामदरश मिश्र लिखते हैं : नामवर जी का यह परिचय मुझे लगातार मिलता रहा। इन्हें बाहर से उद्विग्न कम देखा। जब वे नौकरी में नहीं थे और उन पर लगातार प्रहार हो रहे थे, तब भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्हें बाहर से उत्तेजित नहीं देखा। ऐसा नहीं है कि वे उद्विग्न या उत्तेजित नहीं होते होंगे, होते होंगे, लेकिन या तो उसे पी जाते हैं या फिर गिने-चुने लोगों के सामने ही उसे खोलते हैं। किन्तु मैं बाहर-भीतर में दूरी बनाये नहीं रख पाता। मैं भावुक हूं और मेरी भावुकता मेरे व्यवहार में झलकती रहती है। भावुकता रूमानियत के रूप में देखी-सुनी जाती है। यानी जो भावुक है वह रूमानी, किन्तु मैं इसे मान नहीं पाता। रूमानियत एक दृष्टि है जो अंततोगत्वा वस्तुगत सत्य पर आत्मगत सत्य को तरजीह देती है। भावुकता भीतर के वेग को दमित न करके बाहर झलकने देने की छूट का नाम है···नामवर जी वास्तव में क्या हैं इसे मैं क्या पूरा हिन्दी संसार अभी तक ठीक से नहीं जान सका, किन्तु उनका सहपाठी और साथी होने के कारण इतना जरूर जानता हूं कि वे बाहर से चाहे जितने वस्तुवादी हों, भीतर से वे भाववादी हैं। यही उनकी सबसे बड़ी शक्ति है, और यही उनकी विडंबना भी···' (वही, पृ० १६८) इस उद्धरण के उल्लेख का उद्देश्य नामवरसिंह का कोई बचाव प्रस्तुत करना न होकर सिर्फ रामदरश की इस पुरानी गांठ की ओर संकेत करना है और अपनी टिप्पणी के रूप में इसमें सिर्फ इतना और जोड़ना है कि यदि चाहते तो रामदरश मिश्र और भी कटुता से काम ले सकते थे, जो वे नहीं लेते, और पुरानी पृष्ठभूमि के कारण वह शायद बहुत अस्वाभाविक भी नहीं होता। अपने संदर्भ में जिस सन्तुलन का उल्लेख उन्होंने किया है उसका उदाहरण इस प्रकार की टिप्पणियों में अवश्य मिल जाता है। वे विवादों से बचकर चलते हैं और साहित्य तथा निजी जीवन दोनों में अनुभूतियों की जटिलता का मार्ग न पकड़कर भावुकता एवं सरलीकरण को पसन्द करते हैं।

रामदरश मिश्र की आत्मकथा का दूसरा खंड 'रोशनी की पगडंडियाँ' उनके रचना-संघर्ष और तैयारी के काल से सम्बद्ध है। गाँव छोड़कर क्रमशः बड़ी दुनिया में शामिल होने वाले ग्रामीण किशोर और युवा मन की प्रतिक्रियाओं को उन्होंने सहजता से अंकित किया है। ढरसी, बरहज, कुंभ-यात्रा और अन्ततः वाराणसी के उनके अनुभव उनकी विकास-यात्रा को आत्मीय ढंग से प्रस्तुत करते हैं। कविता और साहित्य के प्रति बढ़ती अभिरुचि, कवि-सम्मेलनों के माध्यम से लेखकों एवं कवियों से परिचय का बढ़ता हुआ दायरा और साहित्य की दुनिया में कुछ कर पाने की महत्वाकांक्षा का बीजारोपण इसी काल में होता है। अपने अनेक समकालीन कवियों पर उन्होंने टिप्पणी की है। त्रिलोचन, सुमन, नरेश मेहता और शंभूनाथ सिंह आदि से परिचय के साथ ही विश्वविद्यालय की हलचल भरी दुनिया का चित्र भी यहाँ उपस्थित है। लेकिन इस दुनिया के सारे सम्मोहन के बावजूद घर और गांव भी छूटे नहीं हैं। बीच-बीच में गाँव आने पर उसका आत्मीय संस्पर्श जीवन में जैसे नया उत्साह भर देता है। किशोरावस्था पार होते ही विवाह, शीतला, बाढ़ और ऐसे ही अनेक अनुभवों-प्रसंगों के बीच समय की गति को पकड़ने का प्रयास अपनी सहजता में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकर्षक है। अल्पकाल में ही पत्नी की मृत्यु के बाद आगे चलकर अपनी पसन्द की पढ़ी-लिखी सुरुचि सम्पन्न युवती से दूसरा विवाह और स्वतंत्र भारत के प्रथम आम चुनाव में निर्दलीय सदस्य के रूप में विधान सभा के चुनाव के पर्चे के खारिज होने के साथ यह खण्ड समाप्त होता है। चुनाव न लड़ पाने के बावजूद चुनाव का महत्व लेखक इस दृष्टि से आँकता है कि इस बहाने उसे अपने सुविस्तृत चुनाव क्षेत्र में घूम-फिरकर वहाँ की जनता को निकट से देखने और उनकी समस्याओं को जानने-समझने का मौका मिला।

रामदरश मिश्र की आत्मकथा किसी युगनिर्माता लेखक या राजनयिक की आत्मकथा नहीं है। उसका सारा महत्व उसकी साधारणता में है। अपनी आत्मकथा के इन दोनों खण्डों में रामदरश मिश्र अपने परिवेश से अपने आत्मीय एवं प्रगाढ़ सम्बन्ध को पर्याप्त रागात्मक ढंग से खोल पाने में सफल हुए हैं। इस सम्बन्ध में कहीं-कहीं थोड़ा सरलीकरण और भावुकता हो सकती है लेकिन प्रगाढ़ता और रागात्मकता के बीच इस भावुकता और सरलीकरण से ही रामदरश मिश्र की एक विशिष्ट पहचान बनती है। यही उनकी शक्ति है और यही उनकी सीमा भी है। यह आत्मकथा उनकी रचना-स्रोतों को उद्घाटित करके उनके सृजन के नेपथ्य को तीखी रोशनी के बीच मंच पर ले आती है। यह आत्मकथा, अपने अपूर्ण रूप में भी, साहित्य के प्रति उनके रचनात्मक सरोकारों को स्पष्ट करने के साथ ही उसके प्रति हमारी समझ को समृद्ध करने में भी सहायता करती है।

———————

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि की यात्रा : तना हुआ इन्द्रधनुष

स्मिता मिश्र

'तना हुआ इन्द्रधनुष' कवि, कथाकार और समीक्षक रामदरश मिश्र की ताजा प्रकाशित कृति है। इस कृति में मिश्र जी की उत्तरी कोरिया, चीन और रूस के यात्रा-संस्मरण हैं किंतु केंद्र में उत्तरी कोरिया की यात्रा ही है। वहाँ की सांस्कृतिक संस्था 'जूचे अकादमी' के निमंत्रण पर मिश्रजी उत्तरी कोरिया गये तथा वहाँ की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक गतिविधियों को देखा तथा इस पुस्तक में उसका चित्रण किया। साथ ही साथ कम्युनिस्ट शासन वाले देश चीन और रूस की भी परिवर्तनशील स्थितियों की पहचान की।

मिश्रजी गहन संवेदना के रचनाकार हैं। वे परिवेश में रमते चलते हैं इसलिए उनकी सवेदना इकहरी नहीं होती है बल्कि बहुत सघन और बहुआयामी यथार्थ से जुड़ी होती है। इस पुस्तक में भी मिश्रजी की यह विशेषता विद्यमान है। पुस्तक के शीर्षक से ही संकेत मिलता है कि लेखक उत्तरी कोरिया की शक्ति और सौंदर्य के तनाव से उत्पन्न यथार्थ की पहचान कर रहा है। उत्तरी-कोरिया इंद्रधनुष है जो सौन्दर्य के अनेकानेक रंगों से भरा-पुरा है किन्तु यह इन्द्रधनुष तना हुआ है। यह तनाव उसकी शक्ति और ऊर्जा का द्योतक है। लेखक इस देश के इसी द्वंद्वात्मक अनुभव से आद्योपांत गुजरा है। लेखक ने अपनी यात्रा मात्र का वर्णन नहीं किया है बल्कि उत्तरी कोरिया की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक गतिविधियों की पहचान भी प्रस्तुत की है। साथ ही दूसरे देशों के माध्यम से अपने देश पर दृष्टि डालना भी लेखक का लक्ष्य रहा है। इसीलिए पुस्तक में स्थान-स्थान पर लेखकीय टिप्पणियों द्वारा उत्तरी-कोरिया और भारत के अनुभवों को परस्पर ताना गया है।

देश का विभाजन एक त्रासद स्थिति है। लेखक हिंदुस्तान-पाकिस्तान के रूप में यह स्थिति झेल चुका है इसलिये कोरिया विभाजन की विसंगति और पीड़ा को वह बहुत गहराई से अनुभव करता है। यहाँ लेखक एक बहुत महत्वपूर्ण बात उठाता है कि बंटवारा चाहे भारत का रहा हो या फिर कोरिया का, इसके मूल में राजनेताओं

१. रामदरश मिश्र, तना हुआ इन्द्रधनुष, साहित्य सहकार दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का स्वार्थ रहा है। विभाजन के बावजूद दोनों देशों की जनता एक दूसरे के लिए प्यार अनुभव करती है। उस पर विभाजन जबर्दस्ती थोपा गया है। मिश्र जी का मन कोरियाई जनता की पीड़ा से एकाकार हो उठता है और वे साम्राज्यवादी तथा पूंजीवादी नीति वाले देश अमेरिका की चौधराहट पर अपना आक्रोश व्यक्त किये बिना नहीं रहते—"देश दूसरे का है और चौधरी बने घूमते हैं ये उन्मादी देश। कोई इनसे पूछे—आप हैं कौन, दूसरे के घर का बंदर-बाँट करने वाले और उनके घरेलू सिद्धांतों और आचरणों का फैसला करने वाले ?"

मिश्रजी मूलतः समाजवादी चिंतन के रचनाकार हैं किंतु यह चिंतन रूस और चीन से नहीं बल्कि राष्ट्रीयता और मानवीयता की अपनी जमीन से जुड़ा हुआ है। अतः लेखक अनेक स्थलों पर खासकर चीन-यात्रा के प्रसंग में उन तथाकथित कम्युनिस्टों पर व्यंग्य करता है जो चीन और रूस को आदर्श मानते हैं। लेखक मार्क्सवाद से प्रभावित है किन्तु वह साम्यवादी यांत्रिकता का विरोध करता है। लेखक का मानना है कि उपयोगिता पर ही बात खत्म नहीं होती, सौंदर्य का भी जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। अपनी इस बात को वह कम्युनिस्ट देश चीन और रूस के परिवर्तनशील स्वरूप की पहचान कराकर स्थापित करता है। चीन में लोकतंत्र स्थापना आंदोलन और रूस में ग्लासनोस्त और पेरेस्त्रोइका का पकड़ता जोर लेखक के मत की पुष्टि करता है।

उत्तरी कोरिया की यात्रा में मनुष्य के प्रति चिंता और सामाजिक राष्ट्रीय चरित्र की ऊर्जा लेखक को हर जगह और हर क्षेत्र में दिखाई देती रही है। प्रत्येक गतिविधि या कार्यकलाप का लक्ष्य मानव जीवन को सुन्दर और उन्नत बनाना है। कोरियाई लोगों की आत्मीयता दृढ़ चारित्रिकता और शौर्य को भी लेखक रेखांकित करता है। वह कोरियाई ज़नता के युयुत्सा भाव की केंद्रीय लय से जुड़ता है। वह जनता अमेरिकी हमले के बावजूद बहादुरी और निर्भीकता से देश के कार्य में रत है। उसके लिए राष्ट्र की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है। इस संदर्भ में मिश्र जी राष्ट्रभाषा की अस्मिता का प्रश्न भी उठाते हैं तथा कोरिया और भारत के अनुभवों को तानकर भारत के उन अंग्रेजीपरस्तों पर व्यंग्य करते हैं जो बहुत बेशर्मी से अंग्रेजों की छोड़ी हुई भाषा को माथे पर ताज सा पहने हुए एक बहुत बड़ा झूठ दोहराते आ रहे हैं कि अंग्रेजी हमारे ज्ञान की खिड़की खोलती है, उसके बिना हम अज्ञानी हैं। मिश्रजी एक ओर अपनी भाषा में तने हुए, मुस्कराते हुए, जीते हुए, जागते हुए और अपनी ही भाषा के माध्यम से दुनिया भर की ज्ञान-संपदा अपनाये हुए कोरियाई जनता को देखते हैं तो दूसरी ओर अपने देश में अपनी भाषा और जड़ों से कटे हुए, पश्चिमी सभ्यता और भाषा का लालीपॉप चुभलाते हुए उन टोड़ी बच्चों की कतार पर नजर डालते हैं जो अपनी भाषा को विकृत-ढंग से बोलने और अंग्रेजी को निहायत चुस्ती और सही ढंग से बोलने में शान समझते हैं। हमारे यहाँ अंग्रेजी आधुनिकता का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर्याय मानी जाती है। उसके बगैर न साहित्य में आधुनिकता आ सकती है और न समाज में, किंतु कोरिया और अन्य समाजवादी देशों में अंग्रेजी के बिना ही यानि अपनी भाषा के ज़रिए आधुनिकता आई है।

लेखक का सामान्य जन-जीवन के प्रति लगाव इस कृति में भी दिखाई पड़ता है। लेखक को बड़े-बड़े राजनीतिक साहित्यिक व्यक्तियों तथा गतिविधियों की अपेक्षा सामान्य जन में शामिल होना अधिक भाता है। उसने रूस में बड़े-बड़े प्रतिष्ठित, कलाकारों, बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों से न मिलकर आम आदमी के माध्यम से ही देश को पहचानने का प्रयत्न किया। कोरिया में तो लेखक सरकार का अतिथि था। वहाँ वे दृश्य, वे स्थान और वे लोग दिखाये जा रहे थे जिन्हें दिखाना उस देश को अभिप्रेत था लेकिन इन सबके बीच लेखक की आँखें बराबर उस देश के खेतों, फसलों, नदियों, नामों, आते-जाते हुए सामान्य लोगों, काम करते हुए श्रमिकों, बच्चों आदि पर टिकी थीं। अपने अत्यंत व्यस्त कार्यक्रम के बावजूद वह प्रकृति से संवाद करने का समय निकाल लेता था। लाल कमलों से भरे पोखर, झरने का वेग, नदी और रेल की लाइन के बीच धान, मक्के के खेत, मेंड़ों पर कोंहड़े की लतर आदि अनेक सुन्दर दृश्यों का साक्षात्कार लेखक करता चलता है।

समग्रतः यात्रा-वर्णन की यह पुस्तक सौंदर्यात्मक अनुभव, समय-चिंतन और प्रगतिशील दृष्टि से संपन्न एक सर्जनात्मक कृति है जिससे गुजरते हुए पाठक कुछ नये तथ्यों की जानकारी भर नहीं प्राप्त करता बल्कि एक सर्जनात्मक अनुभव का सहभोक्ता होता चलता है तथा लेखक के साथ ही कुछ अहम सवालों से टकराता है।

————

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साक्षात्कार

(रचनाकार रामदरश मिश्र से डॉ० नित्यानंद तिवारी एवं डॉ० ज्ञानचन्द गुप्त की बातचीत)

प्रश्न—मिश्र जी, यह बताइये कि आपने लिखना कब शुरू किया ? क्या आप यों ही लिख रहे थे अथवा लेखन धर्म के विषय में कुछ महसूस कर रहे थे ?

उत्तर—दरअसल मैंने लिखना वहुत पहले शुरू किया । जब मैं मिडिल स्कूल में पढ़ता था । लेकिन उस अपरिपक्व अवस्था में दायित्व-बोध की बात मन में नहीं उठ सकती थी ।

प्रश्न—यानी कि आपके मन में बात आई और आपने लिखना शुरू किया ?

उत्तर—हाँ, बस ऐसे ही । मुझे बहुत बचपन से ही कुछ गीत लिखने की इच्छा होती थी । जब मैं कोई गीत सुनता था तो मेरे मन में गीत लिखने की इच्छा जाग पड़ती थी । यह कशमकश बराबर चलती रही । जब मैं दर्जा छ: में था, स्कूल के पास ही कांग्रेस का एक जलसा हुआ । तब मेरे मन में भी कुछ पंक्तियां उपज आईं और मैंने उन्हें लिख डाला ।

प्रश्न—इसका मतलब यह हुआ कि उस जमाने में जो बात तैर रही थी उसने आपको प्रभावित किया ?

उत्तर—कुछ ऐसा लगता है कि मेरे भीतर जो कविता लिखने की तड़प थी उसे सभा ने उत्तेजित किया । और इस प्रकार मेरे भीतर की तड़प और बाहर के विषय ने मिलकर एक लय बना ली ।

प्रश्न—मिश्रजी, इसका तात्पर्य यह हुआ कि दोनों ने मिलकर आपकी कविता को स्वर दिये । लेकिन इस तरह का लिखना तो स्फुरण मात्र है । इसका मतलब है कि जब से आपने क्रमिक लेखन शुरू किया तब से तो आप दायित्व महसूस कर रहे होंगे ?

उत्तर—क्रमिक लेखन तो मैंने तभी प्रारम्भ कर दिया था । बहुत दिनों तक मैं भीतर के स्फुरण से ही लिखता रहा । इसके दो कारण हैं—एक तो देहात में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य का कुछ वातावरण नहीं था जो मुझे साहित्य की समकालीन चेतना प्रदान करता, दूसरे यह कि अवस्था भी इतनी छोटी और अपरिपक्व थी कि अभी साहित्य को व्यापक और समकालीन सन्दर्भ में समझने की चेतना प्राप्त नहीं हुई थी। वास्तव में यह काम संभव हुआ सन् १९५० के आसपास, जब मुझे बनारस जाने का मौका मिला। तब समकालीन साहित्यिक वातावरण से सम्पर्क जुड़ा। लेकिन भाई, मैं आपसे यह जानना चाहूंगा कि दायित्वबोध से आपका क्या तात्पर्य है?

प्रश्न—मिश्रजी, मैं यह जानना चाहता था कि समाज, देश तो दूर की बात है, आप अपने व्यक्तित्व के विकास और उसे सार्थक बनाने में साहित्य को कब से ले रहे हैं?

उत्तर—इसका उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि आप साहित्य से क्या काम लेना चाहते हैं? यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि साहित्य व्यक्तित्व और समाज से कैसे जुड़ता है, कितना जुड़ता है और उसके विकास में क्या भूमिका निभाता है?

प्रश्न—मैं यही बात स्पष्ट कर रहा था। साहित्य व्यक्तित्व से हर वक्त जुड़ होता है। मेरी शुरू की कविताओं में भीतरी स्फुरण है। भीतरी स्फुरण से जो साहित्य लिखा गया उससे न केवल सुख मिला बल्कि अपने व्यक्तित्व को अधिक सशक्त ढंग से समझने का आधार मिला। लेकिन एक बिन्दु ऐसा आया जब साहित्य को सोचने-समझने, जीवन और जगत के साथ उसके तमाम सरोकारों को पहचानने की यात्रा शुरू हुई। जाहिर है कि यहाँ साहित्य को देखने का नजरिया बदला।

प्रश्न—मेरा प्वाइंट यही था। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आपका भीतरी व्यक्तित्व बाहरी चीजों को आत्मसात करता हुआ समृद्ध हो रहा था।

उत्तर—मैं कहना चाहूंगा कि साहित्य चिन्तन की प्रक्रिया तो बाद में शुरू हुई जिससे साहित्य में सामाजिक जीवन की भूमिका का वैचारिक विश्लेषण प्राप्त हुआ, किन्तु यह कार्य अनुभव के धरातल पर बहुत पहले शुरू हो गया था। शायद इसका कारण यह है कि एक अभावग्रस्त परिवार, क्षेत्र और कछार में जीवन जीने के कारण मेरे अनुभव सामाजिक जीवन यथार्थ से ही बने थे। इसलिए एक ओर उस कछार की प्रकृति मेरे अनुभव में समाई हुई थी, दूसरी ओर समाज। यह सच है कि एक किशोर-वय की भावुकता इस सामाजिकता के ग्रहण में दिखाई पड़ती है जो बाद में साहित्यिक चिन्तन के उभरने के बाद धीरे-धीरे कम होती गई।

प्रश्न मिश्रजी, क्या आप मानते हैं कि ऐतिहासिक स्तर पर युग के मन की कोई आन्तरिकता होती है और कवि उसे वैयक्तिक भाव का ही विषय बनाकर लिख सकता है? मैं यह भी कहना चाहता हूं कि आप नये कवियों में महत्वपूर्ण रहे हैं, क्या यह भावुकता वैयक्तिक थी या ऐतिहासिक सन्दर्भों के कारण थी?

उत्तर—मैं निश्चित ही यह मानता हूं कि ऐतिहासिक स्तर पर युग के मन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक आन्तरिकता होती है। इसका तात्पर्य यही है कि एक विशेष समय में युग-मन कुछ विशेष प्रकार की अनुभूतियों, सांस्कृतिक बदलाव की बैचेनियों और सम्बन्ध तथा मूल्यगत बदलाव की आहटों से है और कवि का यह रचनात्मक धर्म होता है कि उसे पहचाने और अभिव्यक्ति दे। तभी रचना एक ओर इतिहास का दोहराव न बनकर इतिहास का अगला अध्याय बनती है और दूसरी ओर वह शाश्वत अर्मूतताओं से होकर मूर्तता प्राप्त करती है, जो उसे समय के एक दायरे से निकालकर समय के विस्तार में स्थापित करती है। युग-मन की इस आन्तरिकता को व्यक्तिगत भाव बनाकर ही गहराई से व्यक्त किया जा सकता है। वास्तव में कविता बिम्ब रचती है और शुक्लजी के शब्दों में बिम्ब जब होगा तो व्यक्ति विशेष का ही होगा। अर्थात युगमन की आन्तरिकता को अपनी आन्तरिकता बनाकर ही व्यक्त किया जा सकता है। जहां ऐसा नहीं होता वहां आन्तरिकता की, या युग की आन्तरिकता के कुछ धर्मों और विशेषताओं की सूची पेश कर दी जाती है। प्रगतिवाद और नयी कविता को लेकर यह अन्तर समझा जा सकता है। चिन्तन के स्तर पर प्रगतिवाद ने युगमन की आन्तरिकता की सही पहचान की थी किन्तु उसके रचनाकार उस आन्तरिकता को अपनी आन्तरिकता न बना सके। उसे एक दर्शन की तरह पेश करते रहे। नई कविता के कवियों ने आजादी के बाद के भारत की मानसिकता को केवल पहचाना ही नहीं विभिन्न परिवेशों के माध्यम से उसे जिया भी और एक तरह से उसे आत्मसात किया। इसलिए नई कविता अनुभव के स्तर पर युग मन की आन्तरिकता को अधिक रचनात्मक रूप में प्रस्तुत करती हुई दिखाई पड़ती है। उसकी भावुकता भी, समय की भावुकता थी। अर्थात् समाज में प्राप्त होती हुई क्रूर स्थितियों और मनःस्थितियों के बावजूद भविष्य के प्रति एक सपना था, भावुक तरलता थी और उसी का प्रतिबिम्ब नई कविता में दिखाई पड़ता है। अब यों तो अलग-अलग कवियों के स्तर पर कविता की भावुकता की मात्रा घटती बढ़ती रहती है।

प्रश्न—मिश्रजी, कवि युग की भावुकता को अपना विषय बना सकता है या दृष्टिकोण को?

उत्तर—वह भावुकता को ही विषय बना सकता है।

प्रश्न—कहानी में व्यक्ति, परिवार और संस्थायें होती हैं एवं उनकी टकराहटें होती हैं जो भावनाओं को ठेलकर जीवन के यथार्थ को अधिक अनिवार्य बना देती हैं। क्या आप ऐसा महसूस करते हैं कि कथा-साहित्य में यथार्थ और यथार्थवादी दृष्टिकोण की अपेक्षाकृत अधिक संभावना है?

उत्तर—प्रश्न के स्पष्टीकरण में आपने जो प्रश्न किया वह कुछ और हो गया। मैं आपकी बात से पूरी तरह सहमत हूं कि कविता की अपेक्षा कथा-साहित्य में यथार्थ के चित्रित होने की संभावना अधिक रहती है। कारण यह है कि कविता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की यात्रा हमारे जाने-पहचाने आसपास के समाज के तमाम गली कूंचों से नहीं होती। वह सामाजिक यथार्थ को आधार बनाकर उससे ऊपर उठ जाती है और वस्तु जगत की अपेक्षा भाव जगत में अधिक विचरण करती है और ज्यों-ज्यों वस्तु जगत और भाव जगत का रिश्ता क्षीण होता है, त्यों-त्यों कविता अमूर्त होती चली जाती है। कथा-साहित्य में कथा किसी न किसी रूप में आधार बनी रहती है और कथा केवल अपनी नहीं होती कथा हमें हमसे बाहर समाज की ओर ले जाती है और समाज अपने किसी बिन्दु पर टिका नहीं होता उसे बनाने वाले तमाम लोगों के आपसी रिश्ते, साहचर्य, टकराहटें, स्थितियाँ और मनःस्थितियाँ होती हैं। और निश्चित रूप से आधुनिक कथा-साहित्य समाज के जटिल यथार्थ की ही कहानी कहता है इसलिए वहाँ अधिक ठोस और मूर्त लगता है। बहुत अमूर्त होने की कोशिश करने वाली कहानियाँ भी अमूर्त कविताओं की अपेक्षा ठोस हैं क्योंकि उनमें कहीं न कहीं कथा का अंश बचा रहता है।

प्रश्न—मिश्रजी, आप अपने लेखन के सन्दर्भ में इसे जरा और स्पष्ट करें ?

उत्तर—देखिए, मैंने लेखन की शुरूआत कविता से की थी और धीरे-धीरे कहानी और उपन्यास की ओर अग्रसर हुआ। यों कविताएँ अभी भी लिख रहा हूं। इसकी वजह शायद यही है कि मेरे भीतर जो अपना बड़ा परिवेश समाया हुआ था वह केवल कविता के माध्यम से रूप पाने में असमर्थ हो रहा था। मैंने शुरू में कुछ सामाजिक अभावमूलक लंबी कविताएं लिखीं जो परिवेशगत यथार्थ के दबाव की सूचक हैं। लेकिन लगता है कि यह परिवेशगत दबाव मुझे कहानी और फिर उपन्यास की ओर धकेल ले गया। और मुझे ऐसा लगता है कि कहानी, उससे बढ़कर उपन्यास और उससे बढ़कर बड़े उपन्यास की रचना में सामाजिक तथार्थ को मूर्तता करने में जो तृप्ति मिलती है वह कविता के माध्यम से नहीं मिलती। कविता की तृप्ति और किस्म की होती है।

प्रश्न—कविता की तृप्ति क्या लय की मांग है ? और जिस समाज में लय नहीं है उसमें कविता लय की छटपटाहट के लिए तो लिखी जा सकती है लेकिन लय में तो नहीं लिखी जा सकती। क्या अपनी आन्तरिक प्रकृति के कारण आज के समाज में वह अभिव्यक्ति का अपर्याप्त माध्यम है और कथा-साहित्य विषम समाज में ही अपना रचनात्मक स्वरूप प्राप्त करता है और इसलिए आज की वास्तविकता को चित्रित करने के लिए अधिक पर्याप्त माध्यम है।

उत्तर--एक शब्द में इसका उत्तर हाँ हो सकता है।

प्रश्न—आपने अपनी कहानियों में कविता के तत्वों का इस्तेमाल किया है, क्या आप इसे कहानी में कविता की घुसपैठ कहेंगे ?

उत्तर—देखिये, मैंने अपनी अनेक कहानियों में कविता के तत्वों का प्रयोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया है और मैंने ही क्यों, मुझ से पहले के मनोवैज्ञनिक कहानीकारों ने और मेरे समय के अनेक कहानीकारों ने यह काम किया है। अब सवाल यह है कि ऐसा करना क्या कहानी के लिये हितकर है ? कविता ने कहानी में घुसपैठ तो की है लेकिन यह घुसपैठ अनधिकार चेष्टा के रूप में न होकर उसकी रचनात्मक मांग के रूप में है। कविता का कहानी में प्रयोग दो कारणों से हुआ है। एक तो इसलिए कि कहानीकार को किसी कहानी का स्वभाव कुछ काव्यात्मक लगा दूसरे धीरे-धीरे कहानीकारों ने वर्णन करने की पद्धति का त्यागकर बिम्बों और प्रतीकों के जरिये कथ्य को अभिव्यक्त करना चाहा। देखिये न, कहानी के दौर में कहानी का कथ्य सीधा नहीं रह गया था। वह बहु आयामी हो गया और उस बहुआयामी कथ्य को केवल कथा के जरिये नहीं उभारा जा सकता। उसे ध्वनित करने के लिए मैंने और मेरी तरह के अनेक लेखकों ने कहीं बिम्बों का, कहीं प्रतीकों का, कहीं फैन्टेसीं का, कहीं लोक-कथाओं और लोक-गीतों का सहारा लिया और ये सभी कविता के ही उपकरण हैं। यहाँ तक कि लोककथाओं जैसे कथात्मक उपकरणों का उपयोग भी कविता के रूप में किया गया। उदाहरण के लिए 'तीसरी कसम' (रेणु) ली जा सकती है। मेरी कुछ कहानियों का कथ्य ऐसा है जिसे कविता के तत्व के इस्तेमाल के बिना कहा ही नहीं जा सकता जैसे—'सीमा' 'बादलों भरा एक दिन'। लेकिन मेरी सामाजिक चेतना वाली कहानियों में भी बीच-बीच में एक विशेष प्रकार का प्रभाव पैदा करने के लिए कविता का प्रयोग किया गया है और उससे कहानी को बहुत बल मिला है, जैसे—'मां सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो' में अकाल के दृश्य का विधान बिम्बों के जरिये किया गया है। चाहे यहाँ से वहाँ तक जमीन में दरारें पड़ने का दृश्य हो, चाहे गांव में होने वाली मौतों का दृश्य हो, चाहे बाजार में भनभनाते हुए सन्नाटे के बीच बकरा कटने का दृश्य हो, ये सभी काव्यात्मक उपकरणों से नियोजित किए गए हैं। हाँ, चाहे कहानियाँ मेरी हों, या किसी और की, जहाँ कविता भावुकता की स्फीति का पर्याय बनकर आती है वहाँ वह कहानी के कथ्य के घनत्व और यथार्थ-दृष्टि दोनों को धुंधलाती है। दरअसल आज के जमाने में घुसपैठ का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि शिल्प बड़ी तेजी के साथ अपनी बनी मर्यादायें तोड़ते हुए कथ्य के अनुसार नया रूप लेते चले गए, और इस प्रक्रिया में साहित्य की सभी विधाएं अनिवार्य रूप से एक दूसरे में से गुजरती दिखाई पड़ती हैं।

प्रश्न—क्या आज की कविताओं में लोग कहानी का इस्तेमाल कर रहे हैं तथा क्या इससे कविता समृद्धि पाती है। रघुवीर सहाय ने इस तरह के काफी प्रयोग किए हैं ?

उत्तर—एक समय था जब प्रबन्ध काव्य में कविता और कहानी एक दूसरे से जुड़े हुए थे, लेकिन धीरे-धीरे यह बात खत्म होती गई। स्वाधीनता के बाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो प्रबन्धात्मक काव्य लिखे गए उनमें कथा तत्व विघटित होकर आने लगा और ऐसा लगा कि अब एक सुघटित कथा पर आधारित रचना ही संभव नहीं रही। और प्रवन्धेतर काव्यों का ही बोलबाला हुआ लेकिन इस दौर के प्रवन्धेतर काव्यों में मुक्तिबोध की लम्बी कविताएं भी हैं जो खंडित रूप में कथात्मक तत्व को बनाए हुए चलती रही हैं। और जब मुक्तिबोध पर आलोचकों की दृष्टि केन्द्रित हो गई तो उन्हें उन लंबी कविताओं का महत्त्व मालूम पड़ने लगा जो कथात्मक तत्वों के माध्यम से सामाजिक यथार्थ के अनेक पक्षों से जुड़ने की कोशिश करती रहीं और उसी क्रम में बहुत सी लंबी कविताएं लिखी गईं, जो खंडरूप में कथा सूत्रों का इस्तेमाल कर विघटित समाज के अस्त-व्यस्त यथार्थ को रूपायित करने की कोशिश में लगी दिखाई पड़ती हैं। कथा के इस्तेमाल का एक दूसरा पहलू भी है जो रघुवीर सहाय की 'रामदास' जैसी कई कविताओं में दिखाई पड़ता है इसमें सामान्य आदमी की सामान्य जिन्दगी की एक छोटी सी कथा कही गई है और इस तरह एक कथा बिम्ब के जरिए देश के सामान्य आदमी की विडम्बना उद्घाटित की गई है। यह एक प्रयोग है और प्रयोग के रूप में ही अच्छा लगता है।

प्रश्न – सामान्य आदमी, औसत आदमी या औसत जिन्दगी जैसे पद बहुत प्रचलित हुए, क्या कहानियों में जो 'मीडियाक्रिटी' है, उसको छिपाने के लिए कहा गया या औसत आदमी की पीड़ा में ज्यादा सृजनात्मक संभावनाओं को देखा या पाया गया? समानान्तर कहानी में इस बात को कमलेश्वर ने बहुत उछाला, आपका इसके बारे में क्या मत है?

उत्तर—सृजनात्मक संभावना वाली बात अपनी जगह सही है। वह इसीलिए कि रचना में उसी जीवन का विधान करने से शक्ति आती है जिसे हम जानते हैं, जिसका हम अनुभव करते हैं। कथा-साहित्य का जन्म ही शायद सामान्य जीवन यथार्थ का विधान करने के लिए हुआ था। लेखक प्रायः समाज के सामान्य तपके से ही आते हैं और उसी तपके के यथार्थ का अनुभव उनको होता है, इसलिए उस जीवन के यथार्थ का विधान करने से ही उनकी कहानी शक्ति पाती है। नई कहानी की शक्ति का रहस्य यही है। लेकिन यह भी सही है कि इधर समानान्तर आन्दोलन जैसे कुछ आन्दोलनों ने सामान्य या औसत आदमी से तात्पर्य उस तथाकथित छोटे वर्गों के पीड़ित और दलित लोगों से लिया है जिनके साथ उनका कोई सरोकार नहीं है यानी जिनके जीवन संघर्षों का उन्हें कोई अनुभव नहीं है। निश्चय ही इन लोगों ने एक नारे के रूप में औसत आदमी का इस्तेमाल किया है और चाहे वह औसत आदमी हो, चाहे ऊँचा आदमी हो, यदि वह कहानीकार के अनुभव क्षेत्र के बाहर होता है तो वह कहानी को या किसी भी रचना को एक नारे की आवाज तो दे सकता है, रचनात्मक शक्ति का ताप नहीं, और यह भी सही है कि इधर के बहुत से कहानीकारों ने अपनी 'मीडियोक्रेसी' को छुपाने के लिए औसत आदमी शब्द का इस्तेमाल किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न—आलोचना जगत में आलोचकों के नए-नए फतवों एवं गुटबन्दी से एक अराजकता सी पैदा हो गई है। क्या आप इसके मूल में सर्जनात्मक दबावों की भी कोई अनिवार्यता महसूस करते हैं? आप ऐसी स्थिति में कथात्मक कृतियों को पहचानने के लिए कौन से प्रतिमान सही सोचते हैं?

उत्तर—दरअसल अराजकता गुटबन्दी के कारण पैदा हुई है। सर्जनात्मक प्रयोगों से जो अराजकता पैदा होती है, वह एक नई खोज की बेचैनी लिए होती है और वह अपनी ताक़त का संकेत देती रहती है। सर्जनात्मक प्रयोगों से सम्बन्धित आलोचना भी दो प्रकार की होती है—एक वह जो हर प्रयोग की भंगिमा को आत्यन्तिक महत्व दे देती है, और एक वह होती है जो प्रयोगों के भीतर से उभरती हुई नई रचनात्मक शक्तियों पर अपनी दृष्टि रखती है। इसलिए ऐसा होता है कि जब प्रयोगात्मक कृतियां रचनात्मक उपलब्धियाँ भी प्राप्त कर लेती हैं तो उन पर आधारित समीक्षायें भी शक्तिमान दिखाई पड़ने लगती हैं। अराजकता बुनियादी नहीं होती क्योंकि अंततोगत्वा अच्छा समीक्षक इनमें भी अच्छी रचना के बुनियादी गुण ही ढूंढ़ता है। हाँ, कुछ दिनों तक एक खोज की प्रक्रिया में कुछ अस्थिरता जरूर दिखाई पड़ती है। इसलिए यदि हम वर्तमान समीक्षा के इतिहास को देखें तो पायेंगे कि नया प्रयोग लेकर आने वाले 'शेखर एक जीवनी', 'मैला आंचल' जैसे समर्थ उपन्यासों पर आधारित आलोचनाएं कथा-समीक्षा को एक नई दिशा ही नहीं, एक शक्ति भी देती हैं। लेकिन सेक्स की विकृतियों के उद्‌घाटन के नाम पर आने वाले अनेक नये प्रयोगात्मक छोटे-छोटे उपन्यास केंचुए की तरह रेंगते दिखाई पड़ते हैं और उन्हें महत्व देने वाली समीक्षाएं समीक्षा को क्या दे सकती हैं? यह स्पष्ट है। रचना चाहे पारम्परिक सी हो, चाहे नए प्रयोगों वाली, अच्छी समीक्षा कृतियों में जीवन की बुनियादी सच्चाइयों की सघन बनावट और बुनावट ही खोजती है। वह वहीं रचना की ताक़त देखती है, यही आलोचना का बुनियादी मापदण्ड हो सकता है।

प्रश्न—आपने जब बुनियाद की बात चलाई है तो आप यह बताइये कि भारतीय जीवन के बुनियादी अंतर्विरोध क्या अभी भी गाँव में अंतर्निहित है? क्या पूरे भारतीय साहित्य में जिन उपन्यासों को उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया जाता है, वे गांव की जिन्दगी पर लिखे हुए नहीं है? क्या बुनियादी रचनात्मक शक्ति वहीं से पाई जा सकती है?

उत्तर—मैं आपकी बात से सहमत हूं। इसमें मुझे दो बातें कहनी हैं—एक तो यह कि गाँव अभी भी भारतीय जीवन यथार्थ के प्रतिनिधि हैं क्योंकि नगर विशेषतया महानगर भारतीय जीवन की जड़ों से अनिवार्य रूप से जुड़े हुए नहीं हैं, इसलिए चाहे अतीत और वर्तमान का अंतर्विरोध हो, चाहे वर्गों का अन्तर्विरोध हो, चाहे जातियों का अन्तर्विरोध हो, चाहे व्यक्ति के भीतर का अन्तर्विरोध हो, जितना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गाँव में दिखाई पड़ता है उतना नगरों में नहीं। गाँव का अन्तर्विरोध अवधारणात्मक नहीं है, वह ठोस सन्दर्भों से मूर्त होता रहता है, इसलिए भारतीय जीवन यथार्थ की सही और गहरी पहचान गाँव के संदर्भ में ही हो सकती है। दूसरी बात मैं रचनाकार के सन्दर्भ में कहना चाहता हूं; वह यह कि गांव का कथाकार गाँव की जिन्दगी को आरपार जीकर गांव के और गांव के माध्यम से इस देश के बुनियादी यथार्थ को पहचान लेता है, उसे अपने अनुभव में उतार लेता है।

प्रश्न—क्या आपने 'अपने लोग' उपन्यास में जनार्दन के चरित्र की कल्पना इसी ख्याल से की है ?

उत्तर—हाँ, इसी ख्याल से की है, क्योंकि मेरा यह अनुभव रहा है कि धरती से जुड़े हुए दर्शन मार्क्सवाद के अनुयायी अपने को शहर के दायरे में बन्द कर लेते हैं और केवल अवधारणा के स्तर पर जीते हैं और वे धरती के उस यथार्थ को पहचान नहीं पाते जो दरअसल हमारा यथार्थ है जिसकी पहचान में मार्क्सवादी दृष्टि बहुत सहायक हो सकती है। मैंने जनार्दन को गाँव की धरती से क्रियात्मक रूप से जोड़कर यह कहना चाहा है कि इस देश के यथार्थ को गाँव से बाहर नहीं देखा जा सकता और यथार्थ से जुड़ना एक क्रिया है, केवल विचार नहीं।

प्रश्न—आपने अपनी तमाम कृतियों में अभिशप्त जिन्दगी की जोरदार अभिव्यक्ति की है, लेकिन क्या कारण है कि कुछ प्रगतिशील साथी या तो मंचों पर आपकी कृतियों का उल्लेख ही नहीं करते या फिर बड़ी दबी जवान से करते हैं ? क्या साहित्य के लिए भी कोई राजनीतिक बिल्ला धारण करना आवश्यक है ?

उत्तर—नहीं करते या दबी जबान में क्यों करते हैं, ये तो वे जानें और बिल्ला भी उन्हीं को मुबारक हो।

प्रश्न—लेकिन क्या इसका कारण यह नहीं है कि सतीश (जल टूटता हुआ) और प्रमोद (अपने लोग) आदर्शवादी संकल्पनाओं में अधिक उभरते हैं ?

दरअसल सतीश और प्रमोद को आदर्शवादी कहने के स्थान पर मूल्यवादी कहना अधिक संगत होगा। आदर्शवादी शब्द कहीं न कहीं यथार्थ से कटाव की ध्वनि देता है जबकि दोनों ही पात्र अपने परिवेश को झेलते हैं। बेचैन होते हैं, परेशान होते हैं, टकराते हैं, अभावों को महसूस करते हैं लेकिन वे अपने व्यक्तित्व और सामाजिक व्यक्तित्व दोनों के प्रति एक मूल्यवादी रवैया अख्तियार करते हैं। मेरी यह कोशिश रही है कि ये मूल्यवादी स्वर यथार्थ की पूरी कशमकश के भीतर से उभरें, कितने उभर सके हैं, यह मैं नहीं कह सकता। अपने रचनाकार के पक्ष में इतना कहना जरूर चाहूंगा कि वह मानवीय मूल्यों में एक बुनियादी आस्था रखता है और इसे वह रचना में ध्वनित करना चाहता है। सतीश और प्रमोद इसी के परिणाम हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न—लेकिन 'सड़क' कहानी में चन्द्रभान पाण्डे की खद्दर की धोती जब तब जगह-जगह से दरकती है तो लगता है कि धोती नहीं मूल्य और मानवीय अनुभव के सार्थक मन दरकते हैं, वैसी मार्मिक ट्रेजेडी का स्तर क्या सतीश और प्रमोद उभार पाते हैं ?

उत्तर—दोनों के स्तर अलग-अलग हैं। 'सड़क' कहानी में चन्द्रभान पाण्डे के माध्यम से मूल्य और अनुभव के सार्थक नहीं, बल्कि निरर्थक हो चुके स्तर दरकते हैं। वह एक छूटती हुई चीज को पकड़े रहना चाहता है और वह छूटती हुई चीज मूल्य नहीं है बल्कि वर्तमान सन्दर्भ में मूल्यहीनता है और कहानी चन्द्रभान पाण्डे को इस स्थिति से निकालकर नवीन सन्दर्भों में बनते हुए मूल्यों की ओर ढकेलती है। कहानी के अन्त में चन्द्रभान के टूटने की एक पीड़ा तो है लेकिन एक निरर्थक मूल्य के टूटने पर एक नयी संभावना पैदा होती है। किन्तु सतीश और प्रमोद शुरू से ही जिस सामाजिक निर्माण से अपने आपको जोड़ते हैं, वह नया है और उसके टूटने का कोई सवाल नहीं है। वे समाज की विसंगतियों को झेलते हुए, उनके प्रभाव ग्रहण करते हुए भी उसकी मूल्य चेतना से जुड़े रहते हैं और इसी दिशा में वे अपनी चरम परिणति प्राप्त करते हैं। त्रासदी का एक स्वर इनमें भी है, किन्तु यह स्वर 'सड़क' के स्वर से भिन्न है।

प्रश्न—मिश्र जी, क्या आप अपने जीवन में आये किन्हीं संकटों का उल्लेख करना चाहेंगे, जिन्होंने आपके व्यक्तित्व और रचना के लिए ताकत दी हो ?

उत्तर—संकट तो मेरे जन्म से ही शुरू हुआ था। कहते हैं जब मैं पैदा हुआ तो प्रसूतिग्रह में लाल चीटों ने घेर लिया था। एकाएक पड़ौस की एक बुआ की नजर पड़ी तो वे लेकर भागीं। वैसे पूरा बचपन ही आर्थिक संकट में बीता और आर्थिक संकट के जितने भी त्रासद आयाम हो सकते हैं सभी मैंने झेले। लेकिन इससे बड़ी बात यह है कि आर्थिक संकट केवल मेरे परिवार का नहीं था पूरे जवार का था और पूरे गुलाम देश का था। इस संकट ने मुझे बहुत गहरे अनुभव दिये। इस अनुभव के जरिये ही मैं अपने पूरे परिवेश और देश से जुड़ सका। और सच पूछिये तो मेरी सारी रचनाओं की शक्ति इस आर्थिक संकट से उपजा हुआ अनुभव और सामाजिक दृष्टि ही है।

प्रश्न—क्या आप यह अनुभव करते हैं कि हिन्दुस्तानी आदमी की नियति इन सामाजिक, आर्थिक समस्याओं से झूझकर और परिवर्तित करके ही परिभाषित होगी ? हिन्दुस्तानी समाज मानव नियति के विषय में दार्शनिक नहीं, आर्थिक सामाजिक समस्याओं से गुजर रहा है, इसलिए वास्तविक रचनात्मक उत्तेजना यहीं से पाई जा सकती है। आपके इस बारे में क्या विचार हैं ?

उत्तर—आपका प्रश्न अपने आप में एक उत्तर भी है और मैं इसके साथ हूं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न—मिश्रजी, आपकी रचनाओं में राजनीतिक सन्दर्भ पर्याप्त मिलते हैं। क्या आप राजनीति को जीवन अनुभव और रचना में अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ पाते हैं।

उत्तर—रचना के दो क्षेत्र कहे जा सकते हैं। एक क्षेत्र वह है जहाँ रचनाकार का केवल अन्तरंग पक्ष प्रधान होता है अर्थात् जहाँ परिवार या प्रकृति के संदर्भ में उपजे हुए उसके सौन्दर्यानुभव व्यक्त होते हैं। निश्चित रूप से राजनीति को ऐसे अनुभवों में घसीटना संगत नहीं लगता। मेरी बहुत सी कविताएँ एवं कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें ये अनुभव रूपायित हैं। दूसरा क्षेत्र सामाजिक यथार्थ का होता है जहाँ समाज के अनेक सम्बन्ध, अनेक प्रश्न, अनेक समस्यायें और मूल्य बोध परस्पर गुँथे हुए हैं और यह सच है कि आज राजनीति भले और बुरे दोनों ही रूपों में सामाजिक निर्माण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। इसलिए राजनीति की पहचान किए वगैर सामाजिक यथार्थ की पहचान संभव नहीं रह गई हैं। लेकिन रचनाकार राजनीति की पहचान रचनाकार की हैसियत से भी कर सकता है और एक दलगत दृष्टि से भी। दलगत दृष्टि एक दार्शनिक दृष्टि नहीं रह जाती है। उसमें दल की बहुत सी व्यावहारिक सीमायें और स्वार्थ चेतना भर आती है। इसलिए मैं और मेरे जैसे रचनाकार समाज और राजनीति की पहचान के लिए मार्क्सवाद का सहारा तो लेते हैं लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी का नहीं इसीलिए राजनीति की पहचान की प्रक्रिया में सारे ही दलों की व्यावहारिक गलाजत मेरी निगाह में होती है और इसीलिए मैंने 'अपने लोग' 'आकाश की छत' में क्रमशः प्रमोद और जगत की कल्पना ऐसे कम्युनिस्टों के रूप में की है जो सही अर्थों में मार्क्सवाद के दर्शन को समझते हैं और क्रियान्वित करना चाहते हैं। वे पार्टी की अपेक्षा जनता से जुड़े हुए हैं। ऐसे पात्रों के माध्यम से ही मैं राजनीति की शक्तियों और मूल्यों को उभारना चाहता हूं लेकिन सच्चाई यह है कि शहर से लेकर गांव तक राजनीति अपना कुत्सित रूप दिखा रही है। नेता आम जनता के कन्धे पर चढ़कर ऊपर उठते हैं और उन्हें भूल जाते हैं। 'दवा की तलाश', 'तुमने कहा था' 'लौट आया हूं मेरे देश' 'गठरी' आदि कविताएं इसी विसंगति को उभारती हैं।

प्रश्न—राजनीतिक संगठन और संस्थाओं की अपनी सीमाएं हैं लेकिन परिवर्तन इन संस्थाओं के बिना असंभव है। मनुष्य का विकास संस्थाबद्धता में ही हुआ है। वर्तमान राजनीतिक संगठन चाहे कितने भी अमानवीय हों लेकिन उनके बिना मानव जीवन को बदला नहीं जा सकता। क्या आप एक 'डाइलेमा' के रूप में राजनीतिक संस्था और विचार धारा को अपने लेखन में या लेखन मात्र के लिए अनिवार्य समझते हैं ?

उत्तर—संस्थायें मानव विकास में निश्चित ही सहायक होती हैं लेकिन प्रायः यह देखा गया है कि तमाम रूढ़ और निरर्थक जीवन पद्धतियों के विरुद्ध कोई व्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही खड़ा हुआ है। यह बात और है कि वह अपने भीतर एक संस्था की सी शक्ति लिए होता है। लड़ाई कबीर ने की, गांधी ने की, मार्क्स ने की, बुद्ध ने की, दयानन्द सरस्वती ने की, राममोहन राय ने की और फिर इन चिन्तकों के पीछे एक संस्था बनी। संस्थाओं ने कुछ दूर तक इनके विचारों को क्रियान्वित किया और जल्दी ही रूढ़ हो गईं। इसलिए यह भी दिखाई पड़ता है कि हर संस्था का केन्द्र बिन्दु एक बड़ा व्यक्ति होता है। वर्तमान सन्दर्भों में यह सही है कि हम राजनीति की सड़ांध के शिकार भी हो सकते हैं और सड़ांध से राजनीति को उबार भी सकते हैं। मैं यह भी मानता हूं कि इस सड़ांध के मूल में दल के कुछ प्रभावशाली व्यक्ति हैं और दल का उद्धार भी तभी होगा जब कुछ प्रभावशाली व्यक्तित्व उभरें जो दलीय स्वार्थों से प्रतिबद्ध न होकर दल को मानवीय स्तर पर एक वृहत्तर मानवीय हित से जोड़ें। सम्प्रति दलगत राजनीति की सड़ांध ही अधिक दिखाई पड़ती है। इसलिए एक यथार्थवादी रचनाकार की हैसियत से उसकी पहचान एक प्राथमिक कार्य है लेकिन मैं प्रगतिशील राजनीतिक दलों की संभावना के सपने भी देखता हूं। ये सपने ही सूचित करते हैं कि मैं दलगत राजनीति के एक सुन्दर रूप को सामाजिक प्रगति के लिए अनिवार्य मानता हूं। दरअसल जनार्दन और जगत जैसे पात्र ही इस स्वप्न को चरितार्थ करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन और रचना कर्म

गोरखपुर जिले के कछार-अंचल के एक गाँव डुमरी में एक मध्यवर्गीय परिवार १५ अगस्त १९२४ (श्रावण पूर्णिमा, गुरुवार) को जन्म।

पिता का नाम : रामचन्द्र मिश्र

माता का नाम : कंवल पाती

भाषा : मिडिल स्कूल तक गाँव के पास के स्कूल में। विशेष योग्यता गाँव से दस मील दूर के गाँव डरसी के स्कूल में।
विशारद, साहित्यरत्न बरहज के राष्ट्र भाषा महाविद्यालय में। हाई स्कूल (एडमिशन परीक्षा) बनारस के एक प्राइवेट स्कूल में। इण्टर से लेकर पी-एच० डी० तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में।

अध्यापन : १९५६ में शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने के बाद गुजरात चले गए और वहाँ साल भर बड़ौदा के एम०एस० विश्वविद्यालय में पढ़ने के पश्चात् गुजरात विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हो गए। इस क्रम में सेंट जेवियर कालेज अहमदाबाद तथा एस०वी० गार्डी कालिज नवसारी में पढ़ाया। १९६४ में दिल्ली विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हो गए और १९६४ से ६९ तक पी०जी० डी०ए०वी० कॉलेज दिल्ली में पढ़ाने के बाद दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में आ गए। सम्प्रति वहीं प्रोफेसर के रूप में कार्य कर रहे हैं।

साहित्य : कवि, उपन्यासकार, कहानीकार, आलोचक और निबन्धकार। कविता लिखने की रुचि बचपन में ही पैदा हो गई थी। सारे सर्जनात्मक लेखन में अपने कछार-अंचल की धरती की पकड़ है।

उपन्यास : पानी के प्राचीर (१९६१) हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी।
(१९८६) द्वितीय संस्करण, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।
जल टूटता हुआ (१९६९) हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी।
(१९७८) द्वितीय संस्करण नेशनल प०हा० दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीच का समय (१९७०) राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
सूखता हुआ तालाब (१९७२) नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
अपने लोग (१९७६) नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
रात का सफर (१९७६) राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
(१९८७) द्वितीय संस्करण इन्द्रप्रस्थ प्र०, दिल्ली।
आकाश की छत (१९७९) वाणी प्रकाशन, दिल्ली।
आदिम राग (१९८२) (बीच का समय का नया नाम) वाणी-प्रकाशन, दिल्ली।
दूसरा घर (१९८६) वाणी प्रकाशन, दिल्ली।

कहानी संग्रह : खाली घर (१९६८) ज्ञान भारती प्रकाशन, दिल्ली।
एक वह (१९७४) नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
दिनचर्या (१९७९) नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
सर्पदंश (१९८२) पराग प्रकाशन, दिल्ली।
बसंत का एक दिन (१९८२) प्रभात प्रकाशन, दिल्ली।
इकसठ कहानियाँ (१९८४) प्रभात प्रकाशन, दिल्ली।

कविता संग्रह : पथ के गीत (१९५१) राजेन्द्र एण्ड ब्रदर्स, बलिया।
बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ (१९६२) आस्था प्रकाशन, अहमदाबाद।
पक गई है धूप (१९६९) भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
कंधे पर सूरज (१९७७) राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
दिन एक नदी बन गया (१९८४) नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
मेरे प्रियगीत (१९८५) ऋषभचरण जैन एवं सन्तति, दिल्ली।
जुलूस कहाँ जा रहा है ? (१९८९) प्रभात प्रकाशन, दिल्ली।

गजल संग्रह : बाजार को निकले हैं लोग (१९८६) विकास पेपर बैंक, दिल्ली।

ललित निबन्ध संग्रह : कितने बजे हैं (१९८२) प्रभात प्रकाशन दिल्ली।

आत्मकथा : जहाँ मैं खड़ा हूं (१९८४) किताब घर, दिल्ली।
रोशनी की पगडंडियाँ (१९८६) किताब घर, दिल्ली।
टूटते बनते दिन (१९९०) किताब घर, दिल्ली।

यात्रावृत : तना हुआ इन्द्रधनुष (१९९०) साहित्य सहकार, दिल्ली।

आलोचना : हिन्दी आलोचना का इतिहास, (१९६०) हिन्दू वि०वि० बनारस।
साहित्य संदर्भ और मूल्य (१९६१) एस० चाँद एण्ड कं०, दिल्ली।
ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा (१९६४) ,, ,,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा (१९६८) राजकमल प्र० दिल्ली।

हिन्दी समीक्षा : स्वरूप और संदर्भ (१९७४) मैकमिलन एंड कं० दिल्ली।

आज का हिन्दी साहित्य संवेदना और दृष्टि (१९७५) अभिनव प्रकाशन, दिल्ली।

हिन्दी कहानी : अंतरंग पहचान (१९७७) नेशनल प०हा०, दिल्ली।

हिन्दी कविता : आधुनिक आयाम (१९७८) (द्वि०सं०) वाणी प्रकाशन, दिल्ली।

छायावाद का रचनालोक (१९८१) (द्व०सं०) ज्ञान प्र०, दिल्ली।

आधुनिक हिन्दी कविता : सर्जनात्मक संदर्भ (१९८६) इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन दिल्ली।

स्थायी पता : आर ३८, वाणी विहार, उत्तम नगर, दिल्ली-११००५४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

96818

पुस्तकालय गु० का० वि०
पुस्तकालय
हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL KANGRI LIBRARY
Accession 28/3/91
Class on
Cat on
Tag etc
Checked
Any Other 5/9/90

EAR 25.9.90

ARCHIVES DATA BASE
2011 - 12

Recommended By.........

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संपादक

डॉ० नित्यानंद तिवारी : दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में रीडर। 'मध्ययुगीन रोमांचक आख्यान', 'आधुनिक साहित्य और इतिहास बोध' तथा 'साहित्य का स्वरूप' के लेखक

डॉ० ज्ञान चन्द गुप्त : दिल्ली विश्वविद्यालय के रामजस कालेज में हिन्दी के वरिष्ठ प्राध्यापक कवि, कहानीकार और आलोचक। 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम-चेतना', 'आंचलिक उपन्यास संवेदना और शिल्प' के लेखक तथा 'कथाकार प्रेमचन्द' 'हिन्दी के आंचलिक उपन्यास' के संपादक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Radha Publications
4378/4B, Ansari Road, Darya Ganj,
New Delhi-110002
Phone : 3261839 Resi. : 732848

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar